



2814

श्री देवेन्द्र सूरी-विरचित
 'षडशीति'-अपरनामक
 कर्मग्रन्थ भाग-चार

(आचार्य सम्राट् पूज्य श्री १००८ श्री आनन्द ऋषि जी महाराज
 की ७५वीं वीक्षा जयन्ती पर प्रकाशित)

विवचक—

पं० सुरवत्ताल जी संघवी
 भूतपूर्व प्रोफेसर—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

प्रकाशकः—

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षा समिति,
 बडोद (मेरठ) २५० ६११

प्रकाशकीय

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये हमें परम हर्ष का अनुभव हो रहा है क्योंकि काफी लम्बे समय से यह कर्मग्रन्थ माला जिसके व्याख्याकार श्रद्धेय श्री प० श्री सुखलास जी संघवी हैं, उपलब्ध नहीं हो रही थी इस कमी को पूरी करने के लिये हमारी संस्था ने कर्मग्रन्थ के सम्पूर्ण ६ ही भागों को प्रकाशित करने का निश्चय किया। तदुपरान्त अनेक सहयोगी बंधुओं के सहयोग से इस गुरुत्तर कार्य को पूर्ण भी किया ताकि कर्म सिद्धान्तों के ज्ञान पिपासुओं की तृप्ति हो सके।

प्रस्तुत चौथा कर्मग्रन्थ जो तीसरे कर्म ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् पढ़ना अनिवार्य हो जाता है और इसके पढ़ने के पश्चात् पंचसंग्रह व कम्मपयड्डी आदि ग्रन्थों को समझना सरल हो जाता है इसके प्रकाशन के लिये हम श्री बद्धमान जैन पोलीक्लीनिक, बड़ौत के पदाधिकारी व सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। जिन्होंने परम श्रद्धेय आचार्य सम्भाट पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की ८८वीं जन्म जयन्ती के पावन अवसर पर इस पुस्तक का सम्पूर्ण व्यय अपने ऊपर लेकर प्रकाशित कराया और अपनी श्रद्धा आचार्य देव के प्रति प्रस्तुत करी।

इस चौथे कर्मग्रन्थ के प्रकाशन में भी श्री वकील चन्द जी जैन कोषाध्यक्ष की प्रेरणा मुख्य कारण है। उन्होंने इस ग्रन्थ को छपवाने व प्रकाशन कराने में भी अधिक परिश्रम कर धर्म याचना का परिचय दिया है।

काफी समय पश्चात् प्रकाशन होने व मूल सहित्य के उपलब्ध न होने के कारण मुद्रण में अशुद्धियां रहना सम्भव है इसके लिए क्षमा प्रार्थी है आगामी संस्करण हेतु त्रुटियों के सुधार एवं सुझाव सदैव आमन्त्रित है।

घन्यवाद सहित

दिनीत :

कैलाश चन्द जैन

अध्यक्ष

श्री बद्धमान स्था० जैन धार्मिक शिक्षा समिति

बड़ौत (मेरठ) 250611

प्रस्तावना का विषयक्रम ।



विषय ।	पृष्ठ ।
नाम	१
संगति	२
प्राचीन और नवीन असुर्थ कर्मग्रन्थ	३
चौथा कर्मग्रन्थ और आगम पंचसंग्रह तथा गोस्मटसार	४
विषय-प्रवेश	६
गुणस्थानका विशेष स्वरूप	१०
दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनका साम्य	३२
योग सम्बन्धी विचार	४५
योगके भेद और उनका आधार	४८
योगके उपाय और गुणस्थानों में योगावतार	४९
पूर्व सेवा आदि शस्त्रों की व्याख्या	५२
योगजन्य विभूतियाँ	५३
गुणस्थान जैसा बौद्ध शास्त्रगत विचार	५३



विषयानुक्रमिका ।

विषय ।	पृष्ठ ।
मङ्गल और विषय	१
जीवस्थान आदि विषयों की व्याख्या	३
विषयों के क्रम का अभिप्राय	७
[१] जीवस्थान-अधिकार	६
जीवस्थान	६
जीवस्थानों में गुणस्थान	११
जीवस्थानों में योग	१५
जीवस्थानों में उपयोग	२०
जीवस्थानों में लेश्या-वन्ध आदि	२४
प्रथमाधिकार के परिशिष्ट	३३
परिशिष्ट "क"	३३
परिशिष्ट "ख"	३६
परिशिष्ट "ग"	३८
परिशिष्ट "घ"	४०
परिशिष्ट "ङ"	४३
परिशिष्ट "च"	४५
[२] मार्गणास्थान-अधिकार	४७
मार्गणाके मूल भेद	४७
मार्गणाओं की व्याख्या	४७
मार्गणास्थानके भेदान्तर भेद	५१

विषय

सतिमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५२
हृदयमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५३
कश्यपमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	—	५२
योगमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५२
वेदमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५३
कषायमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५५
ज्ञानमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५६
संयममार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५७
वर्जितमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	५२
विद्यामार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	६३
मध्यस्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	६५
सम्पत्स्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	६५
संज्ञामार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	६७
मार्गणाओं में जीवस्थान	...	...	६८
आहारमार्गणा के भेदों का स्वरूप	...	...	६८
मार्गणाओं में गुणस्थान	...	...	८०
मार्गणाओं में योग	...	...	८०
सन्धोयोग के भेदों का स्वरूप	—	...	८०
वचनयोग के भेदों का स्वरूप	...	...	—
काययोग के भेदों का स्वरूप	...	...	८२
मार्गणाओं में योग का विचार	...	...	८४
मार्गणाओं में उपयोग	...	...	१०५
मार्गणाओं में लक्षणा	...	...	११४
मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व	...	...	११५
सतिमार्गणा का अल्प-बहुत्व	...	...	११५

विषय	पृष्ठ
इन्द्रिय और काय-मार्गणा का अल्प-बहुत्व	१२२
योग और वेद-मार्गणा का अल्प-बहुत्व	१२४
कषाय, ज्ञान संयम और दर्शन-मार्गणा का अल्प-बहुत्व	१२५
लेख्या आदि पांच मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व	१२८
द्वितीयाधिकार के परिशिष्ट	१३४
परिशिष्ट "अ"	१३४
परिशिष्ट "इ"	१३६
परिशिष्ट "उ"	१४१
परिशिष्ट "ए"	१४३
परिशिष्ट "ऊ"	१४६
परिशिष्ट "द्व"	१४८
परिशिष्ट "त"	१४९
परिशिष्ट "थ"	१५४
परिशिष्ट "द"	१५५
परिशिष्ट "ध"	१५७
[३] गुणस्थान के अधिकार	१६१
गुणस्थानों में जीवस्थान	१६१
गुणस्थानों में योग	१६३
गुणस्थानों में उपयोग	१६७
सिद्धान्त के कुछ महत्त्व	१६८
गुणस्थानों में लेख्या तथा बन्ध-हेतु	१७२
बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद तथा गुणस्थानों में मूल बन्ध-हेतु	१७५
एक सौ बीस प्रकृतियों के यथा संभव मूल बन्ध-हेतु	१७६

गुणस्थानों में उत्तर पञ्चहेतुओं का सामान्य तथा विशेष वर्णन					१८१
गुणस्थानों में बन्ध	...	...	...	...	— १८७
गुणस्थानों में सत्ता तथा उदय	...	...	...	...	१८८
गुणस्थानों में उदीरणा	...	...	...	...	१८०
गुणस्थानों में अल्प बहुत्व	...	...	...	...	१८२
सह भाव और उनके भेद	...	...	...	...	१८६
कर्म के और वर्मास्तिकाय आदि अजीव प्रस्थों के भाव					२०४
गुणस्थानों में मूल भाव	...	...	...	...	२०६
संख्या का विचार	...	...	...	...	२०८
संख्या के भेद—प्रमेद	...	...	...	...	२०८
संख्या के तीन भेदों का स्वरूप	...	...	...	...	२०९
पत्त्यों के नाम तथा प्रमाण	...	...	...	...	२१०
पत्त्यों के भरने आदि की विधि	...	...	...	...	२१२
सर्वप-परिपूर्ण पत्त्यों का उपयोग	...	...	...	...	२१७
असंख्यात और अनन्त का स्वरूप	...	...	...	...	२१८
असंख्यात तथा अनन्त के भेदों के विषय में कामेश्वरिचक मत					२२१
तृतीयाधिकार के परिशिष्ट	...	...	...	...	२२७
परिशिष्ट "प"	...	...	...	...	२२७
परिशिष्ट "फ"	...	...	...	...	२२८
परिशिष्ट "ब"	...	...	...	...	२३१
परिशिष्ट नं० १	...	...	...	...	२३३
परिशिष्ट नं० २	...	...	...	...	२३८
परिशिष्ट नं० ३	...	...	...	...	२४०



चौथा कर्मग्रन्थ मूल ।



- नमियजिणं जिअमग्गण, - गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
 बंधप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥
- इह सुहुमवायरेणि, दिवित्तिचउअसंनिसंतिपंचिदी ।
 अपजत्ता पज्जत्ता, कमेण च उदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥
- चायरअसंतिविगले, अपज्जि पढमविय संनि अपजत्ते ।
 अजयजुअ संनि पज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥
- अपजत्तच्छक्कि कम्मुर, लमोसजोगा अपज्जसंणीसु ।
 ते सविउवमीस एसु तणुपज्जेसु उरलमन्ते ॥ ४ ॥
- सव्वे संनि पजत्ते, उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।
 वायरि सविउट्ठिदुगं, पजसंनिसु बार उवओगा ॥ ५ ॥
- पजचउरिदिअसंनिसु, व्दंस द् अनान वससु चक्खुविणा
 संनिअपज्जे मणना, - णच्चक्खुकेवलदुगविहुणा ॥ ६ ॥
- संनिदुसै छलेसअप, - ज्जवायरे पढम अउ ति सेसेसु ।
 सत्तट्ठ अश्रुदीरण, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७ ॥
- सत्तट्ठच्छेगाबंधा, संतुदया सत्तअट्ठत्तारि ।
 सत्तट्ठछपंचदुगं, उदीरणा संनिपज्जत्ते ॥ ८ ॥
- गइइंदि ए य काये, जो ए वे ए कसायनाणेसु ।
 संजमवंसणलेसा, - भवसम्मे संनिआहारे ॥ ९ ॥

- सुरनरतिरिनिरयगई, इगबिद्यतिपञ्चउपणिवि छक्काया ।
 भूजलजलणानिलवण, तसा य मणवणतणुओगा ॥१०॥
- वेय नरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ ति ।
 मइमुयवहिमणकेवल -विहंगमइसुअअनाण सागारा ॥११॥
- सामाइछेयपरिहा, रसुइमअहज्जायवेसजयअजया ।
 चक्खुअचक्खुओही, -केवलदंरण अणागारा ॥ १२ ॥
- किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क मन्विचरा ।
 वेयगल्लइगुवसममि, -चद्धमीससासाण संनियरे ॥१३॥
- अहारेयर मेया, सुरनरयविभगमइसुओहिदुगे ।
 सम्मत्ततिगे पम्हा, -सुक्कासओसु मसिदुगं ॥१४॥
- तमसंअपज्जजुगं, -नरे सवायरअपज्ज तेऊए ।
 थावर इगिदि पढमा, चउ बार असन्ति दुदुविगले ॥१५॥
- दस चरम तसे अजया, -हारगतिरितणुकसायदुअनाणे ।
 पढमतिनेवाभवियर, -अचक्खुनपुमिच्छि सव्वे वि ॥१६॥
- पजसओ केवलदुग, -संजयमणनाणवेसमणमीसे ।
 पण चरमपज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुमि ॥१७॥
- थीनरपणिदि चरभा, चउ अणहारे दु सन्ति छ अपज्जा ।
 ते सुइमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥
- एणतिरि चउ सुरनरए, नरसंनिपणिविभव्वतसि सव्वे ।
 इगविगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतसअभव्वे ॥ १९ ॥
- देयतिकसाय नव दस, लोभेचउ अजय वुत्ति अनाणत्तिगे ।
 बारस अचक्खु चक्खुसु, पढमा अहत्ताइ चरम चउ ॥२०॥

- मणनाणि सग जयाई, समइयछेउ चउ दुन्ति परिहारे ।
 केवलदुगि दो चरमा, जयाइ नव मइ सुओहिदुगे ॥२१॥
- अउ उवरुमि चउ बेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
 सुहुमे थ सठाणं तेर.—उ जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥
- अरुसन्निमु पढमदुगं, पढमतिसेतामु छ चउ दुसु सत्त ।
 पढमतिदुगअजया, अणहारे मग्गणांमु गुणा ॥२३॥
- सच्चयरसीसअस,—चचमीसमणवइविउव्वियाहारा ।
 उरलं सीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥ २४॥
- नरगइपणिदित्तसत्तणु—अचक्खुनरत्तपुकसायसंदुमने ।
 सन्तिछलेसाहारग,—भवमइसुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥
- तिरिइत्थिअजयसासण,—अनाणउवसमअभव्वमिज्जेसु ।
 तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥
- कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पक्खणे ।
 छ असंभि चरसवइजुय, ते विउव्वदुगुण चउ विगले ॥२७॥
- कम्मुरलमीसविणु मण,—वइसमइयछेयचक्खुमणनाणे ।
 उरलदुगकम्माढमं,—सिममणवइ केवलदुगंमि ॥ २८ ॥
- मणवइउरला परिहा,—रिसुहुमि नवते उमीसि सविउव्वया ।
 देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमीस अहखाए ॥२९॥
- सिअनाण नाण पण चउ, वंसण वार जियलक्खणुवओगा ।
 विणु मणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥
- तसजोयवेयसुक्का,—हारनरपणिदिसंनिभवि सव्वे ।
 नयणेयरपणलेसा,—कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥

अउरिबिअसंति दुअना,- णदंसण इगिबित्तिथावरि अचक्खु ।
 तिअनाण वंसणदुगं,- अनाणात्तिगअभावि सिअदुगं ॥ ३२ ॥
 केवलदुगे नियदुगं, नव तिअनाण विणु खइय अहस्साये ।
 वंसणनाणत्तिगं वे,-सि मोसि अन्नाणमोसं तं ॥ ३३ ॥
 मणनाणक्खवज्जुअ, अणहारि तिप्पि वंसण चउ नाणा ।
 अउनाणसंजमोवस,-मवेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥
 दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्टु दू चउ चउ अयणे ।
 अउ दु पण तिप्पि काये, जियगुणजोगोअओगंने ॥ ३५ ॥
 छसु लेसासु सठाणं, एगिदिअसंतिभुदगवणेसु ।
 पडमा चउरो तिप्पि उ, नारयविगलणिपवणेसु ॥ ३६ ॥
 अहस्सायसुहुमकेवल,- दुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।
 नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखणंतगुणा ॥ ३७ ॥
 पणअउतिदुएगिदि, थोवा तिप्पिअहिवा अणंतगुणा ।
 तस थोव असंखग्गी, भूजलानिल अहिवा वण णंत ॥ ३८ ॥
 मणअवणकायजोगा, थोवा असंखगुण अणंतगुणा ।
 पुरिसा थोवा इत्थो संखगुणाणंतगुण कोवा ॥ ३९ ॥
 माणी कोहो माई, लोही अहिवा मणनाणिणो थोवा ।
 ओहि असंखा मइसुय, अहिवासम असंख विअभंगा ॥ ४० ॥
 केवलिणो णंतगुणा, मइसुयअन्नाणि णंतगुण सुत्ता ।
 सुहुसा थोवा परिहा-र संख अहस्साय संखगुणा ॥ ४१ ॥
 छेयसमईय संखा, देस असंखगुण णंतगुण अजया ।
 थोवअसंखदुणंता, ओहिअवणकेवलअचक्खू ॥ ४२ ॥

पञ्चद्विष्टेसा, थोवा दो संख णंत दो अहिया ।
 अभवियर थोवणंता, सासण थोवोवसभ संखा ॥४३॥
 मीसा संखा वेयग, असंखगुण खडधमिच्छ वु अणंता ।
 संनियर थोव णंता, -णहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥
 सव्वजियठाण मिच्छे, सग सालणि पण अपउअसन्निदुगं ।
 संभे सन्नी वुविट्ठो, सेसेसुं संनिपज्जत्तो ॥ ४५ ॥
 मिच्छवुगअजइ जोगा, -हारदुगुणा अपुव्वपणमे उ ।
 मणवइ उरलं सत्ति, -व्व मीसि स विज्जणहुए देसे ॥४६॥
 साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
 कम्मुरलदुगंताइम, -मणवयण सयोगि न अजोगी ॥४७॥
 तिअनाणबुवंसाइम, -वुगे अजइ देसि नाणवंसतिगं ।
 ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलवु अंतदुगे ॥ ४८ ॥
 सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं ।
 नेनिविस्सु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥
 छसु सव्वां तेउतिगं, इगि छसु सुव्वा अयोगि अहसेसा ।
 बंधस्स मिच्छ अविरइ, -कसायजोगत्ति च उ हेऊ ॥५०॥
 अभिगाह्यमणभिगहिया, -भिनिवसियसंसइयमणभोगं ।
 पणमिच्छ बार अविरइ, मणकरणानियमुद्धजियवहो ॥५१॥
 नव सोल कसाया पन, -र जोग इय उत्तरा उ सगव्वा ।
 इगवउपणतिगुणेषु, चउत्तिदुइगपञ्जओ बंधो ॥५२॥
 चउमिच्छमिच्छअविरइ, -पञ्चइया सायसोलपणतीसा ।
 जोग विणु तिपञ्चइया, -हारगजिणवज्जसेसाओ ॥५३॥

पणपन्न पन्न तियछहि, अचत्त गुणचत्तछचउदुगवीसा ।
 सोलस कस नव नव स, त्तहेउणा न उ अजोगिमि ॥५४॥
 पणपन्न मिच्छिहारग, दुगुण सासाणि पन्नमिच्छ विणा ।
 मिस्सकुगकमअणविणु, तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
 संदुमिस्सकम अजए, अविरइकम्मूर लमीसबिकसाये ।
 मुत्तु गुणचत्त वेसे, छवीस साहारदु पमत्त ॥५६॥
 अविरइइगारातकसा, यअज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
 चउवीस अपुक्खे पुण, कुवीस अविज्जध्वयाहारा ॥५७॥
 अछहास सोल आयरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा ।
 खोणुधसति अलोभा, सजोगि पुब्बुत्त सगजोगा ॥५८॥
 अपरमत्तंता सत्त, दू मीसअप्पुक्खवायरा सत्त ।
 बंधइ छस्सुहुमो ए, गमुवरिमा बंधगाज्जोनी ॥५९॥
 आसुहुमं संतुदये, अट्ट वि मोह विणु सत्त खीणंमि ।
 षउ चरिमदुग अट्ट उ, संते उवसति सत्तुदए ॥६०॥
 उइरंति पमत्तंता, सगट्ट मीसट्ट वेयआउ विणा ।
 छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥
 पण वो खीण वु जोगी, णुवीरगु अजोगि थोव उवसंता ।
 संखगुण खोण सुहुमा, तियट्ठिअप्पुक्ख सम अहिया ॥६२॥
 जोगिअपमत्तद्वये, संखगुणा वेससासणामीसा ।
 अविरय अजोगिमिच्छा, असंखचउरो दुवे णंता ॥६३॥
 उवसमखयमीसोवय, परिणामा दुअवट्टारइगवीसा ।
 तिय भेय सान्निवाइय संमं चरणं पढमभावे ॥६४॥

बीए केवलजुयलं, संभं दाणाइलद्धि पण चरणं ।

तइए सेतुवओगा, पण लद्धी सम्मचिरइकुगं ॥ ६५ ॥

अध्माणमसिद्धता, -संजमलेसाकसायइवेया ।

मिच्छं तुरिए भव्वा, -भव्वत्तजियत्त परिणामे ॥ ६६ ॥

अउ चउगईसु भोसग, -परिणामुदएहिं अउ सखइएहिं ।

उवसमजुएहिं वा अउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥ ६७ ॥

खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेवीए ।

इय पनर संनिवाइय, -भेया वीसं असंभविणो ॥ ६८ ॥

मोहेव समो मीसो, अउघाइसु अट्टकम्मसु च सेसा ।

धम्माइपरिणामिय, -भावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥

संमाइअउसु तिय अउ, भावा अउ पणुव सामगुवसते ।

अउ खीणापुव्व तिप्पि, सेसगुणट्ठाणगमजिए ॥ ७० ॥

संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयज्जयं तिविहं ।

एवमणंतं वि तिहा, जहन्नमज्जुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥

तहुसंखिज्जं बुच्चिय, अओ परं मज्झिम जा गुरुअं ।

जंबूद्वीवपमरणय, -अउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥

पल्लानवट्ठियसला, -ग पडिसलानामहासलायक्खा ।

जोयणसहसोयाडा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥ ७३ ॥

ता दीवुवत्तिसु इक्क -क्कसरिसवं खियिय निट्ठए पढमे ।

पढमं व तवत्तं विय पुण भरिय तंनि तह खीणे ॥ ७४ ॥

खिप्पइ सलागपल्ले, -गु सरिसवो इय सलागखयणेणं ।

पुष्पा बीयो य तओ, पुठ्ठिं वि व तमि उद्धरिए ॥ ७५ ॥

खीणे सलाग तइए, एवं पठमेहि बीययं भरसु ।
 तेहि तइयं तेहि य, तुरियं जा किर फुडा खडरो ॥७६॥
 पठमतिपल्लुद्धरिया, दीबुदही पल्लचउसरिसवा य ।
 सठवो वि एगरासी, खूणो परमसंखिज्जं ॥ ७७ ॥
 खूजुयं तु परित्ता, संखं लहु अस्स रासि अबभासे ।
 जुत्तासीखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिणामं ॥ ७८ ॥
 बित्तिचउपंचमपुण्णं, कमा सगासंख पद्धमचउसत्ता ।
 णंता ते खूजुया, भज्जा खूण गुरु पच्छा ॥ ७९ ॥
 इय सुसुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
 होइ असंखासंख लहु खूजुयं तु तं भज्जं ॥ ८० ॥
 खूणमाइम गुरु, तिवग्गिउ तं इमे वस छखेवे ।
 लोगाकासपएसा, धम्माधम्मेगजियदेसा ॥ ८१ ॥
 ठिइबंघउत्तवसाया, अणुभागा जोग्गैयपलिभागा ।
 दुण्ह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिचसु ॥ ८२ ॥
 पुणरवि तंमि तिवग्गिय, परित्तणंत लहु तस्सरामीणं ।
 अबभा से लहु जुत्ता, णंतं अभव्वजियपमाणं ॥ ८३ ॥
 सव्वग्गे पुण जायइ, णंतानंत लहु तं च तिवखुत्तो ।
 वग्गसु तह विनतंहो, इणंतखेवे खिचसु छ इमे ॥ ८४ ॥
 सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला चेव ।
 सव्वमलोगनहं पुण, तिवरिगउं केवलदुगंमि ॥ ८५ ॥
 खिस्से णंतानंतं, हवेइ जिहूं तु ववहरइ मज्झं ।
 इय सुहुमत्थविचारो, लिहिओ वेविदसूरीहि ॥ ८६ ॥

प्रस्तावना ।



नाम ।

प्रस्तुत प्रकरण की चौथा कर्मग्रन्थ' यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम षडशीतिक है । यह 'चौथा कर्मग्रन्थ' इसलिये कहा गया है कि यह कर्मग्रन्थों में इसका नम्बर चौथा है; और 'षडशीतिक' नाम इसलिये नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं । इसके सिवाय इस प्रकरण को 'सुधमार्थ विचार' भी कहते हैं, सो इसलिये कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में "सुधमर्थ विचारो" शब्द का उल्लेख किया है । इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रकरण के उक्त तीनों नाम अप्वर्थ-सार्थक हैं ।

यद्यपि टबावाली प्रति जो श्रीयुत् भीमसे सायिक द्वारा 'निर्णय-सागर प्रेस बम्बई' से प्रकाशित 'प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग' में छपी है, उसमें मूल गाथाओं की संख्या नवासी है, किन्तु वह प्रकाशक की गलती है । क्योंकि उसमें जो तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूप में छपी हैं, वे वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण की विषय-संग्रह गाथाएँ हैं । अर्थात् इस प्रकरण में मुख्य क्या क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषय से सम्बन्ध रखने वाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन कराने वाली वे गाथाएँ हैं । अतएव ग्रन्थकार ने उक्त तीन गाथाएँ स्वोपक्ष टीका में उद्धृत की हैं, मूल रूप से नहीं ली हैं और न उन पर टीका की है।

संगति

पहले तीन कर्मग्रन्थों के विषयों की संगति स्पष्ट है। अर्थात् पहले कर्म ग्रन्थ में मूल तथा उत्तर कर्म प्रकृतियों की संख्या और उनका विषाक्त वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में प्रत्येक गुणस्थान को लेकर उसमें यथासम्भव बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तागत उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाई गई है और तीसरे कर्मग्रन्थ में प्रत्येक मार्गणास्थान को लेकर उसमें यथा सम्भव गुणस्थानों के विषय में उत्तर कर्मप्रकृतियों का बन्धस्वामित्व वर्णन किया है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणास्थानों में गुणस्थानों को लेकर बन्धस्वामित्व वर्णन किया है सही। किन्तु मूल में कहा भी यह विषय स्वतन्त्र रूप से नहीं कहा गया है कि किस किस मार्गणास्थान में कितने कितने और किन-किन गुणस्थानों का सम्भव है।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थ में इस विषय का प्रतिपादन किया है और उक्त जिज्ञासा की पूर्ति की गई है। जैसे मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की जिज्ञासा होती है, वैसे ही जीवस्थानों में गुणस्थानों की और गुणस्थानों में जीवस्थानों की भी जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं बल्कि जीवस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यन्व विषयों की और मार्गणास्थानों में जोषस्थान, योग, उपयोग आदि अन्यन्व विषयों की तथा गुणस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यन्व विषयों की भी जिज्ञासा होती है। इन सब जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थ की रचना हुई है। इसी से इसमें मुख्यतया जीवस्थान, मार्गणास्थान, और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रखे गये हैं। और प्रत्येक अधिकार में क्रमशः आठ, छह, बस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्वेश पहली गाथा के भावार्थ में पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोट में संप्रह गाथाओं के द्वारा किया गया है। इसके सिवाय प्रसंग

वह इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने भावों का और संख्या का भी विचार किया है ।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति के अनुसार मार्गणास्थानों में गुणस्थानों मात्र का प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य-अन्य विषयों का इस ग्रन्थ में अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नये-नये कई विषयों का वर्णन इसी ग्रन्थ में क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि किसी भी एक ग्रन्थ में सब विषयों का वर्णन असम्भव है । अतएव कितने और किन विषयों का किस क्रम से वर्णन करना, यह ग्रन्थकार की इच्छा पर निर्भर है; अर्थात् इस बात में ग्रन्थकार स्वतन्त्र है । इस विषय में नियोग-पर्यनुयोग करने का किसी को अधिकार नहीं है ।

प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ ।

‘षडशीतिक’ यह मुख्य नाम दोनों का समान है, क्योंकि गाथाओं की संख्या दोनों में बराबर छियासी ही है । परन्तु नवीन ग्रन्थकार ने ‘सूक्ष्मार्थ विचार’ ऐसा नाम दिया है और प्राचीन की टीका के अन्त में टीकाकार ने उसका नाम ‘आगमिक वस्तु विचारसार’ दिया है । नवीन की तरह प्राचीन में भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये तीन ही हैं । गीण अधिकार भी जैसे नवीन क्रमशः आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीन में भी हैं । गाथाओं की संख्या समान होते हुए भी नवीन में यह विशेषता है कि उसमें वर्णन जैसी संक्षिप्त करके ग्रन्थकार ने दो और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं । पहला विषय ‘भाव’ और दूसरा ‘संख्या’ है । इन दोनों का स्वरूप नवीन में सविस्तार है और प्राचीन में बिल्कुल नहीं है । इसके सिवाय प्राचीन और नवीन का विषय-साम्य तथा क्रम-साम्य बराबर है । प्राचीन पर टीका, टिप्पणी,

विवरण, उद्धार, साध्य आदि जगत्पार्थक्य के ज्ञान के अधिक हैं। हाँ, नवीन पर, जैसे गुजराती ठीके हैं, वैसे प्राचीन पर नहीं हैं।

इस सम्बन्ध की विशेष जानकारी के लिये अर्थात् प्राचीन और नवीन पर कौन-कौन सी व्याख्या किस-किस भाषा में और किस किस की बनाई हुई है, इत्यादि जानने के लिये पहले कर्मग्रन्थ के आरम्भ में जो कर्मविषयक साहित्य की तालिका दी है, उसे देख लेना चाहिये।

चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पञ्चसंग्रह तथा गोस्मटसार ।

यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थ का कोई-कोई (जैसे गुणस्थान आदि) वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में नामान्तर तथा प्रकारान्तर से वर्णन किया हुआ मिलता है, तथापि उसकी समान कोटिका कोई आस ग्रन्थ उक्त दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

जैन-साहित्य श्वेताम्बर और विजयम्बर, दो सम्प्रदायों में विभक्त है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य में विशिष्ट विद्वानों की कृति स्वरूप 'आगम' और 'पञ्चसंग्रह' ये प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें कि चौथे कर्मग्रन्थ का सम्पूर्ण विषय पाया जाता है, या यों कहिये कि जिनके आधार पर चौथे कर्मग्रन्थ की रचना ही की गई है।

यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थ में और जितने विषय जिस क्रम से वर्णित हैं, वे सब उसी क्रम से किसी एक आगम तथा पञ्चसंग्रह किसी एक भाग में वर्णित नहीं हैं; तथापि भिन्न-भिन्न आगम और पञ्चसंग्रह के भिन्न-भिन्न भाग में उसके सभी विषय लगभग मिल जाते हैं। चौथे कर्मग्रन्थ का कौन सा विषय किस आगम में और पञ्चसंग्रह के किस भाग में आता है। इसकी सूचना प्रस्तुत अनुवाद में

उस उस विषय के प्रसंग में दिव्यगी के तौर पर यथासम्भव कर दी गई है, जिससे कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अभ्यासियों को आगम और पञ्चसंग्रह के कुछ उपयुक्त स्वतः मालूम हों तथा मतभेद और विशेष-ताएँ ज्ञात हों,

प्रस्तुत ग्रन्थ के अभ्यासियों के लिये आगम और पञ्चसंग्रह का परिचय करना लाभदायक है; क्योंकि उन ग्रन्थों के गौरव का कारण सिर्फ उनकी प्राचीनता ही नहीं है, बल्कि उनकी विषय-गम्भीरता तथा विषयस्फुटता भी उनके गौरव का कारण है।

‘गोस्मटसार’ यह दिगम्बर सम्प्रदाय का कर्म-विषयक एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ है, जो कि इस समय उपलब्ध है। यद्यपि वह श्वेताम्बरीय आगम तथा पञ्चसंग्रह की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है, फिर भी उसमें विषय-वर्णन, विषय-विभाग और प्रत्येक विषय के लक्षण बहुत स्फुट हैं। गोस्मटसार के ‘जीवकाण्ड’ और ‘कर्मकाण्ड’ ये मुख्य दो विभाग हैं। चौथे कर्मग्रन्थ का विषय जीवकाण्ड में हो है और यह इससे बहुत बड़ा है यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थ के सब विषय प्रायः जीवकाण्ड में वर्णित हैं, तथापि दोनों की वर्णनशैली बहुत अंशों में भिन्न है।

जीवकाण्ड में मुख्य बीस प्रकरणएँ हैं:—१ गुणस्थान, १ जीवस्थान, १ पर्याप्ति, १ प्राण, १ संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और १ उपयोग, कुल बीस। प्रत्येक प्रकरण तो उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। अनेक स्थलों में चौथे कर्मग्रन्थ के साथ उसका मतभेद भी है।

इसमें मन्देह नहीं कि चौथे कर्मग्रन्थ के पाठियों के लिये जीवकाण्ड एक खास देखने की वस्तु है; क्योंकि इससे अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं। कर्मविषयक अनेक विशेष बातें जैसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में लभ्य हैं, वैसे ही अनेक विशेष बातें, विगम्बरीय ग्रन्थों में भी लभ्य हैं। इस कारण दोनों सम्प्रदाय के

विशेष जिज्ञासुओं को एक दूसरे के समान विषयक ग्रन्थ अवश्य देखने चाहिएँ । इसी अभिप्राय से अनुवाद में उस उस विषय का सामान्य और वैयर्थ्य विद्वानों के लिये जगह जगह गोष्मटसार के अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निविष्ट किये हैं ।

विषय-प्रवेश :

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रन्थ के अध्ययन के लिये प्रवृत्ति नहीं करते । इस नियम के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के निमित्त योग्य अधिकारियों की प्रवृत्ति कराने के लिये यह आवश्यक है कि शुरु में प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का परिचय कराया जाय । इसी को "विषय-प्रवेश" कहते हैं ।

विषय का परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकार से कराया जा सकता है ।

(क) ग्रन्थ किस तात्पर्य से बनाया गया है; उसका मुख्य विषय क्या है और वह कितने विभागों में विभाजित है; प्रत्येक विभाग से सम्बन्ध रखने वाले अन्य कितने-कितने और कौन-कौन विषय हैं; इत्यादि वर्णन करके ग्रन्थ के शाब्दात्मक कलेवर के साथ विषय-रूप आत्मा के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रन्थ का प्रधान और गौण विषय क्या-क्या है तथा वह किस-किस क्रम से वर्णित है, इसका निर्देश कर देना, यह विषय का सामान्य परिचय है ।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषय का स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का विशेष परिचय तो उस-उस विषय का वर्णन-स्थान में ही यथासम्भव मूल में किंवा विवेचन में करा दिया

गया है । अतएव इस जगह विषय का सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक एवं उपयुक्त है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ बनाने का तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करके यह बतलाया जाय कि अमुक-अमुक अवस्थायें औपाधिक, वैभाविक किंवा कर्म-कृत होने से अस्थायी तथा हेय हैं; और अमुक-अमुक अवस्था स्वाभाविक होने के कारण स्थायी तथा उपादेय हैं । इसके सिवा यह भी बतलाना है कि, जीव का स्वभाव प्रायः विकास करने का है । अतएव वह अपने स्वभाव के अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्वारा औपाधिक अवस्थाओं को त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव करता है ।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं :

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और (५) संख्या ।

इनमें से प्रथम मुख्य तीन विषयों के साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं :—जीवस्थान में (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं । मार्गणास्थान में (१) जीवस्थान (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-बहुत्व, ये छः विषय वर्णित हैं । तथा गुणस्थान में (१) जीवस्थान, (२) योग (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध-हेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प-बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं । पिछले दो विषयों का अर्थात् भाव और संख्या का वर्णन अन्य अध्याय विषय के वर्णन से मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है ।

इस तरह देखा जाय तो प्रस्तुत ग्रन्थ के शब्दात्मक कलेवर के मुख्य पाँच हिस्से हो जाते हैं।

पहिला हिस्सा दूसरी गाथा से आठवीं गाथा तक का है, जिसमें जीवस्थान का मुख्य वर्णन करके उसके सम्बन्धी उक्त आठ विषयों का वर्णन किया गया है। दूसरा हिस्सा नवीं गाथा से लेकर चौवालिसवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया मार्गणास्थान को लेकर उसके सम्बन्ध से छः विषयों का वर्णन किया गया है। तीसरा हिस्सा पँतालिसवीं गाथा से लेकर त्रैसठवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया गुणस्थान को लेकर उसके आध्वय से उक्त दस विषयों का वर्णन किया गया है। चौथा हिस्सा चौसठवीं गाथा से लेकर सत्तरवीं गाथा तक का है, जिसमें केवल भावों का वर्णन है। पाँचवाँ हिस्सा इकहत्तरवीं गाथा से छियासोवीं गाथा तक का है, जिसमें सिर्फ संख्या का वर्णन है। संख्या के वर्णन के साथ ही ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

जीवस्थान आदि उक्त मुख्य तथा गौण विषयों का स्वरूप पहली गाथा के भावार्थ में लिख दिया गया है; इसलिये फिर से यहाँ लिखने की जरूरत नहीं है। यथापि यह लिख देना आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रन्थ बनाने का उद्देश्य जो ऊपर लिखा गया है, उसकी सिद्धि जीवस्थान आदि उक्त विषयों के वर्णन से किस प्रकार हो सकती है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान और भाव ये सांसारिक जीवों की विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम किया जा सकता है कि जीवस्थान रूप चौदह अवस्थाएँ जाति-सापेक्ष हैं किंवा शारीरिक रचना के विकास या इन्द्रियों की न्यून-अधिक संख्या पर निर्भर हैं। इसी से सब कर्मकृत या वंशाधिक होने के कारण अन्त में हेय हैं। मार्गणास्थान के बोध से यह विदित हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्था-रूप

नहीं हैं । केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र्य और अन्नाहारकरव के सिवाय अन्य सब मार्गणाएँ ध्यूनाधिक रूप में अस्वाभाविक हैं । अतएव स्वरूप की पूर्णता के दृष्टिकोणों के लिये अन्त में वे हेय ही हैं । गुण स्थान के परिज्ञान से यह ज्ञान हो जाता है कि गुणस्थान यह आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाले आत्मा की उत्तर-उत्तर-विकास-सूक्ष्म भूमिकाएँ हैं । पूर्व-पूर्व भूमिका के समय उत्तरो-उत्तर भूमिका उपादेय होने पर भी परिपूर्ण विकास हो जाने से वे सभी भूमिकाएँ आप ही आप छूट जाती हैं । भावों की जानकारी से यह निश्चय हो जाता है कि क्षायिक भावों को छोड़ कर अन्य सब भाव चाहें वे उत्क्रान्ति काल में उपादेय क्यों न हों, पर अन्त में हेय ही हैं । इस प्रकार जीवका स्वाभाविक स्वरूप क्या है और अस्वाभाविक क्या है, इसका विवेक करने के लिए जीवस्थान आदि उक्त विचार जो प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है, वह आध्यात्मिक विद्या के अभ्यासियों के लिए अतीव उपयोगी है ।

आध्यात्मिक ग्रन्थ दो प्रकार के हैं । एक तो ऐसे हैं जो सिर्फ आत्मा के शुद्ध, स्वरूप और दूसरे अशुद्ध तथा मिश्रित स्वरूप का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ दूसरी कोटि का है । अध्यात्म-विद्या के प्राथमिक और माध्यमिक अभ्यासियों के लिये ऐसे ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं, क्योंकि उन अभ्यासियों की दृष्टि व्यवहार-परायण होने के कारण ऐसे ग्रन्थों के द्वारा ही क्रमशः केवल पारमार्थिक स्वरूप-प्राप्ति की बलाई जा सकती है ।

आध्यात्मिक-विद्या के प्रत्येक अभ्यासी की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा किस प्रकार और किस क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है, तथा उसे विकास के समय कौन-कौनसी अवस्था का अनुभव होता है । इस जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से देखा जाय तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थान का महत्त्व अधिक है । इस

खमाल से इस जगह गुणस्थान का स्वरूप कुछ विस्तार के साथ लिखा जाता है । साथ ही यह भी बतलाया जायगा कि जैन शास्त्र की तरह वैदिक तथा बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक विकास का कैसा वर्णन है । यद्यपि ऐसा करने में कुछ विस्तार अवश्य हो जायगा, तथापि नीचे लिखे जाने वाले विचार से जिज्ञासुओं की यदि कुछ भी ज्ञान-वृद्धि तथा रचि-शुद्धि हुई तो यह विचार अनुपयोगी न समझा जायगा ।

गुणस्थान का विशेष स्वरूप ।

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों की अर्थात् विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं । जैन शास्त्र में गुणस्थान इस पारिभाषिक शब्द का मतलब आत्मिक शक्तियों के आविर्भावकी—उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तर-तम-मावापन अवस्थाओं से है । आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध-चेतना और पूर्णानन्दमय है । पर उसके ऊपर जब तक तीव्र आवरणों के घने बादलों की घटा छाई हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता । किन्तु आवरणों के क्रमशः शिथिल या भट्ट होते ही उसका असली स्वरूप प्रकट होता है । जब आवरणों की तीव्रता आखरी हद की हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्था में—अविकसित अवस्था में पड़ा रहता है । और जब आवरण विलकुल ही नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में वर्तमान हो जाता है । जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे धीरे शुद्ध स्वरूप का लाभ करता हुआ चरम अवस्था की ओर प्रस्थान करता है । प्रस्थान के समय इन दो अवस्थाओं के बीच उसे अनेक नीची-ऊँची अव-

स्थाओं का अनुभव करना पड़ता है । प्रथम अवस्था को अधिकास-की अथवा अधःपतन की पराकाष्ठा और चरम अवस्था को विकास-की अथवा उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा समझना चाहिये । इस विकास-क्रम की मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओं की अपेक्षा से ऊँच भी कह सकते हैं और नीच भी । अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपने से ऊपर वाली अवस्था की अपेक्षा नीच और नीचे वाली अवस्था की अपेक्षा ऊँच कहो जा सकती है । विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संस्थातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करता है । पर जैन शास्त्र में संक्षेप में वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो "चौदह गुणस्थान" कहलाते हैं ।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान है । अर्थात् जब तक मोह बलवान् और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं । इसके विपरीत मोह के निर्बल होसे ही अन्य आवरणों की बँसी ही बणा हो जाती है । इसलिए आत्मा के विकास करने में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता समझनी चाहिये । इसी कारण गुणस्थानों की—विकास-क्रम-गत अवस्थाओं की कल्पना मोह-शक्ति की उत्कटता, मृदुता तथा अभाव पर अवलम्बित है ।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं । इनमें से पहली शक्ति, आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप परस्वरूपका निर्णय किंवा जड़-चेतन का विभाग या विवेक करने नहीं देती; और दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अध्यास—पर परिणति से छुटकर स्वरूप लाभ नहीं करने देती । अग्रहारा में पर-पर पर यह देखा जाता है कि किसी वस्तु का यथार्थ वर्णन—बोध कर लेने पर ही उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है । आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्मा के लिये भी मुख्य दो ही

कार्य हैं। पहला स्वरूप तथा पररूपका अर्थार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूप में स्थित होना। इनमें से पहले कार्य को रोकने वाली मोह की शक्ति जैनशास्त्र में "दर्शन-मोह" और दूसरे कार्य को रोकने वाली मोह की शक्ति "चारित्र्यमोह" कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्ति की अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती; और पहली शक्ति के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः बंसी ही होने लगती है। अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पाये तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अधिकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गूणस्थान है। इसमें मोह की उक्त दोनों शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की आध्यात्मिक-स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा झूठ होती है। जैसे विग्रहमवाला मनुष्य पूर्वको पश्चिम मानकर गति करता है और अपने दृष्ट स्थान को नहीं पाता; उसका सारा धन एक तरह से वृथा ही जाता है, उसे प्रथम भूमिका वाला आत्मा पर-रूप को स्वरूप समझ कर उसी को पाने के लिये प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत वर्तन या मिथ्यादर्श के कारण राग-द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख से वञ्चित रहता है। इसी भूमिका को जैनशास्त्र में "बहिरात्मनाश" किंवा "मिथ्या-दर्शन" कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं, उन सबों की भी आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् सबके ऊपर मोह की सामान्यतः दोनों शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा-बहुत तर-तम-भाव अवश्य होता है। किसी

पर मोह का प्रभाव ग्राह्यतम, किसी पर ग्राह्यतर और किसी पर उससे भी कम होता है । विकास करना यह प्रायः आत्मा का स्वभाव है । इसलिये जानते या अनजानते, जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है । इसी स्थिति को जैन शास्त्र में “ग्रन्थिमेव”* कहा है ।

ग्रन्थिमेव का कार्य बड़ा ही विषम है । रागद्वेष का तीव्रतम विदग्ध ग्रन्थि—एक बार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाय तो फिर बेड़ा पार हो समझिये; क्योंकि इसके बाव मोह की प्रधान शक्ति वर्धमान मोह की शिथिल होने में देरी नहीं लगती और वर्धमानमोह शिथिल हुआ कि चारित्र्यमोह की शिथिलता का मार्ग आप ही आप खुल जाता है । एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर्य-बल का प्रयोग करता है । इस आध्यात्मिक युद्ध में धानी मानसिक विकार और आत्मा की प्रतिबुद्धिता में कभी एक तो कभी दूसरा जयलभ करता है । अनेक आत्मा ऐसे

*गंठित्ति सुदुब्भेओ ववखड्ध घण रुद्ध गूढ गंठिव्व ।

जीवस्म कम्म जणिओ घण राग धोस परिणामो ॥ ११६५ ॥

भिन्नाम्मि तम्मिजाओ सम्मत्ताईण भोक्ख हेऊणं ।

सोय दुल्लभो परिस्समचित्त विद्यायाई विग्घेहि ॥ ११६६ ॥

सो तत्थ परिस्सम्मई घोर महासमर निभययाइव्व ।

विज्जाय सिद्धिकाले जहवाविवा तहा सोधि ॥ ११६७ ॥

विशेषावश्यक भाष्य ।

भी होते हैं जो करीब करीब सन्धिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी रागद्वेष पर जयलान नहीं पाते । अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं और न जय लाभ कर पाते हैं, किन्तु वे खिरकाव तक उस आध्यात्मिक युद्ध के संघर्ष में ही पड़े रहते हैं । कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता है जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्ध में रागद्वेष पर जयलाभ कर ही लेता है । किसी भी भानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता में इन तीनों अवस्थाओं का अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरने का, कभी प्रतिस्पर्धा में बटे रहने का और जयलाभ करने का अनुभव हमें अक्सर नित्य प्रति हुआ करता है । यही संघर्ष कहलाता है । संघर्ष विकास का कारण है । चाहे विद्या, चाहे धन चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करने समय भी अमानक अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में उक्त प्रकार की तीनों अवस्थाओं का अनुभव प्रायः सबको होता रहता है । कोई विद्यार्थी, कोई धनार्थी या कोई कीर्ति-काङ्क्षी जब अपने इष्ट के लिये प्रयत्न करता है । तब या तो वह बीच में अनेक कठिनाइयों को देखकर प्रयत्न को छोड़ ही देता है या कठिनाइयों को पार कर इष्ट-प्राप्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है । जो अग्रसर होता है, वह बड़ा विद्वान्, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है । जो कठिनाइयों से डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है । और जो न कठिनाइयों को जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थिति में ही पड़ा रहकर कोई ध्यान खोजने योग्य उत्कर्ष-लाभ नहीं करता ।

इस भाव को समझाने के लिये शास्त्र* में एक यह् दृष्टान्त दिया गया है कि तीन प्रधासो कहीं जा रहे थे । बीच में भयानक चोरों को देखते ही तीनों में से एक तो पीछे भाग गया । दूसरा उन चोरों से डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया । तीसरा तो असाधारण बल तथा कौशल से उन चोरों को हराकर आगे बढ़ ही गया । मानसिक विकारों के साथ आध्यात्मिक युद्ध करने में जो जय-पराजय होता है, उसका थोड़ा बहुत ख्याल उक्त दृष्टान्त से आ सकता है ।

* जड् वा तिलि मणुसा, जंतुवियहं सहाव गमणेण ।
 वेसा इक्क मभिया, तुरंति यत्तायदो चोरा ॥ १२११ ॥
 द्दट्ठुं मग्ग तत्तये, ते एगे मग्गओ पडिनियत्ता ।
 नित्तिओ गहिओ तइओ, गम इक्कंतुं पुरंपसो ॥ १२१२ ॥
 अड्ढी भवो मणुसा, जीवा कम्मट्ठीई यहो दीहो ।
 गंठीय मयट्ठाणं, रागद्धोमा य दो चोरा ॥ १२१३ ॥
 भग्गो ठिई परिवुड्ढी, गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।
 गम्मत्त पुरं एवं, जो एज्जत्तिणी करणाणि ॥ १२१४ ॥

— विशेषावश्यक भाष्य :

यथा जनास्रयः केऽपि। माहपुरं पिपासुर्वः ।
 प्राप्ताः वक्कचन कान्तारे, स्थानं चोरः भयंकरम् ॥ ६१६ ॥
 तत्र द्रुतं द्रुतं यावतो, दृष्टुस्तस्करद्वयम् ।
 तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥ ६१७ ॥
 गृहीतश्चापरस्ताभ्यामग्नस्त्वयमप्यधीती ।
 भयस्थानमतिक्रमय्य, पुरं प्राप पराकसी ॥ ६१८ ॥

प्रथम गुणस्थान में रहने वाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो रागद्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होते हैं, पर मोह को प्रधान शक्ति को अर्थात् दर्शनमोह को क्षिपिल किये हुए नहीं होते । इसलिये वे यद्यपि अध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वथा अनुकूलगामी नहीं होते, तो भी उनका बोध व चरित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है । यद्यपि ऐसे आत्माओं की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण वस्तुतः मिथ्या दृष्टि विपर्यय दृष्टि या असत् दृष्टि ही कहना ही है, तथापि वह सद्दृष्टि के समीप ले जाने वाली होने के कारण उपादेय मानी गई है* ।

बोध, वीर्य व चरित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से उस असत् दृष्टि के चार भेद करके मिथ्या दृष्टि गुणस्थान की अन्तिम अवस्था

दृष्टान्तोपनयश्चात्र, जना जीवा भवोऽष्टवी ।

पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थि देशस्त्विह भयास्पदम् ॥ ६२२ ॥

रागद्वेषौ तत्करो द्वौ तद्भीतो बलितस्तु सः ।

ग्रन्थि प्राप्यापि दुर्माना, द्यौ ज्येष्ठस्थितिर्बन्धकः ॥ ६२३ ॥

औरश्चस्तु स ज्येष्ठनादन् रागादिबाधिनः ।

ग्रन्थि भिनत्ति यो नैव, न चापि बलने ततः ॥ ६२४ ॥

स त्वमीष्टपुरं प्राप्नो, योऽपूर्वकरणाद् द्रुतम् ।

रागद्वेषावधकृत्य, सम्यग्दर्शनमाप्तवान् ॥ ६२५ ॥

— लोकप्रकाश सर्ग ३ ।

* “मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्तां, मिथ्याया अपि दृष्टयः ।

मार्गमिमुक्तमात्रेण, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥ २१ ॥

श्रीयशोविजयजी-कृत योगावतारद्वाविशिष्टा ।

का शास्त्र में अच्छा चित्र खींचा गया है । इन चार दृष्टियों में जो वर्तमान होते हैं, उनको सद्दृष्टि लाभ करने में फिर बेरी नहीं लगती ।

सद्योष, सद्योर्ध्व व सच्चरित्र-के तर-तम भाव की अपेक्षा से सद्दृष्टि के* भी शास्त्र में चार विभाग किये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि त्याग कर अथवा मोह को एक या दोनों शक्तियों को जीतकर आगे बढ़े हुए सभी विकसित आत्माओं का समावेश हो जाता है । अथवा दूसरे प्रकार से यों समझाया जा सकता है कि जिसमें आत्मा का स्वरूप साक्षित हो और उसकी प्राप्ति के लिये मुख्य प्रवृत्ति हो, वह सद्दृष्टि इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरूप न तो यथावत् साक्षित हो और न उसकी प्राप्ति के लिये ही प्रवृत्ति हो, वह असद्दृष्टि । बोधोर्ध्व व चरित्र-के तर-तम-भाव को लक्ष्य में रखकर शास्त्र में दोनों दृष्टि[†] के चार-चार विभाग किये गये हैं, जिनमें सब विकासगामी आत्माओं का समावेश हो जाता है और जिनका वर्णन पढ़ने से आध्यात्मिक विकास का विश्व आँखों के सामने नाचने लगता है† ।

*—“सच्चच्छ्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिः सा चाष्टशोदिता ।

मिश्रा, तारा, बला, दीप्रा, मिथरा, कान्ता, प्रभा, परा ॥ २५ ॥

तूणगोमयकाष्ठान्नि, कणदीपप्रभोजना ।

रत्नतारार्कचन्द्राभा, क्रमेणेश्वादिसन्निभा ॥ २६ ॥

“ब्राह्मश्चतस्रः सापाम, गता मिथ्य दशमिह ।

तत्त्वतो निरपायाव्य, भिन्नग्रन्थैरतथोक्तः ॥ २७ ॥

योगावतारद्वात्रिशिका ।

† इसके लिये देखिये, श्रीहरिभद्रसूरि-कृत योगदृष्टिसमुच्चय तथा उपाध्याय यशोविजयजी-कृत २१ से २४ तक की चार द्वात्रि-शिकाएँ ।

शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना के कारण अज्ञात-
रूप में ही गिरि-नदी-प्रपात * न्याय से अज्ञात-आत्मा का आवरण कुछ
शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा वीर्योत्सास-
की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकासनामी आत्मा के परिणामों-
की शुद्धि व कोमलता कुछ बढ़ती है। जिसकी वजहसे वह रागद्वेष
की तोषतम—बुद्धि-प्रस्थि को तोड़ने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त
कर लेता है। इस अज्ञानपूर्वक दुःख-संवेदना-जनित अति अल्प
आत्म-शुद्धि को जैन शास्त्र में 'यथाप्रवृत्तिकरण' † कहा है। इसके
बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योत्सास की
मात्रा बढ़ती है तब राग-द्वेष की उस बुद्धि-प्रस्थि का भेदन किया
जाता है इस प्रस्थिमेव कारका आत्मशुद्धि को 'अपूर्वकरण' ‡
कहते हैं।

* यथाप्रवृत्तिकरणं, नन्वनामोगरूपकम् ।

भवत्यनामोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥ ६७॥

“यथा मिथो घर्षणेन, प्रावाणोऽद्विनदीयताः ।

स्युश्चित्राकृत्यो ज्ञान-शून्या अपि स्वभावतः ॥ ६८ ॥

तथा यथाप्रवृत्तात्स्यु-रप्यनामोगलक्षणात् ।

लघुस्थितिककर्माणो, जन्तवोऽप्रान्तरेऽथ च ॥ ६९ ॥”

—लोकप्रकाश, सर्ग ३

† इसको दिगम्बरसम्प्रदाय में 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं।
इस के लिये देखिये, तत्त्वार्थ-अध्याय ६ के १९वें सूत्र का १३ वां
राजवातिक ।

‡ “तीव्रधारपशुकल्या,ऽपूर्वास्थिकरणेन हि ।

आविष्कृत्य परं वीर्यं, ग्रन्थिं भिन्दन्ति के चन ॥ ६१८ ॥

लोकप्रकाश, सर्ग ३ ।

क्योंकि ऐसा करण—परिणाम * विकासगामी आत्मा के लिये अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके साथ आत्म-शुद्धि व बीजोत्सास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति—वर्शनमोहपर अवश्य विजय प्राप्त करता है। इस विजय-कारक आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में “अनिवृत्तिकरण” † कहा है, क्योंकि उस आत्म-शुद्धि के हो जाने पर आत्मा वर्शनमोह पर जय-प्राप्त बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकार की आत्म-शुद्धियों में दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को

* “परिणामविशेषोऽत्र, करणं प्राणिनां मतम् ॥१६६॥”

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

† “अथागिवृत्तिकरणेना,—तिस्रवच्छाशयात्मना ।

करोत्यन्तरकरण,—मन्तुर्मुहूर्त्तसमितम् ॥६२७॥

कृते च तस्मिन्निध्यात्वे,—मोहस्थितिर्द्विधा भवेत् ।

तत्राद्यान्तरकरणा,—दधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥

तत्राद्यायां स्थितौ मिथ्या,—इक् स तद्दलवेदनात् ।

अतीतायामैवतस्थां, स्थितायन्तर्मुहूर्त्ततः ॥६२९॥

प्राप्तोत्यन्तरकरणं, तस्यान्तर्क्षण एव सः ।

सम्यक्त्वमौपशमिक, —मपौद्रलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥

यथा वनद्वीपदग्धे,—न्धनः प्राप्यातृणं स्थलम् ।

स्वयं विध्यायति तथा, मिथ्यास्वीप्रदवान्तः ॥६३१॥

अवाप्यान्तरकरणं, क्षिप्रं विध्यायति स्वयम् ।

यदौपशमिकं नाम, सम्यक्त्वं लभतेऽमुमान् ॥६३२॥”

लोकप्रकाश, सर्ग ३।

रोकने का अत्यन्त कठिन कार्य इसी के द्वारा किया जाता है, जो सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता प्राप्त हो जाने पर फिर चाहे विकासगामी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से गिर भी पड़े तथापि वह पुनः कभी-न-कभी अपने लक्ष्य को—आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण अनुभवगत व्यावहारिक दृष्टान्त के द्वारा किया जा सकता है।

जैसे; एक ऐसा वस्त्र हो, जिसमें मल के अतिरिक्त चिकनाहट भी लगी हो। उसका मल ऊपर-ऊपर से दूर करना उतना कठिन और श्रम-साध्य नहीं, जितना कि चिकनाहट का दूर करना। यदि चिकनाहट एक बार दूर हो जाय तो फिर बाकी का मल निकालने-में किन्ना किसी कारण-वश फिर से लगे हुए गव्वे को दूर करने में विशेष श्रम नहीं पड़ता और वस्त्र को उसके असली स्वरूप में सहज ही लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपर का मल दूर करने में जो बल बरकार है, उसके सहज “यथाप्रवृत्तिकरण” है। चिकनाहट दूर करने वाले विशेष बल व श्रम-के समान “अपूर्वकरण” है। जो चिकनाहट के समान राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मल को किन्ना चिकनाहट दूर होने के बाद फिरसे लगे हुए मलको कम करने वाले बल-प्रयोग के समान “अनिवृत्तिकरण” है। उक्त तीनों प्रकार के बल-प्रयोगों में चिकनाहट दूर करने वाला बल-प्रयोग ही विशिष्ट है।

अथवा जैसे; किसी राजा ने आत्म रक्षा के लिये अपने अङ्ग-रक्षकों को तीन विभागों में विभाजित कर रक्खा हो, जिनमें दूसरा विभाग शेष दो विभागों से अधिक बलवान् हो, तब उसी को जीतने-में विशेष बल लगाना पड़ता है। वैसे ही वर्तमानमोह को जीतने के पहले उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारों को शिथिल करने के-

लिये विकासगामी आत्मा को तीन बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। जिनमें दूसरी बार किया जाने वाला बल-प्रयोग ही, जिसके द्वारा राग-द्वेष की अत्यन्त तीव्रतारूप प्रस्थि भेदी जाती है, प्रधान होता है। जिस प्रकार उक्त तीनों चलों में से बलवान् दूसरे अङ्गरक्षक बल के जोत लिये जानने पर फिर उस राजा का पराजय सहज होता है, इसी प्रकार राग-द्वेष की अतितीव्रता को मिटा देने पर दर्शनमोह पर जयलब्ध करना सहज है। दर्शनमोह को जीता और पहले गुणस्थान की समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरूप का दर्शन कर लेता है अर्थात् उसकी अब तक जो पररूप में स्वरूप की भ्रांति थी, वह दूर हो जाती है। अतएव उसके प्रयत्न की गति उल्टी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बन कर कर्तव्य-अकर्तव्य का वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशा को जैन-शास्त्र में "अन्तरात्म भाव" कहते हैं; क्योंकि इस स्थिति की प्राप्ति करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म-भाव को देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, वह आत्म-मन्दिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में वर्तमान परमात्म-भावरूप निश्चय वेदका दर्शन किया जाता है।

यह दशा विकासक्रम की चतुर्थी भूमिका किंवा चतुर्थ गुण-स्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने के कारण विपर्यास-रहित होती है। जिसे जैनशास्त्र में सम्यग्दृष्टि किंवा सम्यक्त्व * कहा है।

* "जिनोक्तादविपर्यस्ता, सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।

सम्यक्त्वशास्त्रिणां सा स्या, — तच्चैवं जायतेऽङ्गिनाम् ॥५६॥"

— लोकप्रकाश, सर्ग ३।

चतुर्थी से आगे की अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्म-
श्रष्टि वाली ही समझनी चाहिये; क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास
तथा दृष्टि की श्रद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान-
में स्वरूप-दर्शन करने से आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है और
उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य-विषयक-भ्रम दूर हुआ,
अर्थात् अब तक जिस पौलिक व बाह्य सुख को मैं तरस रहा
था, वह परिणाम-विरत, अस्थिर एवं परिमित है; परिणाम सुन्दर,
स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप-प्राप्ति में ही है। तब वह विकास-
गामी आत्मा स्वरूप स्थिति के लिये प्रयत्न करने लगता है।

मोह की प्रधान शक्ति - दर्शनमोह को शिथिल करके स्वरूप-
दर्शन कर लेने के बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र्य-
मोह को शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप-लाभ किंवा स्वरूप-
स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोह की दूसरी शक्ति को
मन्द करने के लिये प्रयास करता है। जब वह उस शक्ति को
अंशतः शिथिल कर पाता है; तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो
जाती है। जिसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या परपरिणति-त्याग
होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा अधिक शान्ति-लाभ होता है।
यह वेशविरति-नामक पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में विकासगामी आत्मा को यह विचार होने
लगता है कि यदि अल्प-विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति-लाभ
हुआ तो फिर सर्व-विरति—जड़ भावों के सर्वथा परिहार से
कितना शान्ति-लाभ न होगा। इस विचार से प्रेरित होकर व
प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति के अनुभव से बलवान् होकर वह विका-
सगामी आत्मा चारित्र्यमोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले-
की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप-स्थिरता व स्वरूप-लाभ प्राप्त करने-
की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में कृतकृत्य होते ही उसे सर्व-विरति

संयम प्राप्त होता है। जिसमें पौष्टिक भावों पर मूर्च्छा बिल्कुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के काम में ही खर्च होता है। यह 'सर्वविरति'-नामक सातवें गुणस्थान है। इसमें आत्म-कल्याण के अतिरिक्त लोक-कल्याण की भावना और सबकुल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी-कभी थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रभाव आ जाता है।

पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा, इस छठे गुणस्थान में स्वरूप-अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण यद्यपि विकासगामी आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति पहले से अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रभाव उसे शान्ति-अनुभव में जो बाधा पहुंचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता। अतः एक सर्व-विरति-अमित शान्ति के साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लातसा से प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिन्तन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त-संयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है। इसमें एक और अप्रमाद-जन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्ववास-नाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानी में विकासगामी आत्मा कभी प्रमाद की तन्हा और कभी अप्रमाद की जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या वातभ्रमी में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

प्रमाद के साथ होने वाले इस आन्तरिक युद्ध के समय विकास-

गामी आत्मा यदि अपना चारित्र्य-बल विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों- प्रलोभनों को पार कर विशेष अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेता है । इस अवस्था को पाकर वह ऐसी शक्ति-वृद्धि-की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे-सहे मोह-बन को नष्ट किया जा सके । मोह के साथ होने वाले भावी युद्ध के लिये की जानेवाली तैयारी की इस भूमिका को आठवीं गुणस्थान कहते हैं ।

पहले कभी न हुई ऐसी आत्म-शुद्धि इस गुणस्थान में हो जाती है । जिससे कोई विकासगामी आत्मा तो मोह के संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः बढ़ाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उसे बिस्कुल हो उपशान्त कर देता है । और विशिष्ट आत्म-शुद्धि वाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़ मूल से उखड़ाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उन सब संस्कारों को सर्वथा निर्मूल हो कर डालता है । इस प्रकार आठवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले अर्थात् अन्तरात्म-भाव के विकास द्वारा परमात्म-भाव-रूप सर्वोपरि भूमिका के निकट पहुँचने-वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं ।

एक श्रेणिवाले तो ऐसे होते हैं, जो मोह को एक बार सर्वथा बचा तो लेते हैं, पर उसे निर्मूल नहीं कर पाते । अतएव जिस प्रकार किसी बर्तन में भरी हुई माप कभी-कभी अपने वेग से उस बर्तन-को उड़ा ले मागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राख के नीचे बचा हुआ अग्नि हवा का झकोरा लगते ही अपना कार्य करने लगता है; किंवा जिस प्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा सा ओभ पाते ही ऊपर उठकर जल को गँवला कर देता है, उसी प्रकार पहले बचाया हुआ भी मोह आन्तरिक युद्ध में धकेल दिये उन प्रथम श्रेणि वाले आत्माओं को अपने वेग के द्वारा नीचे पटक देता है । एक बार सर्वथा बचाये जाने पर भी मोह, जिस

भूमिका से आत्मा को हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है । मोह को क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दबाने तक में उत्तरीतर अधिक-अधिक विशुद्धिवाली वो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं । जो मोहों तथा दसवाँ गुणस्थान कह-साता है । ग्यारहवाँ गुणस्थान अधः पतन का स्थान है; क्योंकि उसे पाने वाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है ।

दूसरी श्रेणीवाले आत्मा मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर ही हासते हैं । सर्वथा निर्मूल करने-की जो उसका भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है । इस गुणस्थान को पाने तक में अर्थात् मोह को सर्वथा निर्मूल करने से पहले बीच में मोहों और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है । इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे पहली श्रेणीवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणीवाले, पर वे सब नीचा-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं । दोनों श्रेणीवालों में अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणीवालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणीवालों में आत्म-शुद्धि व आत्म-बल विशिष्ट प्रकार का पाया जाता है । जैसे:—किसी एक वर्ग के विद्यार्थी भी दो प्रकार के होते हैं , एक प्रकार के तो ऐसे होते हैं, जो सौ कोशिश करने पर भी एक बारगी अपनी परीक्षा में पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते । पर दूसरे प्रकार के विद्यार्थी अपनी योग्यता के बल से सब कठिनाइयों को पार कर उस कठिनतम परीक्षा को बेधड़क पास कर ही लेते हैं । उन दोनों बल के इस अन्तर का कारण उनकी आन्तरिक योग्यता की न्यूनताधिकता है । वैसे ही नीचे तथा दसवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले उक्त दोनों श्रेणीवासी आत्माओं की आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनताधिक होती है । जिसके कारण एक श्रेणीवाले तो दसवें गुणस्थान को पाकर अन्त में ग्यारहवें गुणस्थान में मोह से हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणीवाले दसवें गुण

स्थान को पाकर इतना अधिक आत्म-बल प्रकट करते हैं कि अन्त में वे मोह को सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्तिका है, वैसे ही बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्तिका है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान को पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और बारहवें गुणस्थान को पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता; बल्कि ऊपर को ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षा में नहीं पास होने वाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रता से योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षा को पास कर लेते हैं; उसी प्रकार एक बार मोह से हार खाने वाले आत्मा भी अप्रमत्त-भाव व आत्म-बल-की अधिकता से फिर मोह को अवश्य क्षीण कर लेते हैं। उक्त दोनों श्रेणिवाले आत्माओं की तर-तम-सावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म-भाव-रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़ने की दो नसेनियाँ हैं। जिनमें से एक को जैनशास्त्र में 'उपशमश्रेणि' और दूसरी को 'क्षयकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ाने वाली ही है। पहली श्रेणि से गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतन के द्वारा चाहे प्रयत्न गुणस्थान तक क्यों न चला जाय, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-न-कभी फिर वह बूने बल से और बुनी सावधानी से तैयार होकर मोह-शत्रु का सामना करता है और अन्त में दूसरी श्रेणि की योग्यता प्राप्त कर मोह का सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहार में अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्र में भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हारने वाले शत्रु को फिर से हरा सकता है।

परमात्म-भाव का स्वराज्य प्राप्त करने में मुख्य बाधक मोह ही है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्म-भाव के विशिष्ट विकास पर निर्भर है। मोह का सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो जैन

शास्त्र में 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापति के मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकों की तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र्य आदि का लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वामाधिक सुख का अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमा की रात में निरभ्र चन्द्र की सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्मा की चेतना आदि सभी मुख्य शक्तिपूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिका को जैन शास्त्र में तेरहवाँ गुण-स्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में चिरकाल तक रहने के बाद आत्मा बन्ध रज्जु के समान शेष आवरणों की अर्थात् अप्रधानभूत अधातिकर्मों को उड़ा कर फेंक देने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुल्कध्यानरूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक ध्यापारों को सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती शुल्क ध्यान द्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके अन्त में शरीर त्याग-पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से लोकोत्तर स्थान को प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्त्विति * है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुत्रवार्थ की अन्तिम सिद्धि

* "योगसंन्यामतस्त्यागी, योगानप्यङ्गित्वात्त्यजेत् ।

इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥ ७ ॥

वस्तुतस्तु गुणैः पूर्ण-मनन्तर्भासिते स्वतः ।

रूपं त्यक्तात्मनः साधो, -निरभ्रस्य विधोरिव ॥ ८ ॥

है और यही अपुनरावृत्ति-स्थान है । क्योंकि संसार का एकमात्र कारण मोह है । जिसके सब संस्कारों का निश्चेष नाश हो जाने के कारण अब उपाधिका संभव नहीं है ।

यह कथा हुई पहिले से चौदहवें गुणस्थान तक के बारह गुण-स्थानों की; इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थान की कथा जो छूट गई है, वह यों है कि सम्यक्त्व किंवा तत्त्वज्ञानवाली ऊपर की चतुर्थी आदि भूमिकाओं के राजमार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्त्वज्ञान शून्य किंवा मिथ्यादृष्टि वाली प्रथम भूमिका के उन्मार्ग की ओर झुकता है, तब बीच में उस अधःपतनोन्मुख आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है, वही दूसरा गुणस्थान है । यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्म-शुद्धि अथवा कुछ अधिक होती है, इसीलिये इसका नम्बर पहले के साथ रखा गया है, फिर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस गुणस्थान की उत्क्रान्ति-स्थान नहीं कह सकते । क्योंकि प्रथम गुणस्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने-वाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाला ही आत्मा इसका अधिकारी बनता है । अधःपतन मोह के उद्रेक से होता है । अतः एव इस गुणस्थान के समय मोह की तीव्र काषायिक शक्ति का आधि-र्भाव पाया जाता है । खीर आदि मिष्ठ भोजन करने के बाद जब वमन हो जाता है, तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न अति मधुर न अति-अम्ल जैसे प्रतीत होता है । इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान के समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है । क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्व-ज्ञान की निश्चित भूमिका-पर है और न तत्त्व-ज्ञान-शून्य निश्चित भूमिका पर । अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियों से छिसक कर जब तक जमीन पर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का

अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में अर्थात् बीच में आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करता है। यह बात हमारे इस व्यावहारिक अनुभव से भी सिद्ध है कि जब किसी निश्चित उन्नत-अवस्था से गिरकर कोई निश्चित अवनत-अवस्था प्राप्त की जाती है, तब बीच में एक विलक्षण परिस्थिति खड़ी होती है।

तीसरा गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यक् दृष्टि होती है और न केवल मिथ्या दृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें दोलायमान आध्यात्मिक स्थितिवाला बन जाता है। अतएव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने के कारण सम्बेशूल होती है अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया, वह सब सच। अर्थात् न तो वह तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप से ही जानती है और न तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकती है।

कोई उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधे ही तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है और कोई अपक्रान्ति करने वाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करने वाले और अपक्रान्ति करने वाले—दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय-स्थान तीसरा गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थान की दूसरे गुणस्थान से विशेषता है।

ऊपर आत्मा की जिन चोबह अवस्थाओं का विचार किया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अवान्तर संस्थातीत अवस्थाओं का बहुल संक्षेप में वर्गीकरण करके शास्त्र में शरीरधारी आत्मा की सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—(१) बहिरात्म-अवस्था, (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था।

पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक—विशुद्ध रूप अत्यन्त

आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यास वाला होकर पौष्टलिक विलासों को ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हीं की प्राप्ति के-
लिये सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करता है ।

दूसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपर का आवरण गाढ़ न होकर शिथिल-
शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौष्टलिक विलासों की ओर से हट कर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है । इसी से उसकी दृष्टि में शरीर आदि की जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है । यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्था का दृढ़ सोपान है ।

तीसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपर के घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं ।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म-अवस्था का चित्रण है । चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था का चित्रण है और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म-अवस्था का वर्णन* है ।

*" अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा । तत्राद्य-
गुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरा-
त्मा, ततः परन्तु परमात्मेति । तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या पर-
मात्मान्तरात्मा च । व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्व-
नयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा, अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मा-
न्तरात्मा च ।"

—अध्यात्ममतपरीक्षा, गाथा १२५ ।

आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है, इसलिये वह चाहे किसी गुण-स्थान में क्यों न हो, पर ध्यान से कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यान के सामान्य रीति से (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीति से (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुल्क, ऐसे चार विभाग शास्त्र में किये गये हैं। चारों में से पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता के किंवा आत्म-विस्मृति के समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्ग-लिक दृष्टि की गौणता व आत्मानुसन्धान-वशा में जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसार का कारण और शुभ ध्यान मोक्ष-का कारण है। पहले तीन गुणस्थानों में आर्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर-तम-भाव से पाये जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से बारहवें तक पाँच गुणस्थानों में धर्म और शुल्क, ये दो ध्यान होते हैं।

तेरहवें और बीसवें गुणस्थान में सिर्फ शुल्कध्यान होता है † ।

“बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः ।

कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥

अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्व, -केवलज्ञानभागिनः ।

मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥

—योगवतारद्वात्रिंशिका ।

“आर्तरीद्रधर्मशुक्लानि ।” —तत्त्वार्थ-अध्याय ८, सूत्र २६ ।

† इसके लिये देखिये, तत्त्वार्थ अ० ६, सूत्र ३५ से ४० । ध्यान-शतक, गा० ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभट्टी टीका पृ० ६०२ । इस विषय में तत्त्वार्थ के उक्त सूत्रों का राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें स्वैताम्बर ग्रन्थों से थोड़ा सा मतभेद है।

गुणस्थानों में पाये जाने वाले ध्यानों के उक्त वर्णन से तथा गुणस्थानों में किये हुए बहिरात्म-भाव आदि पूर्वोक्त विभाग से प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थान का अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अभिजाती की वैदिक दृष्टि-कांक्षा को ऊपर के गुणस्थानों के लिये उत्तेजित करता है।

वर्शनान्तर के साथ जैनदर्शन का साम्य ।

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकास शीलता तथा मोक्ष-योग्यता मानने वाले हैं, उन सबों में किसी-न-किसी रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार पाया जाता स्वाभाविक है। अत एव आर्यावर्त के जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन वर्णनों में उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शन में गुणस्थान के नाम से, वैदिक दर्शन में भूमिकाओं के नाम से और बौद्धदर्शन में अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। गुणस्थान का विचार, जैसा जैनदर्शन में सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनों की उस विचार के सम्बन्ध में बहुत-कुछ समता है। अर्थात् संकेत, वर्णनशैली आदि की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व के विषय में तीनों दर्शनों का भेद नहीं के बराबर ही है। वैदिकदर्शन के योगवाशिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थों में आत्मा की भूमिकाओं का अच्छा विचार है।

जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा के नाम से अज्ञानी जीवका लक्षण बतलाया है कि जो अनात्मा में अर्थात् आत्म-भिन्न जड़तत्त्व में आत्म-बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा * है। योग-

*“तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः ।”

—तत्त्वार्थ-अध्याय ६, सू० १, राजवास्तिक १२ ।

वाशिष्ठ में * तथा पातञ्जलयोग सूत्र † में अज्ञानो जीव एव ही लक्षण है । जैनशास्त्र में मिथ्यात्वमोहनीय का संसार-बुद्धि और दुःखरूप एव वर्णित है ‡ । वही बात योगवाशिष्ठ के

“आत्मधिया समुपास, कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिःरात्मा ।

कायादेः समधिष्ठा, यको भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥”

—योगशास्त्र, प्रकाश १२।

“निर्मलस्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः ।

अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥”

--ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

“नित्यशुच्यात्मताख्याति, रनित्याशुच्यतात्मसु ।

अविद्यातत्त्वधीविद्या, योगाचार्यः प्रकीर्त्तिताः ॥७॥”

—ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

“अमवाटी बहिर्दृष्टि, अमच्छाया तदीक्षणम् ।

अभ्रास्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शैते सुखाऽऽशमा ॥२॥”

—ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि-अष्टक ।

* ‘यस्याज्ञानात्मनोऽस्य, देह एवात्मभावना ।

उदितेति सर्वैवाक्ष, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥३॥”

—निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध, सर्ग ६ ।

† “अनित्याऽशुचिदुःखाज्जात्मसु नित्यशुचिसुखात्मस्यातिरविद्या ।”

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन-पाद, सूत्र ५ ।

‡ “समुदायावयवयोर्वन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्बचिभ्याम् ।”

—तत्त्वार्थ, अध्याय ६, सू० १, वार्तिक ३१ ।

“विकल्पवषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम् ।

मवोच्चतालमुसाल, प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥४॥”

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

निर्वाण + प्रकरण में अज्ञान के फलरूप से कही गई है । (२) योग-वाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध में अविद्या से तृष्णा और तृष्णा से दुःख का अनुभव तथा विद्या से अविद्या का † नाश, यह कर्म जैसा वर्णित है, वही कर्म जैनशास्त्र में मिथ्याज्ञान और सम्प्र-ज्ञान के निरूपण द्वारा जगह-जगह वर्णित है । (३) योगवाशिष्ठ के उक्त प्रकरण में † ही जो अविद्या का विद्या से और विद्या का विचार से नाश बताया है, वह जैनशास्त्र में माने हुए भूत-भूतियोग आदि क्षायोपशमिकज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश और सायिकज्ञान से क्षायोपशमिकज्ञान के नाश के समान है । (४) जैनशास्त्र में मुख्यतया मोह को ही बन्ध का—संसार का हेतु माना है । योगवाशिष्ठ में † वही

* “अज्ञानात्प्रसृता यस्मा, जगत्पणपरम्पराः ।

यस्मिंस्तिष्ठान्ति राजन्ते, विशन्ति विलसन्ति च ॥१२॥”

“आपासमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व, माद्यन्तवत्कमखिलस्थितिभङ्गरत्वम् ।
अज्ञानशास्त्रिन इति प्रसृतानि राम, नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि”

॥६१॥ पूर्वार्ध, सर्ग ६,

† “जन्मपर्वाहिना रग्धा, विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।

भोगाभोगरसापूर्णा, विचारैकघुणक्षता ॥११॥”

सर्ग ८ ।

‡ “मिथःस्वान्ते तयोरन्त, श्रद्धापातयनयोरिव ।

अविद्यायां विलीनायां, क्षीणे द्वे एव कल्पते ॥२३॥

एते राघव लीयेते, अवाप्यं परिशिष्यते ।

अविद्यासशयात् क्षीणो, विद्यापक्षोऽपि राघव ॥२४॥”

—सर्ग ९

+ “अविद्या संसृतिर्वन्धो, माया मोहो महत्तमः ।

कल्पितानीति नामानि, यस्याः सकलवेदिभि ॥२०॥”

बात कथान्तर से कही गई है । उसमें जो हृदय के अस्तित्व को बन्ध का कारण कहा है; उसका तात्पर्य हृदय के अभिमान या अध्याय से है । (५) जैसे, जैनशास्त्र में ग्रन्थि भेद का वर्णन है वैसे ही योगवाजिष्ठ में * भी है । (६) वैदिक ग्रन्थों का यह वर्णन कि ब्रह्मा, माया के संसर्ग से जीवत्व धारण करता है और मम के संसर्ग से संकल्प-विकल्पात्मक ऐगप्रजासिक सृष्टि रचता है; तथा स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का कल्प के अन्त में नाश होता है †, इत्यादि बातों की संगति जैनशास्त्र के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है आत्मा का अव्यवहार-राशि से व्यवहार राशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है ।

“द्रष्टुं ह्यस्य सत्ताऽङ्गं, बन्ध इत्यभिधीयते ।

द्रष्टा ह्यसबलाद्वद्धो, हस्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥”

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १ ।

“तस्माच्चित्तविकल्पस्थ, पिशाचो बालक यथा ।

त्रिनिहन्त्येवमेवान्तरं, द्रष्टारं ह्यस्वरूपिका ॥२३॥”

—उत्पत्ति-प्र० स० ३ ।

* शक्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेद, स्तस्मिन् सति हि मुक्तता ।

मृगनृणाम्बुबुद्ध्यादि, शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥”

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८

† “तत्त्वयं स्वैरमेवाशु, संकल्पयति नित्यशः ।

तेनेत्यमिन्द्रजालश्री, विततेयं वितन्यते ॥२६॥”

“यदिदं दृश्यते सर्वं, जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

तत्सुषुप्तादिव स्वप्नः, कलान्ते प्रवितन्यति ॥२७॥”

— उत्पत्ति-प्रकरण, स० १ ।

स तथाभूत एवाहमा, स्वयमन्य इवोल्लसन् ।

जीवतामुपयासीव, भाविनाम्ना कदर्थितान् ॥२३॥”

क्रमशः सूक्ष्म तथा सूक्ष्म मनद्वारा संक्षिप्त प्राप्त करके कल्पना-
काल में आत्मा का विचरण करना संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रास्तिक
सृष्टि है । शुद्ध आत्म-स्वरूप व्यक्त होने पर सांसारिक पर्यायों का
नाश होना ही कल्प के अन्त में स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् का नाश है
आत्मा अपनी सत्ता भूलकर जड़-सत्ता की स्वसत्ता मानता है, जो
अहंत्व-ममत्व भावना रूप मोहनीय का उदय और बन्ध का कारण है
वही अहंत्व-ममत्व भावना वैदिक धर्मेन्द्र-शैली के अनुसार बन्धहेतु-
भूत इन्द्र सत्ता है । उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, स्वर्ग, नरक आदि जो
जीव की अवस्थाएँ वैदिक ग्रन्थों में वर्णित * हैं, वे ही जैन-दृष्टि के
अनुसार व्यवहार-राशि-गत जीव के पर्याय हैं । (७) योगवाशिष्ठ में †
स्वरूप-स्थिति को ज्ञानी का और स्वरूप-अंश को अज्ञानी का लक्षण माना
है । जैनशास्त्र में भी सम्यग्ज्ञान का और मिथ्यादृष्टि का क्रमशः वही
स्वरूप ‡ बतलाया है । (८) योगवाशिष्ठ में + जो सम्यग्ज्ञान का लक्षण

* “उत्पद्यते यो जगति स एव किल वर्धत ।

स एव मोक्षमाप्नोति, स्वर्गं वा नरकं च वा ॥७॥”

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १ ।

† “स्वरूपावस्थितिमुक्ति, स्तद्भ्रंशोऽहंस्यवेदनम् ।

एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं, तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥५॥”

—उत्पत्ति-प्रकरण स० ११७

‡ “अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्धकृत् ।

अयमेव हि नवपूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥”

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

स्वभावलाभसंस्कार, कारणं ज्ञानमिष्यते ।

ध्यानध्यमाश्रमतस्त्वन्य, तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥”

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ।

+ “अनाद्यन्तावभासामा, परमात्मेह विद्यते ।

है, वह जैन शास्त्र के अनुकूल है । (९) जैन शास्त्र में सम्यक् वर्णन की प्राप्ति, (१) स्वभाव और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकार से बतलाई है * । योगवासिष्ठ में भी ज्ञान प्राप्ति का वंसा ही कम सूचित किया † है । (१०) जैन शास्त्र के चौदह गुणस्थानों के ज्ञान में चौदह वृत्तिज्ञानों का वर्णन योगवासिष्ठ में ‡ बहुत रुचि कर व विस्तृत है । सात भूमि-

इत्येको निश्चयःस्फार सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥”

—उपशम-प्रकरण, स० ७६।

* “तन्निर्गोदधिगमाद् वा ।”

—तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ३।

† “एकस्तावदुरुप्रोक्ता, दनुष्ठानाच्छूनैः शनैः ।

जन्मना जन्मभिर्वापि, सिद्धिदः समुदाहृतः ॥ ३ ॥

द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किञ्चिद्भ्युत्पन्नचेतसा ,

भवति ज्ञानसंप्राप्तिः, राकाशकलपासवत् ॥ ४ ॥

—उपशम-प्रकरण, स० ७।

‡ “अज्ञानभूः सप्तपदा, ज्ञाभूः सप्तपदैव हि ।

पदान्तराण्यसंस्थानि, भवन्त्यन्यान्यैतयोः ॥ २ ॥

‘तत्रारोपितमज्ञानं, तस्य भूमीरिमाः शृणु ।

बीजजाग्रत्तथाजाग्रन् महाजाग्रत्तथैव च ॥ ११ ॥

जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वपनः, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।

इति सप्तविधो मोहः, पुनरेव परस्परम् ॥ १२ ॥

हिल्हटो भवत्येनकाख्यः, शृणु लक्षणमस्य च ।

प्रथमे चेतनं यत्स्या, दनारूपं निर्मलं चितः ॥ १३ ॥

मविष्यन्वित्तजीवादि, नामशब्दार्थभाजनम् ।

बीजरूपं स्थितं जाग्रत्, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥ १४ ॥

काहें ज्ञान की और सात अज्ञान की बतलाई हुई हैं, जो जैन परिभाषा के

एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था, त्वं जाग्रत्संसृति शृणु ।

नवावस्थस्य परा, नदयं चाहमिदं मम ॥ १५ ॥

इति यः प्रत्ययः स्वस्थः, तस्यैवाग्रत्प्रागभावनात् ।

अयं सोऽहमिदं तन्म, इति जन्मान्तरोदितः ॥ १६ ॥

पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो, महाजाग्रदिति स्फुरन् ।

अरूढमथवा रूढं, सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥ १७ ॥

यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।

द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्य, भृगुतृष्णादिभेदतः ॥ १८ ॥

अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।

अल्पकालं मया दृष्टं, एषं नो सत्यमित्यपि ॥ १९ ॥

निद्राकालानुभूतेऽर्थे, निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।

स स्वप्नः कथितस्तस्य, महाजाग्रदिस्थितेर्हृदि ॥ २० ॥

चिरसंदर्शनाभावाद्दप्रफुल्लबृहद् वपुः ।

स्वप्नो जाग्रत्तयारूढो, महाजाग्रत्पदं गतः ॥ २१ ॥

अक्षते वा क्षते देहे, स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ।

षष्ठवस्थापरित्यागे, जज्ञा जीवस्य या स्थितिः ॥ २२ ॥

भक्षिष्यद्दुःखबोधालया, सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।

एते तस्यामवस्थायां, तृणलोष्ठशिलादयः ॥ २३ ॥

पदार्थाः सांस्थिताः सर्वे, परमाणुप्रमाणिनः ।

सप्तावस्था इति प्रोक्ता, मयाऽज्ञानस्य राशव ॥ २४ ॥”

उत्पत्ति-प्रकरण स० ११७ ।

“ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता ।

विचारणा द्वितीया नृ, तृतीया तन्मानया ॥ ५ ॥

अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सत्यवस्तु की अवस्था की सूचक हैं । (११) योगवासिष्ठ में तत्त्वज्ञ, समदृष्टि, पूर्णशिव और मुक्त पुरुष का

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्या, - ततो संसृतिनामिका ।
 पदार्थभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६ ॥
 आसामस्त स्थिता मुक्ति, - तत्त्वां भूयो न शोच्यते ।
 एतासां भूमिकानां त्व, - मिदं विश्वं न ॥ ७ ॥
 स्थितः किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
 वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभेच्छेत्युच्यते तुर्यः ॥ ८ ॥
 शास्त्रसज्जनसंपर्क-वैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
 सदाचारप्रवृत्तिर्वा, प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥
 विचारणा शुभेच्छाभ्या, - मिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
 यत्र हा तनुसामावा, - त्प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥
 भूमिकान्वित्याभ्यासा, - चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्
 सत्त्वात्मनि स्थितिः शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥
 दशाच्चतुष्टयाभ्यासा, - दससंगफलेन च ।
 रुढसत्त्वचमत्कारा, - त्प्रोक्ता संसृतिनामिका ॥ १२ ॥
 भूमिकापञ्चकाभ्यासा, - तत्त्वात्धारामतया हृदम् ।
 आभ्यन्तराणां बाह्यानां, पदार्थनिगमावनात् ॥ १३ ॥
 परप्रयुक्तेन चिरं, प्रयत्नेनार्थभावेनात् ।
 पदार्थभावना नास्ती, षष्ठी संजायते गतिः ॥ १४ ॥
 भूमिषट्कचिराभ्यासा, - देहदम्यानुपलभ्यतः ।
 यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ १५ ॥

उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८ ।

जो वर्णन * है वह जैन-संकेतानुसार चतुर्थं आदि गुणस्थान में स्थित आत्मा को लागू पड़ता है। जैन शास्त्र में जो ज्ञान का महत्त्व वर्णित है,

* योग निर्वाण-प्र०, स० १७०; निर्वाण -प्र० उ, स० ११६।

योग० स्थिति-प्रकरण, स० ५७; निर्वाण-प्र० स० १६६।

† “जागति ज्ञानदक्षिण्ये, तूष्णा कृष्णाऽहिजाङ्गली।

पूर्णानन्दस्थ तत्किं स्या, -हैत्यवृश्चिकवेदना ॥ ४ ॥”

—ज्ञानासार, पूर्णताष्टक।

“अस्ति चेदग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्सन्त्रयन्त्रणैः।

प्रदीपाःकोपयुज्यन्ते, समोष्णी दष्टिरेव चेत् ॥ ६ ॥

मिथ्यात्वशैलपञ्चच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिखोभितः।

निर्भयः वाक्त्रयद्योगी, नन्दरयानन्दनन्दने ॥ ७ ॥

दीपूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनीषधम्।

अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

ज्ञानासार ज्ञानाष्टक।

संसारे निवसन् स्वार्थं, -सज्जः कञ्जलवे एमनि।

लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥

नाहं पुद्गलमावनां, कर्ता कारयिता च।

नानुमन्तापि चर्यात्म, -ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥ २ ॥

लिप्यते पुद्गलस्कन्धी, न लिप्ये पुद्गलैरहम्।

चित्रव्योमाञ्जनेनेव, व्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥

लिप्यताञ्ज्ञानसंपात, -प्रतिधाताय केवलम्।

निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥ ४ ॥

तपःश्रुतादिना मत्सः, क्रियावानपि लिप्यते ।

भाष्यनाज्ञानसंग्रहो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ४ ॥”

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

“छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः ।

मुखशोकं च मुच्छी च, दैन्यं यच्छति यत्कलम् ॥ ३ ॥”

ज्ञानसार, निःस्पृहाष्टक ।

“मिथोयुक्तपदार्थानां, मत्संक्रमचनक्रिया ।

चिन्मात्रपरिणामेन, विदूषैवानुभूयते ॥ ७ ॥

अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याब्जनस्पृशा ।

पश्यन्ति परमात्मानं, मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

“भवसौख्येन किं भूरि, भगज्वलनभस्मता ।

सदा मयोज्झानं ज्ञानं, सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥

न गोप्यं क्वापि नारोप्यं, हेयं देयं च न क्वचित् ।

क्व भयेन मुनेः स्थेयं, ज्ञेयं ज्ञानं पश्यतः ॥ ३ ॥

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्मोहचमुं मुनिः ।

विभेति नैव संग्राम, शीर्षस्थ इव नागराट् ॥ ४ ॥

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चे, तत्रमर्पति मनोवने ।

वेष्टतं भयसर्पाणां, न तदाऽऽनन्दनन्दने ॥ ५ ॥

कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म बिभर्ति यः ।

क्व भीमस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसंगरकेलिषु ॥ ६ ॥

तूलवत्लघवो मूढा, भ्रमन्त्यभ्रं भयानिलैः ।

नैकं रोमापि तैज्जति, गरिष्ठानां तु कम्पते ॥ ७ ॥

वही योगवाशिष्ठ में प्रज्ञानाहास्य के नाम से उल्लिखित है* ।

चित्ते परिणतं यस्य, चारित्र्यमकुतोभयम् ।

अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साक्षेः कुलोऽयम् ॥ ५ ॥

ज्ञानसार, निर्भयाष्टक ।

“अदृष्टार्थेतु भावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः ।

प्राप्नुवन्ति परं खेदं, प्रस्थलन्तः पदे पदे ॥ ४ ॥

“अज्ञानाहिमहामन्त्रं, स्वाच्छन्द्यज्वरसङ्घनम् ।

धर्मराममुधाकुर्या, शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥ ७ ॥

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।

शास्त्रैकस्य महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८ ॥

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक ।

“ज्ञानमेव वृथाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।

तदाम्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥

आनुस्रोतसिकी वृत्ति, शीलानां सुखशीलता ।

प्रातिस्रोतसिकी वृत्ति, ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥”

“सदुपायप्रवृत्तानां, मुपेयमसुरत्वतः ।

ज्ञानिनां नित्यमानन्द, बुद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥”

ज्ञानसार, तपोष्टक ।

“न तद्गुरोर्न शास्त्रार्था, न पुण्यात्प्राप्यते पदम् ।

यत्साधुसङ्गाम्युदिता, द्विचारविशदाद्धृदः ॥ १७ ॥

सुन्दर्या निजया बुद्धय्या, प्रलयेव वयस्यया ।

पदमासाद्यते राम, न ताम क्रिययाज्मया ॥ १८ ॥

यस्थोज्ज्वलति तीक्ष्णाया, पूर्वपरविचारिणी ।
 प्रज्ञादीपशिक्षा जातु, जाड्यान्धं तं न बाधते ॥१६॥
 दुरस्तरा या विपदो, दुःखकल्लोसंकुलाः ।
 तीर्यते प्रज्ञया ताम्यो, नाथाऽपद्म्यो महामते ॥१७॥
 प्रज्ञाविरहितं मूढ, मापदल्पापि बाधते ।
 पेलवाचानिलकला, सारहीनमिवोलपम् ॥१८॥
 “प्रज्ञावानसहायोऽपि, कार्यान्तमधिगच्छति ।
 दुष्प्रज्ञः कार्यमदसात्, पक्षान्मणिं लब्ध्वा ॥१९॥
 शास्त्रसज्जनसंसर्गः, प्रज्ञां पूर्वं विवर्धयेत् ।
 सेकसंरक्षणारम्भः, फलप्राप्तौ लजामिव ॥२०॥
 प्रज्ञाबलबृहन्मूलः, काले सत्कार्यपादप ।
 फलं फलत्यतिस्वादु भासोबिम्बमिवैन्दवम् ॥२१॥
 य एव यत्नः क्रियते, बाह्यार्थोपाजनं जनैः ।
 स एव यत्नः कर्तव्यः, पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२२॥
 सीमान्तं सर्वदुःखानां, मापदां कोशमुत्तमम् ।
 बीजं संसारवृक्षाणां, प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥२३॥
 स्वर्गाद्याद्यच्च पाताला, द्राज्याद्यत्समवाप्यते ।
 तत्समासाद्यते सर्वं, प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२४॥
 प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमा, तस्मात्संसारसागरात् ।
 न दानं च वा तीर्थं, स्तपसा न च राघव ॥२५॥
 यत्प्राप्ताः संपदं दैवी, मपि भूमिचरा नराः ।
 प्रज्ञापुष्पलतायास्त, स्फलं स्वादु समुत्थितम् ॥२६॥

प्रज्ञया नखराजून, मत्तवारणयूथपाः ।
 जम्बुकैर्विजिताः सिंहा, सिंहैर्हरेणिका इव ॥३१॥
 सामान्यैरपि भूपत्वं प्राप्तं प्रज्ञाद्वशात्तरैः ।
 स्वर्गापवर्गयोग्यत्वं प्राज्ञस्यैवेह दृश्यते ॥३२॥
 प्रज्ञया वादिनः सर्वे स्वविकल्पविलासिनः ।
 जयन्ति सुभटप्रख्या, क्षरानप्यतिमीरवः ॥३३॥
 चिन्तामणिरियं प्रज्ञा, हृत्कोशस्था विवेकिनः ।
 फलं कल्पलतेक्षेया, चिन्तितं न भ्रम्यच्छति ॥३४॥
 अथ्यस्तरति संसार, प्रज्ञयापीकृतेश्चमः ।
 शिक्षितः पारमाप्रोति, नावा नाप्रोत्यशिक्षितः ॥३५॥
 धीः सम्यग्योजिता पार, ससम्यग्योजिताऽपदम् ।
 नरं नयपि संसारे, भ्रमन्ती नौरिवार्णवे ॥३६॥
 विवेकिनमसंमूढं, प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।
 क्षोषा न परिबाधन्ते, सन्नद्धमिव सायकाः ॥३७॥
 प्रज्ञयेह जगत्सर्वं, सम्यगेवाङ्ग दृश्यते ।
 सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च संपदः ॥३८॥
 पिधानं परमाकस्य, जडात्मा विजताऽसितः ।
 अहंकाराम्बुदो मत्तः, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥

योगसम्बन्धी विचार ।

गुणस्थान और योग के विचार में अन्तर क्या है ? गुणस्थान के किंवा अज्ञान व ज्ञान-को भूमिकाओं के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि आत्मा का आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है और योग के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि मोक्ष का साधन क्या है । अर्थात् गुण-स्थान में आध्यात्मिक विकास के क्रम का विचार मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार मुख्य है । इस प्रकार दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व भिन्न-भिन्न होने पर भी एक के विचार में दूसरे की छाया अवश्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्ष के अन्तिम — अनन्तर या अव्यवहित — साधन को प्रयत्न ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकास के क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्पन्न होने वाले साधनों को सोपान-पथपर की तरह प्राप्त करता हुआ अन्त में चरम साधन को प्राप्त कर लेता है । अतः एव योग के—मोक्षसाधन विषयक विचार-में आध्यात्मिक विकास के क्रम की छाया आ ही जाती है । इसी तरह आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है, इसका विचार करते समय आत्मा के शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम- जो मोक्ष के साधनमूल हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है । इसलिए गुणस्थान के वर्णन-प्रसङ्ग में योग का स्वरूप संक्षेप में विष्ठा देना अप्रासङ्गिक नहीं है ।

योग किसे कहते हैं ? :— आत्मा का जो धर्म-व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु अर्थात् उपादन कारण तथा बिना विलम्ब से फल देने-वाला हो, उसे योग * कहते हैं । ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ

* “मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते ।

लक्षणं तेन तन्मुख्य-हेतुव्यापारतारय तु ॥ १ ॥

—योगलक्षण त्रिविधिका ।

भाष या शुभभावपूर्वक का आने वाला क्रिया * है । पातञ्जलदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग † कहा है । उसका भी वही मत-
तब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है, क्योंकि उसके
साथ कारण और कार्य-रूप से शुभ भाव का अवश्य सम्बन्ध
होता है ।

योग का आरम्भ कब से होता है? :-आत्मा अनादि काल से जन्म
मृत्यु-के प्रवाह में पड़ा है और उसमें नाना प्रकार के व्यापारों को
करता रहता है । इसलिये यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार-
को कब से योग स्वरूप माना जाय? । इसका उत्तर शास्त्र में ‡ यह दिया
गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्व से व्याप्त बुद्धिवाला, अत एव
दिङ्मूढ की तरह उत्पी विद्या में गति करने वाला अर्थात् आत्म-
लक्ष्य से भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान अथि शुभ-भाव

* 'प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा ।

सिद्धिश्च त्रिनियोगश्च, एते कर्मशुभाशयाः ॥ १० ॥'

'एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया ।

प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ १६ ॥'

—योगलक्षणवृत्तिशिक्षा ।

† 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २।

‡ 'मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात्, श्रफलाक्षेपाच्च दर्शितम् ।

चरमे पुद्गलावर्ते, यत एतस्य संभवः ॥ २ ॥

न सम्मार्गाभिमुख्यं स्या, -दावर्तेषु परेषु तु ।

मिथ्यात्वव्यग्रबुद्धीनां, दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥ ३ ॥

—योगलक्षणवृत्तिशिक्षा ,

रहित होने के कारण योग नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत जब से मिथ्यात्व का तिमिर कम होने के कारण आत्मा की भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्ग के अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापार को प्रणिधान आदि शुभ-भाव सहित होने के कारण 'योग' संज्ञा दी जा सकती है । सारांश यह है कि आत्मा के अनादि सांसारिक काल के दो हिस्से हो जाते हैं । एक चरमपुद्गलपरावर्त और दूसरा अचरम पुद्गलपरावर्त कहा जाता है । चरमपुद्गलपरावर्त अनादि सांसारिक काल का आखिरी और बहुत छोटा अंश * है । अचरमपुद्गलपरावर्त उसका बहुत बड़ा भाग है; क्योंकि चरमपुद्गलपरावर्त को बाद करके अनादि सांसारिक काल, जो अनन्तकालवत्-परिमाण है, वह सब अचरमपुद्गलपरावर्त कहलाता है । आत्मा का सांसारिक काल, जब चरमपुद्गलपरावर्त-परिमाण बाकी रहता है, तब उसके ऊपर से मिथ्यात्व-मोह का आवरण हटने लगता है । अतः एव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है । ऐसी क्रिया से भाव-शुद्धि और भी बढ़ती है । इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव-शुद्धि बढ़ते जाने के कारण चरमपुद्गलपरावर्तकालीन धर्म-व्यापार-को योग कहा है । अचरमपुद्गल परावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ-भावपूर्वक होता है और न शुभ-भाव का कारण ही होता है । इसलिये वह परस्पर से भी मोक्ष के न होने के सबब से योग नहीं कहा जाता । पातञ्जलदर्शन में भी अनादि सांसारिक काल के निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्तिविकार प्रकृति इस

* : "चरमावर्तिनो जन्तोः, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।

सूर्यासोऽभी व्यतिक्रान्ता, - स्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधी ॥ २८ ॥"

प्रकार दो भेद बतलाये हैं, जो शास्त्र के चरम और अचरम-पुद्गलपरा-
वर्त के जैन समानार्थक * हैं।

योग के भेद और उनका आधार—

जैनशास्त्र में † (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता
और (५) वृत्तिसंक्षय, ऐसे पाँच भेद योग के किये हैं। पातञ्जलदर्श-
न में योग के (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात, ऐसे दो भेद हैं। जो
मोक्ष का साक्षात्—अव्यवहित कारण हो अर्थात् जिसके प्राप्त होने के
बाद तुरन्त ही मोक्ष हो, वही यथार्थ में योग कहा जा सकता है।
ऐसा योग जैनशास्त्र के संकेतानुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जल-
दर्शन के संकेतानुसार असम्प्रज्ञात ही है। अत एव यह प्रश्न होता है
कि योग के जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है? इसका
उत्तर यह है कि अलक्षता वृत्तिसंक्षय किंवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष का
साक्षात् कारण होने से वास्तव में योग है। तथापि वह योग किसी
विकासगामी आत्मा को पहले ही पहल प्राप्त नहीं होता, किन्तु
इसके पहले विकास-क्रम के अनुसार ऐसे अनेक आन्तरिक धर्म-
व्यापार करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकास को बढ़ाने वाले और
अन्त में उस वास्तविक योग तक पहुँचाने वाले होते हैं। ये सब धर्म-
व्यापार योग के कारण होने से अर्थात् वृत्तिसंक्षय या असम्प्रज्ञात

* “योजनाद्योग इत्युक्तौ, मोक्षेण मुनिमतः सः ।

स निवृत्ताधिकारिणां, प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥ १४ ॥”

—अपुनर्बन्धद्वान्विशिका ।

† “अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः ।

योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः ॥ १ ॥”

—योगभेदद्वान्विशिका ।

‡ देखिये, पाद १, सूत्र १७ और १८ ।

योग के साक्षात् किंवा परम्परा से हेतु होने से योग कहे जाते हैं। सारांश यह है कि योग के भेदों का आधार विकास का क्रम है। यदि विकास क्रमिक न होकर एक ही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योग के भेद नहीं किये जाते। अतः एव वृत्तिसंशय जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, उसको प्रधान योग समझना चाहिये और उसके पहले के जो दोष धर्म-व्यापार योगकोटि में गिने जाते हैं, वे प्रधान योग के कारण होने से योग कहे जाते हैं। इन सब व्यापारों की समष्टि को पातञ्जलदर्शन में सम्प्रज्ञात कहा है और जैन-शास्त्र में शुद्धि के तर-तम-भावानुसार उस समष्टि के अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं। वृत्तिसंशय के प्रति साक्षात् किंवा परम्परा से कारण होने वाले व्यापारों को जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभावों व्यापार कब से लेने चाहिये। किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि अक्षरमपुद्गलपरावर्तकाल से जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योगकोटि में गिने जाने चाहिये। इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्ष के अनुकूल अर्थात् धर्म-व्यापार हो जाते हैं। इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें, पर अक्षरमपुद्गलपरावर्तकालीन व्यापार मोक्ष के अनुकूल नहीं होते।

योग के उपाय और गुणस्थानों में योगावतारः—

पातञ्जलदर्शन में (१) अभ्यास और (२) धैर्य, ये दो उपाय योग के बतलाये हुए हैं। उसमें धैर्य भी पर-अपर-रूप से दो प्रकार का कहा गया है *। योग का कारण होने से धैर्य की योग मानकर जैन-शास्त्र में अपर-धैर्य को अतात्त्विक धर्मसंन्यास और परधैर्य को ता-

* देखिये, पाद, १, सूत्र, १२, १४ और १६।

त्त्विक धर्मसंन्यासयोग कहा * है। जैन-शास्त्र में योग का आरम्भ पूर्व-सेवा से माना गया † है। पूर्व सेवा से अध्यात्म, अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समता से वृत्तिसंशय और वृत्तिसंशय से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये वृत्तिसंशय ही मुख्य योग है और पूर्व सेवा से लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् किंवा परम्परा से योग के उपायमार्ग हैं। अष्टावंगी, जो मिथ्यात्व को त्यागने के लिये तत्पर और सम्यक्त्व-प्राप्ति के अभिमुख होता है, उसको पूर्वसेवा तात्त्विक रूप से होती है और सकृन्धक, त्रिबन्धक आदि को पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्बन्धक तथा सम्यग्दृष्टि की व्यक्ता-नय से तात्त्विक और वेश-विरति तथा सर्व-विरति को निश्चयनय से तात्त्विक होते हैं। अग्रमत्त, सर्वविरति आदि गुणस्थानों में ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विकरूप से होते हैं। वृत्तिसंशय तेर-

*“विषयदोषदर्शनजनितमापात् धर्मसंन्यासलक्षणं प्रथमम्, स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि-तात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यं, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते आधिकारबोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः ॥”

—श्रीयशोविजयजी—कृत पातञ्जल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।

†“पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवादिपूजनम्।

सदाचारस्तपो मुक्त्य, द्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ॥१॥”

—पूर्वसेवाद्वात्रिशिका।

‡“उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा, मन्स्य एकावशिष्यते।

तप्यञ्चगुणस्थाना, दुपायोऽर्वागिति स्थितिः ॥३१॥”

—योगभेदद्वात्रिशिका।

हवें और चौबहवें गुणस्थान में होता* है । सम्प्रज्ञातयोग अध्यात्म-
से लेकर ध्यान पर्यन्त के चारों भेदस्वरूप हैं और असम्प्रज्ञातयोग
वृत्तिसंक्षयरूप है । इसलिये चौथे से बारहवें गुणस्थान तक में
सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौबहवें गुणस्थान में असम्प्रज्ञातयोग
समझना चाहिए † ।

“शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो, वर्धमानगुणः स्मृतः ।

भवाभिनन्दिदोषाणा, मपुनर्वन्धको व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वसेवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः ।

अस्यावस्थान्तरं मार्गं, पतिताभिमुखो पुनः ॥ २ ॥”

—अपुनर्वन्धकद्वान्त्रिशिका ।

“अपुनर्वन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः

अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ १४ ॥

सकृदावर्तनादीना, भूतात्त्विक उदाहृतः ।

प्रत्यपायफलप्राय, स्तथा वेषादिमाश्रतः ॥ १५ ॥

शुद्धमपेक्षा यथायोगं, चारित्र्यवत् एव च ।

हन्त ध्यानादिको योग, स्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥ १६ ॥”

—योगविवेकद्वान्त्रिशिका ।

† “संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः ।

तात्त्विकी च समापत्ति, नात्मनो भाव्यतां विना ॥ १५ ॥

“असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः ॥

सर्वतोऽस्मादकरण, नियमः पापगोचरः ॥ २१ ॥”

—योगावतारद्वान्त्रिशिका ।

पूर्वसेवा आदि शब्दों की व्याख्या:—

[१] गुरु, देव आदि पूज्यवर्ग का पूजन, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अह्वेय, यह 'पूर्वसेवा' कहलाती है । [२] उचित प्रवृत्तिरूप अणुव्रत-महाव्रत-धुक्त होकर मैत्री आदि भावनापूर्वक जो शास्त्रानुसार तत्त्व-चिन्तन करना, वह 'अध्यात्म'* है । [३] अध्यात्म का बुद्धिसंगत अधिकाधिक अभ्यास ही 'भावना'† है । [४] अग्न्य विषय के संचार से रहित जो किसी एक विषय का धारावाही प्रशस्त सूक्ष्मबोध हो, वह 'ध्यान'‡ है । [५] अविद्या से कल्पित जो दृष्ट-अनिष्ट वस्तुएँ हैं, उनमें विवेकपूर्वक तत्त्व-बुद्धि करना अर्थात् दृष्ट-तत्त्व-अनिष्टत्व की भावना छोड़कर उपेक्षा धारण करना 'समता'§ है । [६] मन और शरीर के संयोग से उत्पन्न होने वाली विकल्पवय तथा चेष्टारूप वृत्तियों का निर्मूल नाश करना 'वृत्तिसंक्षय'× है ।

* "औचित्याद्वत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।

मैत्र्यादिभावसंयुक्त, -मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ २ ॥"

—योगभेदद्वान्विशिका ।

† "अभ्यासो वृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगतः ।

निवृत्तिरशुभाभ्यासा, द्वाववृद्धिश्च तत्फलम् ॥ ६ ॥"

—योगभेदद्वान्विशिका ।

‡ "उपयोगे विजातीय, प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।

शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभीगसमन्वितम् ॥ ११ ॥"

—योगभेदद्वान्विशिका ।

+ "व्यवहारकुदृष्टयोर्च्चै, रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।

कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥ २२ ॥"

—योगभेदद्वान्विशिका ।

× "विकल्पस्पन्दरूपाणां, वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।

अपुनर्भवितो रोषः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥ २४ ॥"

—योगभेदद्वान्विशिका ।

उपाध्याय श्रीश्रीविजयजी ने अपनी पातञ्जलगूत्र वृत्ति में वृत्तिसंशय शब्द की उक्त व्याख्या की अपेक्षा अधिक विस्तृत व्याख्या की है । उसमें वृत्ति का अर्थात् कर्तृसंयोग की योग्यता का संशय—ह्रास, जो ग्रन्थिभेद से शुरू होकर चौवहवें गुणस्थान में समाप्त होता है, उसी को वृत्तिसंशय कहा है और शुरुकध्यान के पहले दो भेदों में सम्प्रज्ञात का तथा अन्तिम दो भेदों में असम्प्रज्ञात का समावेश किया है ।

योगजन्य विभूतियाँ:—

योग से होनेवाली ज्ञान, मनोबल-वचनबल, शरीरबल आदि सम्बन्धिनी अनेक विभूतियों का वर्णन पातञ्जल-दर्शन में है । जैन, शास्त्र में वैक्यलब्धि, आहारकलब्धि, अवधिज्ञान मनःपर्याय, ज्ञान आदि सिद्धियाँ ‡ वर्णित हैं, सो योग का ही फल है ।

बौद्धदर्शन में भी आत्मा की संसार, मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हुई हैं । इसलिये उसमें आध्यात्मिक क्रमिक विकास का वर्णन होता स्वाभाविक है । स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरूप की परा-काष्ठा प्राप्त कर लेने तक की स्थिति का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में + है, जो

* द्विविधोऽयमध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिसंशयभेदेन पञ्च-
धोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति" इत्यादि ,

—पाद १, सू० १८ ।

† देखिये, तीसरा विभूतिपाद ।

‡ देखिये, आवश्यक-निर्वृक्ति, ग० ६६ और ७० ।

+ देखिये, प्रो० सि० वि० राजवाड़े-सम्पादित मज्झिमनिकायः—

सू० पे० सू० पे० सू० पे० सू० पे०

६. २, २२. १५, ३४. ४, ४८. १० ।

पाँच विभागों में विभाजित है । इनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) धर्मानुसारी, (२) सोतापन्न (३) सकवागामी. (४) अनागामी और (५) अरहा । (१) इनमें से 'धर्मानुसारी' या 'अद्वानुसारी' वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्ग के अर्थात् मोक्षमार्ग के अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो । इसी को जैनशास्त्र में 'मार्गानुसारी' कहा है और उसके पैंतीस गुण बतलाये हैं* । (२) मोक्षमार्ग को प्राप्त किये हुए आत्माओं के विकास की न्यूनताधिकता के कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं । जो आत्मा अविनिपातधर्मा नियत और सम्बोधपरायण हो, उसको 'सोतापन्न' कहते हैं । सोतापन्न आत्मा सातवें जन्म में अवश्य निर्वाण पाता है । (३) 'सकवागामी' उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोक में जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो । (४) जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके ब्रह्म लोक से सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, वह 'अनागामी' कहलाता है । (५) जो सम्पूर्ण आसक्तियों का क्षय करके कृतकार्य हो जाता है, उसे 'अरहा' † कहते हैं ।

धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच अवस्थाओं का वर्णन मज्झिम-निकाय में बहुत स्पष्ट किया हुआ है । उसमें वर्णन ‡ किया है कि तत्कासजात वत्स, कुक्ष बड़ा किन्तु दुर्बल वत्स, प्रौढ़ वत्स, हल में जोतने लायक बलवान् बैल और पूर्ण वृषभ जिस प्रकार उत्तरोत्तर अल्प-अल्प धम से गङ्गा नदी के तिरछे प्रवाह को पार कर लेते हैं,

* देखिये, श्रीहेमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश १ ।

† देखिये, प्रो० राजवाड़े-संपादित मराठीभाषान्तरित दीघ-निकाय, पृ० १७६ टिप्पणी ।

‡ देखिये, पृ० १५६ ।

वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकार के आत्मा भी मार—
काम के वेग को उत्तरोत्तर अल्प अल्प से जीत सकते हैं ।

बौद्ध-शास्त्र में वस संयोजनाएँ—बन्धन वर्णित * हैं । इनमें से
पाँच 'ओरंभागीय' और पाँच 'उद्धंभागीय' कही जाती हैं । पहली
तीन संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर सोत्तापन्न-अवस्था प्राप्त
होती है । इसके बाद राग, द्वेष और मोह क्षियित होने से सकदा-
गाभी-अवस्था प्राप्त होती है । पाँच ओरंभागीय संयोजनाओं का
नाश हो जाने पर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागरमी-
अवस्था प्राप्त होती है और वसों संयोजनाओं का नाश हो जाने पर
अरहा पर मिलता है । यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्म-प्रकृतियों के
क्षय के वर्णन जैसा है । सोत्तापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओं का
विचार चौथे से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों के विचारों से
मिलता-जुलता है अथवा यों कहिये कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ
आदि गुणस्थानों का संक्षेप मात्र हैं ।

जैसे जैन-शास्त्र में लब्धिका तथा योगवर्शन में योगविभूति का
वर्णन है, वैसे ही बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक-विकास-कालीन
सिद्धियों का वर्णन है, जिनको उन्होंने 'अभिता' करते हैं । ऐसी अभि-
ज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही
गयी † है ।

* (१) सक्कायदिदिठ, (२) विचिकिच्छा, (३) सीलब्धत
परमाप्त, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७)
अरूपराग (८) मान, (९) उद्धञ्ज और (१०) अविज्जा ।

मराठीभाषान्तरित दीधनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी ।

† देखिये—मराठीभाषान्तरित दीधनिकाय, पृ० १५६ ।

बौद्ध-शास्त्र में बोधिसत्त्व का जो लक्षण * है, वही जैन-शास्त्र के अनुसार सम्यग्दृष्टि का लक्षण है । जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह यदि गृहस्थ के आरम्भ-समारम्भा आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तप्तलोहपदन्यासवत् अर्थात् गरम लोहे पर रखे जाने वाले पैर के समान सकम्प या पाप-भीर होती है । बौद्ध-शास्त्र में भी बोधिसत्त्व का वैसा ही स्वरूप भानकर उसे कायपाती अर्थात् शरीर मात्र से [चित्त से नहीं] सांसारिक प्रवृत्ति में पड़ने वाला कहा है † । वह चित्त पाती नहीं होता ।

इति ।

* “कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोक्षितम् ।

न चित्तपातिनस्ताव, देवदत्रापि युक्तिमत् ॥ १० ॥”

—योगबिन्दु ।

† “एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम् ।

विचार्यमाणं सन्तीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥ १० ॥

तप्तलोहपदन्यास, —तुल्यावृत्तिः कर्तृचिद्यदि ।

इत्युक्तेः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ॥ ११ ॥”

—सम्यग्दृष्टिप्रवर्धिका ।

श्रीबीतरागाय नमः ।

श्रीनेत्रेन्द्रसूरि-विरचित 'षडशीतिक' नामक

चौथा कर्मग्रन्थ ।



संगल और विषय ।

नमिय जिणं जिअमग्गण, - गुणठणुवओगओगलेसाओ ।

बन्धप्पबहुभावे, संखिउजाई किमपि वुच्छं ॥ १ ॥

नत्वा जिनं जीवमार्गणागुणस्थानोपयोगयोगलेश्याः ।

बन्धात्यबहुत्वभावान् संख्येयादीन् किमपि वक्ष्ये ॥ १ ॥

अर्थ — श्रीजिनेश्वर भगवान् को नमस्कार करके जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव और संख्या आदि विषयों को मैं संक्षेप से कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ — इस गाथा में चौबह विषय संगृहीत हैं, जिनका विचार अनेक रीति से इस कर्मग्रन्थ में किया हुआ है । इनमें से जीवस्थान आदि दस विषयों का कथन तो गाथा में स्पष्ट ही किया गया है, और उदय, उदीरणा, सत्ता और चन्वहेतु, ये चार विषय 'बन्ध' शब्द से सूचित किये गये हैं ।

इस ग्रन्थ के तीन विभाग हैं:—(१) जीवस्थान, (२) मार्गजास्थान और (३) गुणस्थान । पहले विभाग में जीवस्थान को लेकर आठ विषय का विचार किया गया है; यथा:—(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उबीरणा और (८) सत्ता । दूसरे विभाग में मार्गजास्थान पर छह विषयों की विवेचना की गई है:—(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्पबहुत्व । तीसरे विभाग में गुणस्थान को लेकर बारह विषयों का वर्णन किया गया है:—(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्धहेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उबीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव और (१२) संख्यात आवि संख्या ।

१ -- इन विषयों की संग्रह-गाथायें ये हैं:--

‘‘तमिथ जिणं वसन्वा, चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा ।

जोगुवअंगो लेसा, बंधुदओदीरणा सत्ता ॥ १ ॥

सह भूलचउदसगण,--ठाणेसु बासट्टि उत्तरेसुं च ।

जिअगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहुं च छट्ठाणा ॥ २ ॥

चउदसगुणेसु जिअजो, गुवओगलेसा च बंधहेऊ य ।

बंधाइचउअप्पा, बहुं च तो भावसंखाई ॥ ३ ॥’’

ये गाथायें श्रीजीवविजयजी-कृत और श्रीजयसोमसूरि-कृत टबे में हैं । इनके स्थान में पाठान्तरवाली निम्नलिखित तीन गाथायें प्राचीन चतुर्थ कर्म-ग्रन्थ हारिमद्री टीका, श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत स्कोपज्ञ टीका और श्रीजयसोमसूरि-कृत टबे में भी हैं:—

‘‘चउदसजिअठाणेसु, चउदसगुणठाणगाणि जोगा य ।

उदयोगलेसबंधुद,--ओदीरणसंत अट्ठपए ॥ १ ॥

जीवस्थान आदि विषयों की व्याख्या ।

(१) जीवों के सूक्ष्म, बाबर आदि प्रकारों (भेदों) को 'जीवस्थान', कहते हैं । द्रव्य और भाव प्राणों को जो धारण करता है, वह 'जीव' है । पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, व्यासोच्छ्वास और आयु, ये दस द्रव्यप्राण हैं, क्योंकि वे जड़ और कर्म-अस्थ हैं । ज्ञान, दर्शन आदि परमायु, जो जीव के गुणों के ही कार्य हैं, वे भावप्राण हैं । जीव की यह व्याख्या संसारी अवस्था को लेकर की गई है, क्योंकि जीवस्थानों में संसारी जीवों का ही समावेश है; अत एव वह सूक्त जीवों में लागू नहीं पड़

चउदससगुणठाणे, सुमूलपएसु बिसट्ठि इयरेसु ।

जियगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहुं च छट्ठाणा ॥ २ ॥

चउदसगुणठाणेसुं, जियजोगुवओगलेसबंधा य ।

बधुदयुदीरणाओ, संतप्पबहुं च दस ठाणा ॥ ३ ॥

१—जीवस्थान के अर्थ में 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग भी दिगम्बरीय साहित्य में मिलता है । इसकी व्याख्या उसमें इस प्रकार है:—

जेहि अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।

ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा ति विण्णेया ॥७०॥

तसच्चदुज्जाणमज्जे, अविद्वेहि जुदजादिकम्ममुदये ।

जीवसमासा होति हु, तवभवसाग्च्छिसामणा ॥७१॥

—जीवकाण्ड ।

जिन धर्मों के द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक जातियों का बोध होता है, वे 'जीवसमास' कहलाते हैं ॥७०॥ तथा प्रस, बाबर, पर्याप्त और प्रत्येक युगल में से अविद्वद् नामकर्म (जैसे-सूक्ष्म से अविद्वद् स्थावर) के उदय से युक्त जाति नामकर्म का उदय होने पर जो ऊर्ध्वतासामान्य, जीवों में होती है, वह 'जीवसमास' कहलाता है ॥ ७१ ॥

कालक्रम से अनेक अवस्थाओं के होने पर भी एक ही वस्तु का जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है, वह 'ऊर्ध्वतासामान्य' है । इससे उलटा एक समय में ही अनेक वस्तुओं की जो परस्पर समानता देखी जाती है, वह 'तिर्यक्तासामान्य' है ।

सकती । मुक्त जीव में निश्चय दृष्टि से की हुई व्याख्या धरती है; जैसे:—जिसमें चेतना गुण है, वह 'जीव' इत्यादि है ।

(२) मार्गणा के अर्थात् गुणस्थान, योग, उपयोग आदि की विचारणा के स्थानों (विषयों) को 'मार्गणास्थान' कहते हैं । जीव के गति इन्द्रिय आदि अनेक प्रकार के पर्याय ही ऐसे स्थान हैं, इसलिये ये मार्गणास्थान कहलाते हैं ।

(३) ज्ञान, वर्णन, चरित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होने वाले जीव के भिन्न भिन्न स्वरूपों को गुणस्थान^१ कहते हैं ।

१--"तिष्काले चक्षु पाणा, इन्द्रियबलमाउआणपाणो य ।

ववहारा सो जीवो, णिच्छमणयदो दुचेदणा जस्स ॥३॥"

—द्रव्यसंग्रह ।

२--इस बात को गोम्मटसार-जीवकाण्ड में भी कहा है:—

"जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा ।

ताओ चांदस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होति ॥१४०॥"

जिन पदार्थों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में जीवों की विचारणा, सर्वज्ञ ॐ दृष्टि के अनुसार की जावे, वे पर्याय 'मार्गणास्थान' हैं ।

गोम्मटसार में 'विस्तार' 'आदेश' और 'विशेष', ये तीन शब्द मार्गणास्थान के नामान्तर माने गये हैं । —जी०, गा० ३ ।

३--इसकी व्याख्या गोम्मटसार-जीवकाण्ड में इस प्रकार है:—

"जेहि दु लक्खिज्जते, उदयादिसु संभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुणसण्णा, णिट्ठिट्ठा सब्बदरसीहि ॥५॥"

दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के औदयिक आदि जिन भावों (पर्यायों) के द्वारा जीव का बोध होता है, वे भाव 'गुणस्थान' हैं ।

गोम्मटसार में 'संक्षेप', 'ओष', 'सामान्य' और 'जीवसमाप्त', ये चार शब्द गुणस्थान के समानार्थक हैं । —जी०, गा० ३ तथा १० ।

जीवस्थान, मार्गनास्थान और गुणस्थान, ये सब जीव को अवस्थार्थ हैं, तो भी इनमें अन्तर यह है कि जीवस्थान, जाति-नामकर्म, पर्याप्त-नामकर्म और अपर्याप्त-नामकर्म के औद्योगिक भाव हैं; मार्गनास्थान, नाम, मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीयकर्म के औद्योगिक आवि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप हैं और गुणस्थान, सिर्फ मोहनीय कर्म के औद्योगिक, आयोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभावरूप हैं।

(४) चेतना-शक्ति का बोधरूप व्यापार, जो जीव का असाधारण स्वरूप है और जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं।

(५) मन, इन्द्रिय या काय के द्वारा होनेवाला वीर्य-शक्ति का परि-स्पर्ध—आत्मा के प्रदेशों में हलचल (कम्पन)—'योग' है।

(६) आत्मा का सहजरूप स्फटिक के समान निर्मल है। उसके सिन्न भिन्न परिणाम जो कृष्ण, नील आदि अनेक रंगवाले पुद्गल-विशेष के असर से होते हैं, उन्हें 'लेख्या' कहते हैं^१।

(७) आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का जो दूध-पानी के समान सम्बन्ध होता है, वही 'बन्ध' कहलाता है। बन्ध, मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है।

१—गोम्मटसार-जीवकाण्ड में यही व्याख्या है।

“वस्तुनिमित्तं भावो, जावो जीवस्य जो बु उवजीवो।

सो बुविहो नाथव्यो, सायारो चैव नायारो ॥६७१॥”

२—देखिये, परिशिष्ट 'क'।

३—“कृष्णादिद्रव्य साचिख्यात्परिणामोऽयमात्मनः।

स्फटिकस्यैव तत्राऽयं, लेख्याशब्दः प्रवर्तते ॥”

यह एक प्राचीन श्लोक है। जिसे श्रीहरिमद्रसूरि ने आवश्यक-टीका पृष्ठ

^{१५५} पर प्रमाण रूप से लिया है।

(८) बंधे हुए कर्म-बलिकों का विपाकानुभव (कलोदय) “उदय” कहलाता है । कभी तो विपाकानुभव, अबाधाकाल^१ पूर्ण होने पर होता है और कभी नियत अबाधाकाल पूर्ण होने के पहले ही अपवर्तना^२ आवि करण से होता है ।

(९) जिस कर्म-बलिकों का उदयकाल न आया हो, उन्हें प्रयत्न-विशेष से खींचकर-बन्धकालीन स्थिति से हटाकर-उदयबलिका में बालित करना ‘उदीरणा’ कहलाती है ।

(१०) बन्धन^३ या संक्रमण^४ करण से ओ कर्म-पुद्गल, जिस कर्मरूप-में परिणत हुये हों, उनका, निजंरा^५ या संक्रम^६ से रूपांतर न होकर उस स्वरूप में बना रहना ‘सत्ता’^७ है ।

१—बंधा हुआ कर्म जितने काल तक उदय में नहीं आता, वह ‘अबाधा-काल’ है ।

२—कर्म के पूर्व-वृद्ध स्थिति और रस, जिस वीर्य-शक्ति से घट जाते हैं, उसे ‘अपवर्तनाकरण’ कहते हैं ।

३—जिस वीर्य-विशेष से कर्म का बन्ध होता है, वह ‘बन्धनकरण’ कहलाता है ।

४—जिस वीर्य-विशेष से एक कर्म का अन्य सजातीय कर्मरूप में संक्रम होता है, वह ‘संक्रमणकरण’ है ।

५—कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से असंग होना ‘निजंरा’ है ।

६—एक कर्म-रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्मरूप में बदल जाना ‘संक्रम’ है ।

७—बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता के ये ही लक्षण यथाक्रम से प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ-के भाष्य में इस प्रकार है—

“जीवस्स पुग्गलाण य जुग्गाण पक्खरं अनेएणं

मिच्छ(इहेउविहििया, जा पज्जना इत्थ सो वसो ॥ ३० ॥

करणेण सहायेण ,य णिहवच्चए तेसिमुवधपत्ताणं ।

जं वेयणं विवातो,—ण सोउ उदओ जिणामिहिओ ॥ ३१ ॥

(११) मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामों से कर्म-योग्य पुद्गल,, कर्म-रूप में परिणत हो जाते हैं, उन परिणामों को 'बन्धहेतु' कहते हैं ।

(१२) पदार्थों के परस्पर न्यूनाधिक भाव को 'अल्पबहुत्व' कहते हैं ।

(१३) जीव और अजीव की स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था-को 'भाव' कहते हैं ।

(१४) संख्यात, असंख्यात और अनन्त, ये तीनों पारिभाषिक संज्ञायें^१ हैं ।

विषयों के क्रम का अभिप्राय

सबसे पहले जीवस्थान का निर्वेश इसलिये किया है कि यह सबमें मुख्य है, क्योंकि मार्गणास्थान आदि अन्य सब विषयों का विचार जीव को लेकर ही किया जाता है । इसके बाद मार्गणास्थान के निर्वेश करने का मतलब यह है कि जीव के व्यवहारिक या परमाधिक स्वरूप का जोष किसी-न-किसी गति आदि पर्याय के (मार्गणास्थान के) द्वारा ही किया जा सकता है । मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान के निर्वेश करने का मतलब यह है कि जो जीव मार्गणास्थानवर्ती हैं, वे किसी-न-किसी गुणस्थान में वर्तमान होते ही हैं ।

कस्मानृणं जाए, करणविसेसेण ठिहुवस्यभावे ।

जं उवयावलियाए, पवेसणमुवीरणा ऐह ॥ ३२ ॥

बंधणसंकमलद्ध, — तत्ताहुकम्मस्सरुवअविणारो ।

निज्जरणसंकसेहि, सव्भावो जो थ सा सत्ता ॥ ३३ ॥

१—आत्मा के कर्मोदय-जन्य परिणाम 'वैभाविक परिणाम' हैं जैसे-क्रोध आदि

२—देखिये, आगे गाथा ५१-५२ ।

३—देखिये आगे गा० ७३ से आगे ।

गुणस्थान के बाद उपयोग के निर्वेश का तात्पर्य यह है कि जो उपयोग-गवान् हैं, उन्हीं में गुणस्थानों का सम्भव है; उपयोग-शून्य आकाश आदि में नहीं। उपयोग के अनन्तर योग के कथन का आशय यह है कि उपयोग वाले बिना योग के कर्म-ग्रहण नहीं कर सकते। जैसे:—सिद्ध। योग के पीछे लेश्या का कथन इस अभिप्राय से किया है कि योगद्वारा ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलों में भी स्थितिवन्ध व अनुभागबन्ध का निर्माण लेश्या ही से होता है। लेश्या के पश्चात् बन्ध के निर्देश का मतलब यह है कि जो जीव लेश्या-सहित हैं, वे ही कर्म बाँध सकते हैं। बन्ध के बाव अल्पबहुत्व का कथन करने से ग्रन्थकार का तात्पर्य यह है कि बन्ध करने वाले जीव, मार्गस्थान आदि में वर्तमान होते हुए आपस में अवश्य न्यूनाधिक हुआ करते हैं। अल्पबहुत्व के अनन्तर भाव के कहने का मतलब यह है कि जो जीव अल्पबहुत्व वाले हैं, उनमें औपशमिक आवि किसी-न-किसी भाव का होना पाया ही जाता है। भाव के बाद संख्यात आदि के कहने का तात्पर्य यह है कि भाववाले जीवों का एक दूसरे से जो अल्पबहुत्व है, उसका वर्णन संख्यात, असंख्यात आवि संख्या के द्वारा ही किया जा सकता है।



(१)-जीवस्थान-आधिकार ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

जीवस्थान ।

इह सुक्ष्मवायरेणि, दिक्षितिचउअसंसिनिपंधिदी ।

अपजत्ता पज्जता, कमेण च ऽदस जिघट्ठाणा^१ ॥ २ ॥

इह सूक्ष्मवायुरैकेन्द्रियद्वि त्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः ।

अपर्याप्ताः पर्याप्ताः, क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि ॥ २ ॥

अर्थ—इस लोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वायुर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुररिन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय, ये सातों भेद पर्याप्त अपर्याप्तरूप से दो दो प्रकार के हैं, इसलिये जीव के कुल स्थान (भेद) चौदह^२ होते हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ—यहाँ पर जीव के चौदह भेद बिछाये हैं, सो संसारी अवस्था को लेकर । जीवरुप सामान्य धर्म को अपेक्षा से समानता होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा से जीव अनन्त हैं; इनकी कर्म-जन्म अवस्थायें भी अनन्त हैं; इससे व्यक्तिशः ज्ञान-सम्पादन करना स्वप्न के लिये सहज नहीं । इसलिये विशेषदर्शी शास्त्रकारों ने सूक्ष्म एकेन्द्रियत्व आदि जाति की अपेक्षा से इनके चौदह वर्ग किये हैं, जिनमें सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सूक्ष्म नामकर्म का उदय हो ।
ऐसे जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । उनका शरीर इतना सूक्ष्म होता

१—यही गाथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ में ज्यों की त्यों है ।

२—ये भेद, पञ्चसंग्रह द्वार २, भा० ८२ में हैं ।

है कि यदि ये संख्यातीत इकट्ठे हों तब भी इन्हें आँखों से देख नहीं सकतीं; अतः एक इनको व्यवहार के अयोग्य कहा है।

बाहर एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनको बाहर नामकर्म का उदय हो। ये जीव, लोक के किसी किसी भाग में नहीं भी होते; जैसे, अविस्त—सोने, चाँदी आदि वस्तुओं में। यद्यपि पृथिवी-कायिक आदि बाहर एकेन्द्रिय जीव ऐसे हैं, जिनके अलग अलग शरीर, आँखों से नहीं देखते; तथापि इनका शारीरिक परिणमन ऐसा बाहर होता है कि जिससे वे समुदायरूप में दिखाई देते हैं। इसी से इन्हें व्यवहार-योग्य कहा है। सूक्ष्म या बाहर सभी एकेन्द्रियों के इन्द्रिय, केवल स्वप्ना होती है। ऐसे जीव, पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर ही हैं।

द्वीन्द्रिय वे हैं, जिनके स्वप्ना, जीम, ये दो इन्द्रियाँ हों; ऐसे जीव शङ्ख, सीप, कृमि आदि हैं।

त्रीन्द्रियों के स्वप्ना, जीम, नासिका, ये तीन इन्द्रियाँ हैं; ऐसे जीव जूँ, खटमल आदि हैं।

चतुरिन्द्रियों के उक्त तीन और आँख, ये चार इन्द्रियाँ हैं। भौरे, बिच्छू आदि की गिनती चतुरिन्द्रियों में।

पञ्चेन्द्रियों को उक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त काम भी होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पञ्चेन्द्रिय हैं। पञ्चेन्द्रिय दो प्रकार के हैं—(१) असंज्ञी और (२) संज्ञी। असंज्ञी वे हैं, जिन्हें संज्ञा न हो। संज्ञी वे हैं, जिन्हें संज्ञा हो। इस जगह संज्ञा का मतलब उस मानस शक्ति से है, जिससे किसी पदार्थ के स्वभाव का पूर्वापर विचार व अनुसन्धान किया जा सके।

द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सब तरह के जीव बाहर तथा अंत (चलने-फिरने-वाले) ही होते हैं।

१—देखिये, परिशिष्ट 'क'।

२—देखिये, परिशिष्ट 'ग'।

एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त उक्त सब प्रकार के जीव अपर्याप्त^१, पर्याप्त इस तरह दो दो प्रकार के होते हैं । (क) अपर्याप्त वे हैं, जिन्हें अपर्याप्त नामकर्म का उदय हो । (ख) पर्याप्त वे हैं, जिनको पर्याप्त नामकर्म का उदय हो ॥२॥

(१.—जीवस्थानों में गुणस्थान ।

बाधरअसंनिविगले, अपज्जि पढमच्चिय स'नि अपजत्ते ।
अजयजुअ स'नि पज्जे, सठवगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥

बाधरासंज्ञिविकलेऽप्यर्याप्ते प्रथमाद्विकं संज्ञिन्यपर्याप्ते ।

अयत्तमुत्तं संज्ञिनि पर्याप्ते, सर्वगुणा मिध्यात्वं शेषेषु ॥ ३ ॥

अर्थ—अपर्याप्त बाधर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय में पहला दूसरा दोही गुणस्थान पाये जाते हैं । अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रिय में पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान हो सकते हैं । पर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रिय में सब गुणस्थानों का सम्भव है । शेष सात जीवस्थानों में—अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बाधर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रय में पहला ही गुणस्थान होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—बाधर एकेन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय, इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानों में दो गुणस्थान कहे गये हैं; पर इस विषय में यह जानना चाहिये कि दूसरा गुणस्थान करण-अपर्याप्त-में होता है, लब्धि-अपर्याप्त में नहीं; क्योंकि सास्यावनसम्पन्नाष्टि वाला जीव, लब्धि-अपर्याप्तरूप से पैदा होता ही नहीं । इसलिये करण-

अपर्याप्त बाहर एकेन्द्रिय आवि उक्त पाँच जीवस्थानों में दो गुणस्थान और लक्ष्य-अपर्याप्त बाहर एकेन्द्रिय आवि पाँचों में पहला ही गुण-स्थान समझना चाहिये ।

बाहर एकेन्द्रिय में दो गुणस्थान कहे गये हैं सो भी सब बाहर एकेन्द्रियों में नहीं; किन्तु पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पति-कायिक में । क्योंकि तेजःकायिक और वायुकायिक जीव, चाहे वे बाहर हों पर उनमें ऐसे परिणाम का सम्भव नहीं जिससे सास्वा-वनसम्यक्त-युक्त जीव उनमें पैदा हो सके । इसलिये सूक्ष्म के समान बाहर तेज-कायिक-वायुकायिक में पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये ।

इस जगह एकेन्द्रियों में दो गुणस्थान पाये जाने का कथन है, सो कर्मग्रन्थ के मतानुसार; क्योंकि सिद्धान्त में एकेन्द्रियों को पहला ही गुणस्थान माना है ।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में तीन गुणस्थान कहे गये हैं, सो इस अपेक्षा से कि जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान-सहित मर कर संज्ञि-पञ्चेन्द्रियरूप से पैदा होता है तब उसे अपर्याप्त अवस्था में चौथे गुणस्थान का सम्भव है । इस प्रकार जो जीव सम्यक्त्वका त्याग करता हुआ सास्वावन भाव में वर्तमान होकर संज्ञिपञ्चेन्द्रियरूप से पैदा होता है, उसमें शरीर पर्याप्त पूर्ण न होने तक दूसरे गुणस्थान का सम्भव है और अन्य सब संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीवों को अपर्याप्त अवस्था में पहला गुणस्थान होता ही है । अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में तीन

१—देखिये ४२ वीं गाथा की टिप्पणी ।

२—गोम्मटसार में तेरहवें गुणस्थान के समय निवृत्तिसमुद्भात-अवस्था में योग की अपूर्णता के कारण अपर्याप्तता मानी हुई है, तथा छठे गुणस्थान के समय भी आहारकमिश्रकाययोग-दशा में आहारक शरीर पूर्ण न बन जाने तक अपर्याप्तता मानी हुई है । इसलिये गोम्मटसार (जीव० गा० ११५-११६) में निवृत्त्यपर्याप्त और (श्वेताम्बरसम्प्रदाय-प्रसिद्ध

गुणस्थानों का सम्भव विखाया, सो करण-अपर्याप्त में; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त में तो पहले के सिद्धांत मिली गुणस्थान की योग्यता ही नहीं होती ।

पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में सब गुणस्थान माने जाते हैं । इसका कारण यह है कि गर्भज मनुष्य, जिसमें सब प्रकार के शुभाशुभ तथा शुद्धाशुद्ध परिणामों की योग्यता होने से चौदहों गुणस्थान पाये जा सकते हैं, वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय ही हैं ।

यह शङ्का हो सकती है कि संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में पहले बारह गुणस्थान होते हैं, पर तेरहवाँ चौदहवाँ, ये दो गुणस्थान नहीं होते । क्योंकि इन दो, गुणस्थानों के समय संज्ञित्व का अभाव हो जाता है । उस समय क्षायिक ज्ञान होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानात्मक संज्ञा, जिसे 'भावमन' भी कहते हैं, नहीं होती । इस शङ्का का समाधान इतना ही है कि संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान का जो कथन है सो ब्रह्ममन के सम्बन्ध से संज्ञित्व का व्यवहार अङ्गीकार करके; क्योंकि भावमन के सम्बन्ध से जो संज्ञी हैं, उनमें बारह ही गुणस्थान होते हैं' ।

करण-अपर्याप्त) संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में पहला, दूसरा, चौथा, छठा और तेरहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे गए हैं ।

इस कर्मग्रन्थ में करण-अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रिय में तीन गुणस्थानों का कथन है, सो उत्पत्तिकालीन अपर्याप्त-अवस्था को लेकर । गोम्मटसार में पाँच गुणस्थानों का कथन है, सो उत्पत्तिकालीन, लब्धिकालीन उभय अपर्याप्त-अवस्था को लेकर । इस तरह ये दोनों कथन अपेक्षाकृत होने से आपस में विरुद्ध नहीं है ।

लब्धिकालीन अपर्याप्त-अवस्था को लेकर संज्ञी में गुणस्थान का विचार करना हो तो पाँचवाँ गुणस्थान भी गिनना चाहिये, क्योंकि उक्त गुणस्थान में वैक्रियलब्धि से वैक्रियशरीर रचे जाने के समय अपर्याप्त-अवस्था पायी जाती है ।

१—यही बात सप्ततिकाचूर्ण के निम्नलिखित पाठ से स्पष्ट होती है:-

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय भावि उपर्युक्त शेष सात अवस्थानों में परिणाम ऐसे संक्षिप्त होते हैं कि जिससे उनमें मिथ्यात्व के सिवाय अन्य किसी गुणस्थान का सम्भव नहीं है ॥३॥



“मणकरणं केवलिणो वि अत्यि, तेन संनिणो भवन्ति, मनोबिन्नाणं पडुच्च ते संनिणो न भवन्ति ति ।”

केवली को भी द्रव्यमन होता है, इससे वे संजी कहे जाते हैं, परन्तु मनोज्ञान की अपेक्षा से वे संजी नहीं है। केवली अवस्था में द्रव्यमानके सम्बन्ध से संजित्व का व्यवहार गोम्मतसार जीवकाण्ड में भी माना गया है। यथा: —

“मणसहिघाणं वयणं, विट् तप्पुध्वमिदि सज्जोगम्हि ।

उत्तो मणोवयारे, —णिवियणाणेण हीणम्हि ॥२२७॥

अंगोवंगुदयादो, वयमण्डुं जिणिवचं वम्हि ।

मणवग्गण खंघाण, आगमणा वो दु मणजोगो ॥२२८॥

संयोगीकेवली गुणस्थान में मन न होने पर भी वचन होने के कारण उपचार से मन माना जाता है; उपचार का कारण यह है कि पहले गुणस्थानों में मनवालों को वचन देखा जाता है ॥२२७॥

जिनेश्वर को भी द्रव्यमान के लिये अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों का आगमन हुआ करता है; इसलिये उन्हें मनोयोग कहा है ॥२२८॥

(२)—जीवस्थानों में योग ।

[दो गाथाओं से ।]

अपञ्जत्तद्धृदिक कम्भुर, लभोसजोगा अपज्जसंतीसु ।

ते सखिउट्ठमीस एसु तणु पज्जेसु उरलमन्ते ॥४॥

अपर्याप्तघट के कामेणौदारिकमिश्रयोगावश्यात्संज्ञितु ।

तो सर्वक्रियामिश्रावेण तनुपर्याप्तेणौदारिकमन्ते ॥४॥

अर्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बाहर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त विकसन्निक और अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन छह प्रकार के जीवों में कामेण और औदारिकमिश्र, ये दो ही योग होते हैं । अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में कामेण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग पाये जाते हैं । अन्य आचार्य ऐसा मानते हैं कि, 'उक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव, जब शरीरपर्याप्ति पूरी कर लेते हैं, तब उन्हें औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं' ॥४॥

भावार्थ—सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त छह अपर्याप्त जीव-स्थानों में कामेण और औदारिकमिश्र दो ही योग माने गये हैं । इसका कारण यह है कि सब प्रकार के जीवों को अन्तरास गति में तथा जन्म-ग्रहण करने के प्रथम समय में कामेणयोग ही होता है; क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योग प्रवृत्ति केवल कामेणशरीर से होती है । परन्तु उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण बन जाने तक मिश्रयोग होता है; क्योंकि उस अवस्था में कामेण और औदारिक आदि

स्थूल शरीर की मदद से योगप्रवृत्ति होती है ।" सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छहों जीवस्थान औदारिक शरीर वाले ही हैं, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्था में कर्मणकाययोग के बाद औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है । उक्त छह जीवस्थान अपर्याप्त कहे गये हैं । सो सन्धि तथा करण, दोनों प्रकार से अपर्याप्त समझने चाहिये ।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में मनुष्य, तिर्यञ्च देव और-नारक सभी सम्मिलित हैं, इसलिये उसमें कर्मणकाययोग और कर्मणकाययोग के बाद मनुष्य और तिर्यञ्च की अपेक्षा से औदारिकमिश्रकाययोग तथा देव और नारक की अपेक्षा से वैक्रियमिश्रकाययोग, कुल तीन योग माने गये हैं ।

गाथा में जिस मतान्तर का उल्लेख है, वह शीलाङ्गु आदि आचार्यों का है । उनका अभिप्राय यह है कि "शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जाने से शरीर पूर्ण बन जाता है । इसलिये अन्य पर्याप्तियों की पूर्णता न होने पर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाती है तभी से मिश्रयोग नहीं रहता; किन्तु औदारिक शरीरवालों को औदारिककाययोग और वैक्रियशरीर वालों को वैक्रियकाययोग ही होता है ।" इस मतान्तर के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीव स्थानों में कर्मण, औदारिकमिश्र और औदारिक, ये तीन योग और

१—जैसे: —“औदारिकयोगस्तिर्यग्मनुजयोः शरीरपर्याप्तिरुर्ध्वं, तदा रतस्तु मिथः ।” आचारङ्ग-अध्य० २, उद्दे० १ की टीका पृ० २४ ।

यद्यपि मतान्तर के उल्लेख में गाथा में 'उर्ध्व' पद ही है; तथापि वह वैक्रियकाययोग का उपलक्षक (सूचक) है । इसलिये वैक्रियशरीरी देव-नारकों को शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद अपर्याप्त-दशा में वैक्रियकाययोग समझना चाहिये ।

इस मतान्तर को एक प्राचीन गाथा के आधार पर श्रीमन्नयगिरिजी ने पञ्चसंग्रह द्वा० १, गा० ६-७ की दृष्टि में विस्तारपूर्वक दिखाया है ।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में उक्त तीन तथा वैक्रियमिश्र और वैक्रिय, कुल पाँच योग समझने चाहिये ।”

उक्त मतान्तर के सम्बन्ध में टीका में लिखा है कि यह मत युक्ति-हीन है; क्योंकि केवल शरीरपर्याप्ति बन जाने से शरीर पूरा नहीं बनता; किन्तु उसकी पूर्णता के लिये स्वयोग्य सभी पर्याप्तियों का पूर्ण बन जाना आवश्यक है। इसलिये शरीरपर्याप्ति के बाद भी अपर्याप्त-अवस्था पर्याप्त मिश्रयोग मानना युक्त है ॥४॥

सर्वे सन्निपजत्ते, उरत्तं सुहुमे सभासु तं चउसु ।

वायरि सञ्जिउद्विदुगं, पञ्जसन्निमु द्वार उवओगा ॥५॥

सर्वे संज्ञिनि पर्याप्त औदारिकं सूक्ष्मे सभाष तच्चतुर्षु ।

बादरे सर्वैक्रियद्विकं, पर्याप्तसंज्ञिषु द्वादसोपयोगाः ॥५॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञी में सब योग पाये जाते हैं। पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय में औदारिककाययोग ही होता है। पर्याप्त विकलेन्द्रिय-त्रिक और पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानों में औदारिक और असंस्थामृषावचन, ये दो योग होते हैं। पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय में औदारिक, वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्र, ये तीन काययोग होते हैं। (जीवस्थानों में उपयोगः—) पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में सब उपयोग होते हैं ॥५॥

भावार्थ—“पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में वही पर्याप्तियाँ होती हैं” इसलिये उसकी योग्यता विशिष्ट प्रकार की है। अतएव उसमें चारों वचनयोग, चारों मनोयोग और सातों काययोग होते हैं।

“यद्यपि कर्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्था-भावी हैं तथापि ये संज्ञि-पञ्चेन्द्रियों में पर्याप्त-अवस्था में भी पाये जाते हैं।” कर्मण तथा औदारिकमिश्रकाययोग पर्याप्त-अवस्था में तब होते हैं, जबकि केवली भगवान् केवलि-समुद्धात रचते

हैं । केवलि-समुद्रात की स्थिति आठ समय—प्रमाण मानी हुई है; इसके तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कामणकाययोग और दूसरे, छठे तथा सातवें समय में औदारिकमिश्रकाययोग होता है। “वैक्रियमिश्रकाययोग, पर्याप्त-अवस्था में तब होता है, जब कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि आदि वैक्रियशरीर को बनाते हैं।”

आहारककाययोग तथा आहारकमिश्रकाययोग के अधिकारी, “चतुर्दशपूर्वधर मुनि हैं।” उन्हें आहारकशरीर बनाने व त्यागने के समय आहारकमिश्रकाययोग और उस शरीर को धारण करने के समय आहारकाययोग होता है। “औदारिककाययोग के अधिकारी, सभी पर्याप्त मनुष्य-तिर्यञ्च और वैक्रियकाययोग के अधिकारी, सभी पर्याप्त देव-नारक हैं।”

“सूक्ष्म-एकेन्द्रिय को पर्याप्त-अवस्था में औदारिकाययोग ही माना गया है। इसका कारण यह है कि उसमें जैसे मन तथा वचन की लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसलिये वैक्रियकाययोग आदि का उसमें सम्भव नहीं है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानों में पर्याप्त-अवस्था में व्यवहार भाषा-अस्त्यामृषामाषा होती है; क्योंकि उन्हें मुख होता है। काययोग, उनमें औदारिक ही होता है। इसी से उनमें दो ही योग कहे गये हैं।

१—यही बात भगवान् उभास्वातिने कही है:—

“औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययसारेमाविष्टः ।

मिश्रीदारिकयोक्ता सप्तमपष्ठद्वितीयेषु ॥

कामणशरीरयोगी, चतुर्थ के पञ्चमे तृतीये च ।

समयत्रयेऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७६॥”

—प्रश्नमरति अधि० २० ।

बादर-एकेन्द्रिय को—“पाँच स्थावर को, पर्याप्त-अवस्था में औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग माने हुये हैं । इनमें से औदारिक-काययोग तो सब तरह के एकेन्द्रियों को पर्याप्त-अवस्था में होता है, पर वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्र-काययोग के विषय में यह बात नहीं है । ये दो योग, “केवल बादरवायुकाय में होते हैं; क्योंकि बादरवायुकायिक जीवों को वैक्रियलब्धि होती है” । इससे वे जब वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब उन्हें वैक्रियमिश्रकाययोग और वैक्रियशरीर पूर्ण बन जाने के बाद वैक्रियकाययोग समझना चाहिये । उनका वैक्रियशरीर ध्वजा-कार माना गया है” ।

१—“आद्यं तिर्यग्मनुष्याणां देवनारकयोः परम् ।

केषांचिल्लब्धिमवाप्नुयुः—संक्षितिर्यग्मनुष्यामपि ॥ १४४ ॥”

—लोक प्रकाश सर्गः ३

“पहला (औदारिक) शरीर, तिर्यञ्चों और मनुष्यों को होता है; दूसरा (वैक्रिय) शरीर देवों, नारकों, लब्धिवाने वायुकायिकों और लब्धिवाने संक्षी तिर्यञ्च-मनुष्यों को होता है ।” वायुकायिक को लब्धिवान्य वैक्रिय शरीर होता है यह बात, तत्त्वार्थ मूल तथा उसके भाष्य में स्पष्ट नहीं है, किन्तु इसका उल्लेख भाष्य की टीका में है:—

“वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययभेद” इत्यादि ।

—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ४८ की भाष्य-वृत्ति ।

दिगम्बरीय साहित्य में कुछ विशेषता है । उसमें वायुकायिक के समान तेजःकायिक का भी वैक्रियशरीर का स्वामी कहा है । यद्यपि सर्वार्थ-सिद्धि में तेजःकायिक तथा वायुकायिक के वैक्रियशरीर के सम्बन्ध में कोई उल्लेख देखने में नहीं आया, पर राजवार्तिक में है:—

“वैक्रियिकं देवनारकाणां, तेजोवायुकायिकञ्चेन्द्रितिर्यग्मनुष्याणां च केषांचित् ॥”

—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ४६, राजवार्तिक ८ ।

यही बात गोम्मटसार-जीवकाण्ड में भी है:—

“बादरतेजःबाहु, पंचिदियपुष्पगा विगुब्ध्वन्ति ।

ओरालियं सरीरं, विगुब्धवर्णं हवे जेसि ॥२३२॥”

२—यह मन्तव्य श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान है:—

(३)--जीवस्थानों में उपयोग ।

पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में सभी उपयोग पाये जाते हैं; क्योंकि गर्भज-मनुष्य, जिनमें सब प्रकार के उपयोगों का सम्भव है, वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय हैं । उपयोग बारह हैं, जिनमें पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान, ये आठ साकार (विशेषरूप) हैं और चार वर्णन, ये निराकार (सामान्यरूप) हैं । इनमें से केवल ज्ञान और केवल वर्णन की स्थिति समयमात्र की और शेष छायास्थिक वस उपयोगों की स्थिति अन्त-मुहूर्त की मानी हुई है ।

“मरुतां तद्धवजाकार, द्वैधानामपि भूरुहाम् ।

स्युः शरीराण्यनियत, —संस्थानानीति तद्विदः ॥२५४॥”

—लो० प्र०, सू० ५ ।

“मसुरबुद्धिदिसूर्ई,—कलावधयसण्णिहो हवे देहो ।

पुढवी आदि चउण्हं, तरुतसकाया अण्येयविहा ॥२००॥”

—जीवकाण्ड ।

१—यह विचार, पक्षसं द्वा० १, गा० ८ में है ।

२—छायास्थिक उपयोगों की अन्तमुहूर्त-प्रमाण स्थिति के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ-टीका में नीचे लिखे उल्लेख मिलते हैं:—

“उपयोगस्थितिकालोऽन्तमुहूर्तपरिणामः प्रकर्षाद्भवति ।”

—अ० २, सू० ८ की टीका ।

“उपयोगतोऽन्तमुहूर्तमेव जघन्योत्कुण्ठाभ्याम् ॥”

—अ० २, सू० ६ की टीका ।

“उपयोगतस्तु तस्याप्यन्तमुहूर्तमवस्थानम् ।”

—अ० २, सू० ६ की टीका ।

यह बात गोम्मटसार में भी उल्लिखित है:—

“मदिसुदओहिमणोहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं ।

अंसोमुहूर्तकालो, उवजोगो सो दु साधारी ॥६७३॥

सभी उपयोग क्रमभावी' हैं, इसलिये एक जीव में एक समय में कोई भी दो उपयोग नहीं होते ॥५॥

पञ्चवर्तिरिदं निमित्तं, दुर्दंशं दुःखं अनाद्यं दशसु चक्षुर्विना
संनिपद्यते मणना-णश्चक्षुर्दंशं दुर्दंशं विदुषा ॥ ६ ॥

पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिनोः, द्विदर्शद्व्यज्ञानं दशसु चक्षुर्विना ।
संज्ञिन्यपर्याप्ते मतो ज्ञानवधुः केवलद्विकविहीनीः ॥ ६ ॥

अर्थ पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में चक्षु-अचक्षु दो दर्शन और मति-भूत धी अज्ञान, कुल चार उपयोग होते हैं । सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, बाहर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय, ये चारों पर्याप्त तथा अपर्याप्त और अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन वस प्रकार के जीवों में मति-अज्ञान, भूत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग होते हैं । अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियों में मनःपर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान, केवल-दर्शन, इन चार को छोड़ शेष आठ (मतिज्ञान, भूतज्ञान, अवधि-ज्ञानदर्शन, मति-अज्ञान, भूत-अज्ञान, विमलज्ञान और अचक्षुर्दर्शन) उपयोग होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में चक्षुर्दर्शन आदि उपर्युक्त चार ही उपयोग होते हैं; क्योंकि आवरण

इन्द्रियमणोहिणा वा, अस्थे अविसेसी हृणं जं गहणं ।

अंतोमुहुस्तकालो, उच्चजोगो सो अणायारो ॥ ६७४ ॥

—जीवकाण्ड ।

आयिक उपयोग की एक समय-समान स्थिति, “अन्ने एगंतरियं इच्छंत सुखोवएसेण ।” इस कथन से सिद्धान्त-सम्मत है । विशेष खुलासे के लिये नन्दी सू० २२, मलयगिरिवृत्ति पु० १३४, तथा विशेष भा० भा० ३१०१ की वृत्ति देखना चाहिये । लोकप्रकाश के तीसरे सर्ग में भी यही कहा है:-

“एकस्मिन् समये ज्ञानं दर्शनं चापरक्षणे ।

सर्वज्ञस्योपयोगी द्वौ, समयास्तारिणी तवा ॥ ६७३ ॥”

१—देखिये, परिशिष्ट ‘च ।’

को घनिष्ठता और पहला ही गुणस्थान होने के कारण, उनमें अक्षु-
र्वर्शन और अचक्षुर्वर्शन के सिवाय अन्य सामान्य उपयोग तथा
मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य विशेष उपयोग नहीं होते।

सूक्ष्म-एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त दस प्रकार के जीवों में तीन
उपयोग कहे गये हैं, सो कर्मग्रन्थिक मत के अनुसार, सैद्धान्तिक
मत के अनुसार नहीं।

१—देखिये, परिशिष्ट 'द्व'।

२—इसका खूनासा यों है—पद्यणि बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतु-
रिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन पाँच प्रकार के अपर्याप्त जीवों में कर्म-
ग्रन्थिक विद्वान् पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान मानते हैं देखिये, आगे
गा० ४५वीं। तथापि वे दूसरे गुणस्थानक समय मति आदि को, ज्ञानरूप न
मानकर अज्ञानरूप ही मान लेते हैं। देखिये, आगे गा० २१वीं। इसलिये,
उनके मतानुसार पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय,
पर्याप्त द्वीन्द्रिय और पर्याप्त त्रिन्द्रिय इन पहले गुणस्थान-वाले पाँच जीव-
स्थानों के समान, बादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच प्रकार के अपर्याप्त
जीवस्थानों में भी, जिनमें दो गुणस्थानों का सम्भव है, अचक्षुर्वर्शन, मति-
अज्ञान और श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग ही माने जाते हैं।

परन्तु सैद्धान्तिक विद्वानों का मन्तव्य कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि
“किसी प्रकार के एकेन्द्रिय में—चाहे पर्याप्त हो या अपर्याप्त, सूक्ष्म हो
या बादर—पहले के सिवाय अन्य गुणस्थान होता ही नहीं। देखिये, गा०
४६ वीं। पर द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन
चार अपर्याप्त जीवस्थानों में पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं।”
साथ ही सैद्धान्तिक विद्वान्, दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को अज्ञा-
नरूप न मानकर ज्ञानरूप ही मानते हैं।

देखिये, गा० ४६ वीं। अत एव उनके मतानुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार
अपर्याप्त-जीवस्थानों में अचक्षुर्वर्शन, मति-अज्ञान, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान,
ये पाँच उपयोग और सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त दस जीवस्थानों में से
द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार के सिवाय शेष छह जीव-स्थानों में अचक्षुर्वर्शन
मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग समझने चाहिये।

संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय की, अपर्याप्त-अवस्था में आठ उपयोग कहे गये हैं। सो इस प्रकार:—तीर्थंकर तथा सम्यक्स्वी देव-नारक आदि को उत्पत्ति-क्षण से ही तीन ज्ञान और दो दर्शन होते हैं तथा मिथ्यास्वी देव-नारक आदि को जन्म-समय से ही तीन अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। मनःपर्याप्त आदि चार उपयोग न होने का कारण यह है कि मनःपर्याप्तज्ञान, संयम वालों को हो सकता है, परन्तु अपर्याप्त-अवस्था में संयम का सम्भव नहीं है; तथा चक्षुर्दशन, चतुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है; जो अपर्याप्त-अवस्था में नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग कर्मक्षय-जन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त-अवस्था में कर्म-क्षय का सम्भव नहीं है। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को अपर्याप्त-अवस्था में आठ उपयोग कहे, गये, सो कारण-अपर्याप्त की अपेक्षा से, क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त में मति-अज्ञान-श्रुत-अज्ञान और अक्षुर्दर्शन के सिवाय अन्य उपयोग नहीं होते।

इस गाथा में अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में जो जो उपयोग ब्रनलाये गये हैं, उनमें चतुर्वर्शन परिगणित नहीं है, सो मतान्तर से; क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहकार के मत से उक्त तीनों जीवस्थानों में अपर्याप्त-अवस्था में सो इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद चतुर्वर्शन होता है। दोनों मत के तारपत्र को समझने के लिये गा० १७ वीं का नोट देखना चाहिये ॥ ६ ॥



१—इसका उल्लेख श्रीमल्लयगिरिसूरि ने इस प्रकार किया है:—

“अपर्याप्तकाश्चेत् लब्ध्यपर्याप्तका विविक्षयाः, अन्यथा करणा-पर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्वर्शनमपि प्राप्यते मूलटीकायामार्चोपनाभ्यनुज्ञानात्।”—पञ्चसं० द्वार १, गा० ८ की टीका।

(४-८)-जीवस्थानों में लेश्या-बन्ध आदि ।

{ दो माधाओं से ।

संनिदुगे छलेसअप, -ज्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु ।

सत्तद्व बन्धुदीरण, संतुदया अट्ट तेरससु ॥ ७ ॥

संज्ञिद्विके षड्लेश्या अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रस्तिष्ठः शेषेषु ।

सप्ताष्टबन्धोदीरणे, सनुदयावष्टानां त्रयोदशसु ॥ ७ ॥

अर्थ—संज्ञि-द्विकमें—अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में—छहों लेश्यायें होती हैं । अपर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय में कृष्ण आदि पहली चार लेश्यायें पायी जाती हैं । शेष ग्यारह जीवस्थानों में—अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त चतुर्न्द्रिय और अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियों में कृष्ण, नील और कापोल ये तीन लेश्यायें होती हैं ।

पर्याप्त संज्ञी के सिवाय तेरह जीवस्थानों में बन्ध, सात या आठ कर्मका होता है तथा उदीरणा भी सात या आठ कर्मोंकी होती है, परन्तु सत्ता तथा उदय आठ आठ कर्मोंके ही होते हैं ॥७॥

भावार्थ—अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकारके संज्ञी, छह लेश्याओंके स्वामी माने जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनमें शुभ-अशुभ सब तरहके परिणामोंका सम्भव है । अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियका मतलब करणापर्याप्तसे है; क्योंकि उसी में छह लेश्याओं का सम्भव है । तन्नि-अपर्याप्त तर्हि सिर्फ तीन लेश्याओं के अधिकारी हैं ।

कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, सब एकेन्द्रियों के लिये साधारण हैं; किन्तु अपर्याप्त बादर- एकेन्द्रियमें इतनी विशेषता है कि उसनमें तेजो-लेश्या भी पायी जाती है; क्योंकि तेजलेश्या वाले ज्योतिषी आदि देव,

जब उसी लेश्या में भरते हैं और बाहर पृथिवीकाय, जलकाय या वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं, तब उन्हें अपर्याप्त-अवस्था में तेजोलेइया होती है। यह नियम^१ ही है कि जिस लेश्या में मरण हो, अनन्त समय वही लेश्या होती है।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त ग्यारह जीव स्थानों में तीन लेश्याएँ कही गई हैं। इसका कारण यह है कि वे सब जीवस्थान, अशुभ परिणाम वाले ही होते हैं; इसलिये उनमें शुभ परिणामरूप पिछली तीन लेश्याएँ नहीं होती।

इस जगह जीवस्थानों में बन्ध, उर्वारणा, सत्ता और उदय का जो विचार किया गया है, वह मूल प्रकृतियों को लेकर। प्रत्येक जीवस्थान में किसी एक समय में मूल आठ प्रकृतियों में से कितनी प्रकृतियों का बन्ध, कितनी प्रकृतियों की उर्वारणा, कितनी प्रकृतियों की सत्ता और कितनी प्रकृतियों का उदय पाया जा सकता है, उसी को दिखाया है।

१. बन्ध ।

पर्याप्त संज्ञि के सिवाय सब प्रकार के जीव, प्रत्येक समय में आयु को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों को बाँधते रहते हैं। आठ कर्मप्रकृतियों को वे सभी बाँधते हैं, जबकि आयु का बन्ध करते हैं। आयु का बन्ध एक भव में एक ही बार, जबन्ध या उत्कृष्ट अन्तर्भूत तक ही होता है। आयुकर्म के लिये यह नियम^१ है कि वर्तमान आयु का तीसरा, नववाँ

१—इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—

“जलेसे मरइ, तलेसे उववज्जइ”। इति

२—उक्त नियम सोपक्रम (अपवर्त्य—घट सकने वाली) आयु वाले जीवों को लागू पड़ता है, निरूपक्रम आयु वालों को नहीं। ने यदि देव-नारक या असंख्यातवर्षीय मनुष्य तिर्यञ्च हों तो छद्म महीने आयु बाकी रहने पर ही परभवकी आयु बाँधते हैं और यदि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय या पञ्चेन्द्रिय मनुष्य-तिर्यञ्च हों तो वर्तमान भाव का तीसरा भाग शेष रहने पर ही आयु बाँधते हैं।

—बृहत्संहिता, गा० ३२१-३२३, तथा पञ्चम कर्मग्रन्थ, गा० ३४।

या सत्ताईसवा आठ भाग बाकी रहने पर हो परभव के आयु का बन्ध होता है ।

इस नियम के अनुसार यदि बन्ध न हो तो अन्त में जब वर्तमान आयु, अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण बाकी रहती है, तब अगले भव की आयु का बन्ध अवश्य होता है ।

२. उदीरणा ।

उपयुक्त तेरह प्रकार के जीवस्थानों में प्रत्येक समय में आठ कर्मों की उदीरणा हुआ करती है । सात कर्मों की उदीरणा, आयु की उदीरणा न होने के समय—जीवन की अन्तिम आवलिका में—पायी जाती है; क्योंकि उस समय, आवलिकामात्र स्थिति शेष रहने के कारण वर्तमान (उदयमान) आयु की और अधिक स्थिति होने पर भी उदयमान न होने के कारण अगले भव की आयु की उदीरणा नहीं होती । शास्त्र में उदीरणा का यह नियम बतलाया है कि जो कर्म, उदय-प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरे की नहीं । और उदय-प्राप्त कर्म की आवलिकामात्र शेष रह जाता है, तब से उसकी उदीरणा रुक जाती है ।

१.—“उदयावलियावहिरित्तु ठिर्द्धितो कषायगह्विा सहिएणं
जोगकरणेणं दलियमाकद्धिय उदयपत्तदलियेण समं अणुभवण-
मुदीरणा ।” —कर्मप्रकृति-चूणि ।

अर्थात् उदय-आवलिकासे बाहर की स्थिति वाले दलिकों को कषाय सहित या कषायरहित योगद्वारा खींचकर—उस स्थिति से उन्हें छुड़ाकर—उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना ‘उदीरणा’ कहलाती है ।

इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि उदयावलिका के अन्तर्गत दलिकों की उदीरणा नहीं होती । अत एव कर्म की स्थिति आवलिकामात्र बाकी रहने के समय उसकी उदीरणा का रुक जाना नियमानुकूल है ।

उक्त तेरह जीवस्थानों में जो अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे सभी लब्धि-अपर्याप्त समझने चाहिये; क्योंकि उन्हीं में सात या आठ कर्म की उद्दीरणा घट सकती है। वे अपर्याप्त-अवस्था ही में मर जाते हैं, इसलिये उनमें आवलिकामात्र आयु बाकी रहने पर सात कर्म की ओर इसके पहले आठ कर्म की उद्दीरणा होती है। परन्तु करणापर्याप्तों के अपर्याप्त-अवस्था में मरने का नियम नहीं है। वे यदि लब्धिपर्याप्त हुये तो पर्याप्त-अवस्था ही में मरते हैं। इसलिये उनमें अपर्याप्त-अवस्था में आवलिकामात्र आयु शेष रहने का और सात कर्म की उद्दीरणा का संभव नहीं है।

३-४. सत्ता और उदय ।

आठ कर्मों की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और आठ कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक बना रहता है; परन्तु पर्याप्त संज्ञी के सिवाय सब प्रकार के जीवों में अधिक से अधिक पहला, दूसरा और चौथा, इन तीन गुणस्थानों का संभव है; इसलिये उक्त तेरह प्रकार के जीवों में सत्ता और उदय आठ कर्मों का माना गया है ॥७॥

सतद्वृच्छेगबन्धा, सतुदया सत्तद्वृच्छत्वारि ।

ससद्वृच्छपञ्चदशं उद्दीरणा संनिपज्जते ॥ ८ ॥

सप्ताष्टपडेकबन्धा, सदुदयी सप्ताष्टचत्वारि ।

सप्ताष्टद्वद्विमुदारणा संशिगर्वाप्ते ॥ ९ ॥

अर्थ — पर्याप्त संज्ञी में सात कर्म का, आठ कर्म का, छह कर्म का और एक कर्म का, ये चार बन्धस्थान हैं, सत्तास्थान और उदयस्थान सात, आठ और चार कर्म के हैं तथा उद्दीरणास्थान सात, आठ, छह, पाँच और दो कर्म का है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिन प्रकृतियों का बन्ध एक साथ (युगपत्) हो, उनके समुदायको 'बन्धस्थान' कहते हैं। इसी तरह जिन प्रकृतियों की सत्ता

एक साथ पायो जाय, उनके समुदायको 'सत्तास्थान', जिन प्रकृतियों-का उदय एक साथ पाया जाय, उनके समुदाय को 'उदयस्थान' और जिन प्रकृतियों की उवीरण? एक साथ पायो जाय, उनके समुदाय को 'उवीरणास्थान' कहते हैं ।

५. बन्धस्थान ।

उपयुक्त चार बन्धस्थानों में से सात कर्म का बन्धस्थान, उस समय पाया जाता है जिस समय कि आयु का बन्ध नहीं होता । एक बार आयु का बन्ध हो जाने के बाद दूसरी बार उसका बन्ध होने में जघन्य काल, अन्तर्मुहूर्त प्रमाण^१ और उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त-कर्म ५ करोड़ पूर्ववर्ष तथा छह मास कम तैत्तिरीय सागरोपम^२-प्रमाण चला जाता है^३ । अतः एक कर्म के बन्धस्थान की स्थिति भी उतनी ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त-कर्म ५ करोड़ पूर्ववर्ष तथा छह मास-कम तैत्तिरीय सागरोपम-प्रमाण समझनी चाहिये ।

आठ कर्म का बन्धस्थान, आयु-बन्ध के समय पाया जाता है । आयु-बन्ध, जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक होता है, इसलिये आठ के बन्धस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है ।

१—दो समय-प्रमाण, दस समय-प्रमाण, इस तरह एक एक समय बढ़ते बढ़ते अन्त में एक समय-कर्म मुहूर्त-प्रमाण, यह सब प्रकार का काल अन्तर्मुहूर्त कहलाता है । जघन्य अन्तर्मुहूर्त नव समय का, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त एक समय कम मुहूर्त का और मध्यम अन्तर्मुहूर्त दस समय, ग्यारह समय, आदि बीच के सब प्रकार के काल का समझना चाहिये । दो घड़ी को—अड़तालीस मिनट को—'मुहूर्त' कहते हैं ।

२—दस कोटाकोटि पल्पोपमका एक 'सागरोपम' और असंख्य वर्षों का एक 'पल्पोपम' होता है । —तत्त्वार्थ अ० ४, सू० १५ का भाष्य ।

३—जब करोड़ पूर्व वर्ष की आयु वाला कोई मनुष्य अपनी आयु के तीसरे भाग में अनुत्तर विमान की तैत्तिरीय सागरोपम-प्रमाण आयु बाँधता है, तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आयुबन्ध करके फिर वह देव की आयु के छह महीने दोष रहने पर ही आयु बाँध सकता है, इस अपेक्षा से आयु के बन्ध का उत्कृष्ट अन्तर समझना ।

उह कर्मका बन्धस्थान वसवें ही गुणस्थान में पाया जाता है; क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय, दो कर्मका बन्ध नहीं होता। इस बन्धस्थानकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति वसवें गुणस्थानकी स्थितिके बराबर—जघन्य एक समय की^१ और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की—समझनी चाहिये।

एक कर्मका बन्धस्थान ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, तीन गुणस्थानों में होता है। इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानों के समय सातवेवनीयके सिवाय अन्य कर्मका बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें गुणस्थानकी जघन्य स्थिति एक समयकी और तेरहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष-कम करोड़ पूर्व वर्षकी है। अत एव इस बन्धस्थानकी स्थिति, जघन्य समयभात्रकी और उत्कृष्ट नौ वर्ष-कम करोड़ पूर्व वर्ष की समझनी चाहिये।

६. सत्तास्थान ।

तीन सत्तास्थानोंमें से आठ का सत्तास्थान, पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें पाया जाता है। इसकी स्थिति, अभव्यकी अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्यकी अपेक्षासे अनादि-सान्त है। इसका सबब यह है कि अभव्यकी कर्म-परम्पराकी जैसे आदि नहीं है, वैसे अन्त भी नहीं है; पर भव्यकी कर्म परम्पराके विषय में ऐसा नहीं है; उसकी आदि तो नहीं है, किन्तु अन्त होता है।

सातका सत्तास्थान केवल बारहवें गुणस्थान में होता है। इस

१—अत्यन्त सूक्ष्म कियावाला अर्थात् सबसे जघन्य गतिवाला परमाणु जितने काल में अपने आकाश-प्रदेश से अनन्तर आकाश-प्रदेश में जाता है, वह काल 'समय' कहलाता है।

—तत्त्वार्थ अ० ४ सू० १५ का भाष्य।

२—चौरासी लक्ष वर्ष का एक पूर्वाह्न और चौरासी लक्ष पूर्वाह्न का एक 'पूर्व' होता है।

—तत्त्वार्थ अ० ४, १५ का भाष्य।

गुणस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की मानी जाती है । अत एव सातके सत्तास्थान की स्थिति उतनी समझनी चाहिये । इस सत्तास्थान में मोहनीय के शिवाय अतः कर्मों का प्रभाव है ।

चार का सत्तास्थान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है; क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चार अघाति कर्म की ही सत्ता शेष रहती है । इन दो गुणस्थानों को मिलाकर उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष आठ मास-कम करोड़ पूर्व-प्रमाण है । अत एव चारके सत्तास्थान की उत्कृष्ट स्थिति उतनी समझना चाहिये । उनकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है ।

७. उदयस्थान ।

आठ कर्मका उदयस्थान, पहले से दसवें तक दस गुणस्थानों में रहता है । इसकी स्थिति अभव्यकी अपेक्षा से अनावि-अनन्त और भव्य की अपेक्षा से अनावि-सान्त है । परन्तु उपशम-श्रेणी से गिरे हुए भव्य की अपेक्षा से उसकी स्थिति सावि-सान्त है । उपशम-श्रेणी से गिरने के बाद फिर से अन्तर्मुहूर्त्त में श्रेणी की जा सकती है; यदि अन्तर्मुहूर्त्त में न की जा सकी तो अन्त में कुछ-कम अर्धपुद्गल-परावर्त्त के बाद अवश्य की जाती है । इसलिये आठ के उदयस्थान की सावि-सान्त स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट वेश-ऊन (कुछ कम) अर्धपुद्गल परावर्त्त प्रमाण समझनी चाहिये ।

सातका उदयस्थान, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पाया जाता है । इस उदयस्थान की स्थिति, जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की मानी जाती है । जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान में एक समय मात्र रह कर मरता है और अनुत्तर विमान में पैदा होता है, वह पैदा होते ही आठ कर्म के उदय का अनुभव करता है, इस अपेक्षा से सातके उदयस्थान की जघन्य स्थिति समय-प्रमाण कही गई है । जो जीव, बारहवें गुणस्थान को पाता है, वह अधिक से अधिक

उस गुणस्थान की स्थिति तक—अन्तर्मुहूर्त तक के सात कर्म के उदय-का अनुभव करता है, पीछे अवश्य तेरहवें गुणस्थान को पाकर छार कर्म के उदय का अनुभव करता है; इस अपेक्षा से सात के उदय-स्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण नहीं दी है। चार का उदयस्थान, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानों में अधातिकर्म के सिवाय अन्य किसी कर्म का उदय नहीं रहता। इस उदयस्थान की स्थिति अथवा अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट, देश-उन करोड़ पूर्व वर्ष की है।

८. उदीरणास्थान।

आठ का उदीरणास्थान, आयु की उदीरणा के समय होता है। आयु की उदीरणा पहले छह गुणस्थानों में होती है। अतएव यह उदीरणास्थान इन्हीं गुणस्थानों में पाया जाता है।

सात का उदीरणास्थान, उस समय होता है जिस समय कि आयु की उदीरणा रुक जाती है। आयु की उदीरणा तब रुक जाती है, जब वर्तमान आयु आवलिका-प्रमाण शेष रह जाती है। वर्तमान आयु की अन्तिम आवलिका के समय पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवा और छठा, ये पाँच गुणस्थान पाये जा सकते हैं; दूसरे नहीं। अतएव सात के उदीरणास्थान का सम्भव, इन पाँच गुणस्थानों में समझना चाहिये। तीसरे गुणस्थान में सात का उदीरणास्थान नहीं होता, क्योंकि आवलिका-प्रमाण आयु शेष रहने के समय, इस गुणस्थान का सम्भव ही नहीं है। इसलिये इस गुणस्थान में आठ का ही उदीरणा-स्थान माना जाता है।

छह का उदीरणास्थान सातवें गुणस्थान से लेकर वसवें गुण-स्थान की एक आवलिका-प्रमाण स्थिति बाकी रहती है, तब तक

१—एक मुहूर्त के १, ६७, ७७, २१६ वें भाग की 'आवलिका' कहते

हैं।

पाया जाता है; क्योंकि उस समय आयु और वेदनीय, इन दो की उद्दीरणा नहीं होती।

सबसे गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीय की भी उद्दीरणा रुक जाती है, उससे लेकर बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका पर्यन्त पाँच का उद्दीरणास्थान होता है।

बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमें ज्ञानावरण, वर्जनावरण और अन्तराय, तीन कर्म की उद्दीरणा रुक जाती है, उससे लेकर तेरहवें गुणस्थान के अन्त पर्यन्त चार का उद्दीरणा-स्थान होता है। सोदहवें गुणस्थान में योग न होने के कारण उदय रहने-पर भी नाम-गोत्र की उद्दीरणा नहीं होती।

उक्त सब बन्धस्थान, सत्तास्थान आदि पर्याप्त संज्ञी के हैं; क्योंकि जीवहों गुणस्थानों का अधिकारी वही है। किस किस गुणस्थान में कौनसा कौनसा बन्धस्थान, सत्तास्थान, उदयस्थान और उद्दीरणा-स्थान है; इसका विचार आगे गा० ५६ से ६२ तक में है ॥ ८ ॥



प्रथमाधिकार के परिशिष्ट ।

परिशिष्ट "क" ।

पृष्ठ ५ के "लेख्या" शब्दपर—

१—लेख्या के (क) द्रव्य और (ख) भाव, इस प्रकार दो भेद हैं ।

(क) द्रव्यलेख्या, पुद्गल-विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन मत हैं। (१) कर्मवर्गणा-निष्पन्न (२) कर्म-निष्पन्न और (३) योग-परिणाम।

१ ले मत का यह मानना है कि लेख्या-द्रव्य, कर्म-वर्गणा से बने हुये हैं; फिर भी वे आठ कर्म से भिन्न ही हैं; जैसा कि कर्मणकारीर । यह मत उत्तराध्ययन, अ० ३४ की टीका, पृ० ६५० पर उल्लिखित है ।

२ रे मत का आशय यह है कि लेख्या-द्रव्य, कर्म निष्पन्नरूप (बध्य-मान कर्म-प्रवाहरूप) है । चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्पन्न न होने से लेख्या के अभाव की उत्पत्ति हो जाती है । यह मत उक्त पृष्ठ पर ही निर्दिष्ट है, जिसको टीकाकार वादिवैताल श्रीशान्तिसूरि ने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' कहकर लिखा है ।

३रा मत श्रीहरिभदसूरि आदि का है । इस मत का आशय श्रीमलय-गिरि जी ने पञ्चवणा पद १७ की टीका, पृ० ३३० पर स्पष्ट बतलाया है । वे लेख्या-द्रव्य को योगवर्गणा-अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । उपाध्याय श्रीविनयविजयजी ने अपने आगम-दोहनरूप लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक २८५ में इस मत को ग्राह्य ठहराया है ।

(ख) भावलेख्या, आत्मा का परिणाम-विशेष है, जो संवर्धेश और योग से अनुगत है संवर्धेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर मन्धतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेख्या, असंख्य प्रकार की है तथापि संक्षेप में छह विभाग करके शास्त्र में उसका स्वरूप दिखाया है । देखिये, गा० १२ वीं । छह भेदों का स्वरूप समझने के लिये शास्त्र में नीचे लिखे दो वृणान्त दिये गये हैं:—

पहिला:—कोई छह पुरुष जम्बूफल (जामुन) खाने को रुच्छा करते हुये चले जा रहे थे, इतने में जम्बूवृक्षको देख उनमें से एक पुरुष बोला—“लीजिये, जम्बूवृक्ष तो आ गया । अब फलों के लिये ऊपर चढ़ने की अपेक्षा फलों से लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखा वाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है ।”

यह सुनकर हमारे ने कहा—“वृक्ष काटने से क्या लाभ ? केवल शाखाओं को काट दो ।”

तीसरे पुरुष ने कहा—“यह भी ठीक नहीं, छोटी-छोटी शाखाओं के काट लेने से भी तो काम निकाला जा सकता है ?”

चौथे ने कहा—“शाखायें भी क्यों काटना ? फलों के गुच्छों को तोड़लीजिये”

पाँचवाँ बोला—“गुच्छों से क्या प्रयोजन ? उनमें से कुछ फलों को ही लेना अच्छा है ।”

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—“ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हम लोग जिन्हें चाहते हैं, वे फल तो नीचे भी गिरे हुये हैं, क्या उन्हीं से अपनी प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती है ?”

दूसरा—कोई छः पुरुष धन लूटने के इरादे से जा रहे थे । रास्ते में किसी गाँव को पाकर उनमें से एक बोला—“इस गाँव को तहस-नहस कर दो—मनुष्य, पशु, पक्षी, जो कोई मिले, उन्हें मारो और धन लूट लो ।”

यह सुनकर दूसरा बोला—“पशु पक्षी जादि को मारो मारना ? केवल विरोध करने वाले मनुष्यों ही को मारो ।”

तीसरे ने कहा—“बेचारी स्त्रियों की हत्या क्यों करना ? पुरुषों को मार दो ।”

चौथे ने कहा—“सब पुरुषों को नहीं; जो सशस्त्र हों, उन्हीं को मारो ।”

पाँचवें ने कहा—“जो सशस्त्र पुरुष भी विरोध नहीं करते, उन्हें क्यों मारना ?”

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—“किसी को मारने से क्या लाभ ? जिस प्रकार से धन अपहरण किया जा सके, उस प्रकार से उसे उठा लो और किसी को मारो मत । एक तो धन लूटना और दूसरे उसके मालिकों को मारना, यह ठीक नहीं ।”

इन दो दृष्टान्तों से लक्ष्याओं का स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है । प्रत्येक दृष्टान्त के छह-छह पुरुषों में पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणाम की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाये जाते हैं—उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणामों में संकलन की गमनता और मृदुता की अधिकता पाई जाती है । प्रथम पुरुष के परिणाम की ‘कृष्णलक्ष्या’, दूसरे के परिणाम की ‘नीललक्ष्या’, इस प्रकार क्रम से छठे पुरुष के परिणाम का ‘शुक्ललक्ष्या’ सम्पन्नता चाहिये । — आवश्यक हारिभट्टी वृत्ति पृ० १५ तथा लोक० प्र०, स० ३, श्लोक ३६३—३८० ।

लक्ष्या-द्रव्य के स्वरूप सम्बन्धी उक्त तीनों मत के अनुसार तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त भाव-लक्ष्या का सम्भव सम्पन्नता चाहिये । यह सिद्धांत गोष्मटसार-जीवकाण्ड को भी मान्य है; क्योंकि उसमें योग-प्रवृत्ति को लक्ष्या कहा है । यथा:—

“अयदोति छलेस्ताओ, सुहृत्तिस्तेस्ता शु देसविरवतिये
तस्ती सुवका लेस्ता, अजोगिठान् अलेस्सं तु ॥५३१॥”

सर्वार्थसिद्धि में और गोष्मटसार के स्थानान्तर में कषायोदय-अनुरंजित योग-प्रवृत्ति को 'लेख्या' कहा है। यद्यपि इस कथन से दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेख्या का होना पाया जाता है, पर वह कथन अपेक्षा-कृत होने के कारण पूर्व-कथन से विरुद्ध नहीं है। पूर्व कथन में केवल प्रकृति-प्रदेश-बन्ध के निमित्तभूत परिणाम लेख्यारूप से निवक्षित है। और इस कथन में स्थिति-अनुभाग आदि चारों बन्धों के निमित्तभूत परिणाम लेख्यारूप से निवक्षित है, केवल प्रकृति-प्रदेश-बन्धके निमित्तभूत परिणाम नहीं। यथा:—

"भावलेख्या कषायोदयराज्जिता योग-प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।"

सर्वार्थसिद्धि-अध्याय २, सूत्र ६।

"जोगपञ्चत्ती लेस्सा, कषायउदयाणुरंजिया होइ।

तत्तो दोण्णं कज्जं, बांधवउक्क समुद्दिह ॥४८६॥"

—जीवकाण्ड

द्रव्यलेख्या के वर्ण-गन्ध आदि का विचार तथा भावलेख्या के लक्षण आदि का विचार उत्तराख्यन, अ० ३८ में है। इसके लिये प्रज्ञापना-लेख्यापद, आवश्यक, लोक प्रकाश आदि आकार ग्रन्थ श्वेताम्बर-साहित्य में है। उक्त दो दृष्टान्तों में से पहला दृष्टान्त, जीवकाण्ड गा० ५०६-५०७ में है। लेख्या की कुछ विशेष बातें जानने के लिये जीवकाण्ड का लेख्यामार्गणाधिकार (गा० ४८८-५५५) देखने योग्य है।

जीवों के आन्तरिक भावों की मलिनता तथा पवित्रता के सारतम भाव का सूचक, लेख्या का विचार, जैसा जैन शास्त्र में है; कुछ उसी के समान छह जातियों का विभाग, मङ्गलीगोसाल पुत्र के मत में है, जो कर्म की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण-नील आदि छह वर्णों के आधार पर किया गया है। इसका वर्णन, 'दीव निकाय-सामञ्जसफलसुत' में है।

"महाभारत" के १२, २८६ में भी छह 'जीव-वर्ण' दिये हैं, जो उक्त विचार से कुछ मिलते-जुलते हैं।

"पातञ्जलयोगवर्णन" के ४, ७ में भी ऐसी कल्पना है; क्योंकि उसमें कर्म के चार विभाग करके जीवों के भावों की शुद्धि-अशुद्धि पृथक्करण किया है। इसके लिये देखिये, दीवनिकाय का मराठी सापान्तर पृ० ५६।

परिशिष्ट "ख" ।

पृष्ठ १०, पंक्ति १८ के 'पञ्चेन्द्रिय' शब्द पर—

जीव के एकेन्द्रिय आदि पांच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रिय के आधार पर; क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी संसारी जीवों को पाँचों होती हैं ।

यथा:—

“अहंवा पदुच्च लट्ठि,—दियं पि पंचेदिया सव्वे ॥२६६६॥”

—विशेषावश्यक ।

अर्थात् लब्धीन्द्रियकी अपेक्षा से सभी संसारी जीव पञ्चेन्द्रिय हैं ।

“पंचेदिउ व्व बडलो, मरो व्व सव्व-विसओवलंभाओ ।” इत्यादि

—विशेषावश्यक, गा० २००१ ।

अर्थात् सब विषय का ज्ञान होने की योग्यता के कारण बकुल वृक्ष मनुष्य की तरह पाँच इन्द्रियों वाला है ।

यह ठीक है कि इंद्रिय आदि की भावेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय से उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततर ही होती है । पर इसमें कोई मन्देह नहीं कि जिनको द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच, पूरी नहीं हैं उन्हें भी भावेन्द्रियाँ तो सभी होती ही हैं । यह बात आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित है । डा० जगदीशचन्द्र बसुकी खोज ने वनस्पति में स्मरण शक्ति का अस्तित्व सिद्ध किया है । स्मरण, जो कि मानसशक्ति का कार्य है, वह यदि एकेन्द्रिय में पाया जाता है तो फिर उसमें अन्य इन्द्रियाँ, जो कि मन से नीचे की श्रेणिकी मानी जाती हैं, उनके होने में कोई बाधा नहीं । इन्द्रिय के सम्बन्ध में प्राचीन काल में विशेष-दर्शी महात्माओं ने बहुत विचार किया है, जो अनेक जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध है । उसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—(१) द्रव्यरूप और (२) भावरूप । द्रव्येन्द्रिय, पृथक्-जन्य होने से जडरूप है; पर भावेन्द्रिय, ज्ञानरूप है, क्योंकि वह चेतना शक्ति का पर्याय है ।

(१) द्रव्येन्द्रिय, अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नामकर्म के उदय-जन्य है । इसके दो भेद हैं:—(क) निर्वृत्ति और (ख) उपकरण ।

(क) इन्द्रियके आकार का नाम 'निर्वृत्ति' है । निर्वृत्ति के भी (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर, ये दो भेद हैं । (१) इन्द्रियके बाह्य

आकार को 'बाह्यनिर्वृत्ति' कहते हैं और (२) भीतरी आकार को 'आभ्यन्तरनिर्वृत्ति' । बाह्य भाग तलवार के समान है और आभ्यन्तर भाग तलवार की तेज बार के समान, जो अत्यन्त स्वच्छ परमाणुओं का बना हुआ होता है । आभ्यन्तर निर्वृत्ति का यह पुद्गल स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र-इन्द्रियपदकी टीका पृ० ३६५ के अनुसार है। आचराङ्गवृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय बतलाया है ।

आकार के सम्बन्धमें यह बात जाननी चाहिये कि त्वचाकी आकृति अनेक प्रकारकी होती है, पर उसके बाह्य और आभ्यन्तर आकार में जुदाई नहीं है । किसी प्राणीकी त्वचाका जैसा बाह्य आकार होता है, वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है । परन्तु अन्य इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा नहीं है—त्वचाको छोड़ अन्य सब इन्द्रियोंके आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकारसे नहीं मिलते । सब जातिके प्राणियोंकी सजातीय इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार, एक तरह के माने दिये हैं । जैसे—कानका आभ्यन्तर आकार, कदम्ब-पुष्प-जैसा, आँख का मसूरके दाना-जैसा, नाकका अतिमुक्तकके फूल-जैसा और जीभका छुराजैसा है । किन्तु बाह्य आकार, सब जातिमें भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं । उदाहरणार्थ—मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल, बिल्ली, चूहा आदिके कान, आँख, नाक, जीभ को देखिये ।

(ख) आभ्यन्तरनिर्वृत्तिकी विषय-ग्रहण-शक्तिको 'उपकरणेन्द्रिय' कहते हैं।

(२) भावेन्द्रिय दो प्रकारकी है—(१) लब्धिरूप और (२) उपयोगरूप ।

(१) मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमको—चेतना-शक्तिकी योग्यता-विशेषको 'लब्धिरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं । (२) इस लब्धिरूप भावेन्द्रियके अनुसार आत्माकी विषय-ग्रहण में जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोग रूप भावेन्द्रिय' कहते हैं ।

इस विषयको विस्तारपूर्वक जाननेकेलिये प्रज्ञापना-पद १५, पृ० २६३, तत्त्वार्थ अध्याय २, सू० १७-१८ तथा वृत्ति, विशेषाव०, गा० २६६३-३००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लोक ४६४ से आगे देखना चाहिये ।

परिशिष्ट 'ग' ।

पृ० १० पंक्ति १६ के "संज्ञा" शब्द पर—

संज्ञाका मतलब आसोज (मानसिक क्रिया-विशेष) से है । इसके (क) ज्ञान और (ख) अनुभव, ये दो भेद हैं ।

(क) मति, श्रुत आदि पाँच प्रकार का ज्ञान 'ज्ञानसंज्ञा' है ।

(ख) अनुभवसंज्ञाके (१) आहार, (२) मय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह (५) क्रोध, (६) मग्न, (७) माया, (८) लोभ, (९) ओष, (१०) लोक (११) मोह, (१२) चर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) जुगुप्सा और (१६) शोक, ये सोलह भेद हैं । आचाराङ्ग-निर्युक्ति, गा० ३८—३९ में तो अनुभवसंज्ञाके ये सोलह भेद किये गये हैं । लेकिन भगवती-शतक ७, उद्देश ६ में तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमेंसे पहले दस ही भेद, निर्दिष्ट हैं ।

ये संज्ञायें सब जीवोंमें न्यूनाधिक प्रमाणमें पाई जाती हैं, इसलिये ये संज्ञा असंज्ञा व्यवहार की नियामक नहीं हैं । शास्त्रमें संज्ञा-असंज्ञा का भेद है, सो अन्य असंज्ञाओंकी अपेक्षासे । एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्तके जीवोंमें चैतन्यका विकास क्रमशः अधिकाधिक है । इस विकासके तर-तम-भावको समझानेके लिये शास्त्रमें इसके स्थल रीतिपर चार विभाग किये गये हैं ।

(१) पहले विभागमें ज्ञानका अत्यन्त अल्प विकास विवक्षित है । यह विकास, इतना अल्प है कि इस विकाससे युक्त जीव, सूक्ष्मत्वकी तरह चेष्टारहित होते हैं । इस अव्यक्ततर चैतन्यकी 'ओषसंज्ञा' कही गई है । एकेन्द्रिय जीव, ओषसंज्ञावाले ही हैं ।

(२) दूसरे विभागमें विकासकी इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकालका—सुदीर्घ भूतकालका नहीं—स्मरण किया जाता है और जिससे इष्ट विषयोंमें प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयोंसे निवृत्ति होती है । इस प्रवृत्ति-निवृत्त-कारी ज्ञानको 'हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा' कहा है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्पूर्ण पञ्चेन्द्रिय जीव, हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले हैं ।

(३) तीसरे विभागमें इतना विकास विवक्षित है कि जिससे सुदीर्घ

भूतकालमें अनुभव किये हुये विषयोंका स्मरण और स्मरणद्वारा वर्तमान कालके कर्मावधियोंका निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान विनिश्चित मनकी सहायतासे होता है। इस ज्ञानको 'दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञा' कहा है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यञ्च, दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(४) चौथे विभागमें विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यक्त्वियोंके सिवाय अन्य जीवोंमें इसका संभव नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञानको 'दृष्टिवादोपदेशिकीसंज्ञा' कहा है।

शास्त्रमें जहाँ-कहीं संज्ञी-असंज्ञीका उल्लेख है, वहाँ सबजगह असंज्ञीका मतलब ओषसंज्ञावाले और हेतुवादोपदेशिकी संज्ञावाले जीवों से है। तथा संज्ञीका मतलब सब जगह दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावालों से है।

इस विषयका विशेष विचार तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २५ वृत्ति, नन्दी सू० ३६, विशेषावश्यक गा० ५०४-५२६ और लोकप्र०, स० ३ श्लोक ४४२-४६३ में है।

संज्ञी-असंज्ञीके व्यवहारके विषयमें दिगम्बर-सम्प्रदाय में स्वैताम्बर की अपेक्षा थोड़ा सा भेद है। उसमें गर्भज-तिर्यञ्चोंको संज्ञीमात्र न मानकर संज्ञी तथा असंज्ञी माना है। इसीतरह समूर्च्छिम-तिर्यञ्चकोसिर्फ असंज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभयरूप माना है। (जीव०, गा० ७६) इसके सिवाय यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वैताम्बर-ग्रन्थ में हेतुवादोपदेशिकी आदि जो तीन संज्ञायें वर्णित हैं, उनका विचार दिगम्बरी प्रसिद्ध ग्रन्थों में दृष्टि-गोचर नहीं होता।

==

परिशिष्ट 'घ'

पृष्ठ ११ के 'अपर्याप्त' शब्द पर—

(क)अपर्याप्तके दो प्रकार हैं—(१)लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त । वैसेही (ख)पर्याप्तके भी दो भेद हैं—(१)लब्धि-पर्याप्त(२) करण-पर्याप्त ।

(क)१—जो जीव, अपर्याप्तनामकर्मके उदयके कारण ऐसी शक्तिवाले हों किन्हीं कि स्वयंस्व पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे 'लब्धि-अपर्याप्त' हैं ।

२—परन्तु करण-अपर्याप्तके विषयमें यह बात नहीं, वे पर्याप्तनामकर्म के भी उदयवाले होते हैं । अर्थात् चाहे पर्याप्तनामकर्मका उदय हो या अपर्याप्तनामकर्मका, पर जब तक करणोंकी (शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियोंकी) समाप्ति न हो, तब तक जीव 'करण-अपर्याप्त' कहे जाते हैं ।

(ख)१—जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और इससे जो स्वयंस्व पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त' हैं ।

२—करण-पर्याप्तोंकेलिये यह नियम नहीं कि वे स्वयंस्व पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं । जो लब्धि-अपर्याप्त है, वे भी करण-पर्याप्त होते ही हैं; क्योंकि आहारपर्याप्ति बन चुकनेके बाद कमसे कम शरीरपर्याप्ति बन जाती है तभी से जीव 'करण-पर्याप्त' माने जाते हैं । यह तो नियम ही है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कमसे कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना मरते नहीं । इन नियमके सम्बन्धमें श्रीमलयगिरिजीने नन्दी सूत्रकी टीका, पृ० १०५ में यह लिखा है—

“यस्मादाणामिन्द्रियायुर्बद्धा अभ्यन्ते सर्वेऽप्य वेहिमः तन्महारशरीरेन्द्रिय पर्याप्तिपर्याप्तराम्नामेव बध्यत इति”

अर्थात् सभी प्राणी अगले मवकी आयुको बाँधकर ही मरते हैं, बिना बाँधे नहीं मरते । आयु तभी बाँधी जा सकती है, जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों ।

इसी बातका खुलासा श्रीविनयविजयजीने लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३१ में इस प्रकार किया है:—जो जीव लब्धि-अपर्याप्त है, वह भी पहली तीन पर्या-

प्रतियोंको पूर्ण करने ही अग्रिम भवकी आयु बांधता है। अन्तमुहूर्त्त तक आयु-बन्ध करके फिर उसका जघन्य अबाधाकाल, जो अन्तमुहूर्त्त का भाता गया है, उसे वह बिताता है; इसके बाद मरके वह गत्वस्तर में जा सकता है। जो अग्रिम आयुको नहीं बांधता और उसके अबाधाकालको पूरा नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता।

दिगम्बर साहित्य में करण-अपर्याप्तके बदले निर्वृत्ति अपर्याप्त शब्द मिलता है। कर्म में निर्वृत्ति छोड़ाया पात्र है निर्वृत्ति शब्दका अर्थ शरीर ही किया हुआ है। अत एव शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक ही दिगम्बरीय साहित्य, जीवको निर्वृत्ति अपर्याप्त कहता है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वह, निर्वृत्ति-अपर्याप्त व्यवहार करने की सम्मति नहीं देता। यथा:—

“पञ्चतत्त्वस्य उदये, नियनियपञ्जतिनिवृत्तिरिति ।

जाय शरीरमपुणं, निवृत्तिरपुण्यो तत्र ॥ १२० ॥

—जीवकाण्ड ।

सारांश यह कि दिगम्बर-साहित्यमें पर्याप्तनामकर्मका उदयवाला ही शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न होने तक ‘निर्वृत्ति-अपर्याप्त’ शब्दसे अभिमत है।

परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्यमें ‘करण’ शब्दका शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ, इतना अर्थ किया हुआ मिलता है। यथा:—

‘करणानि शरीराक्षाबोनि ।’

— लो प्र०, स० ३, श्लो० १० ।

अत एव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के अनुसार जिसने शरीर पर्याप्ति पूर्ण की है, पर इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी ‘करण-अपर्याप्त’ कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण पूर्ण करनेसे ‘करण-पर्याप्त’ और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करनेसे ‘करण-अपर्याप्त’ कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरी सम्प्रदायकी दृष्टिसे शरीरपर्याप्तिसे लेकर मनः पर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति पूर्ण होनेपर ‘करण-पर्याप्त’ और उत्तरोत्तर पर्याप्तिके पूर्ण न होनेसे ‘करण-अपर्याप्त’ कह सकते हैं। परन्तु जब जीव, स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियोंको पूर्ण कर लेवे, तब उसे ‘करण-अपर्याप्त’ नहीं कह सकते।

पर्याप्तिका स्वरूपः—पर्याप्ति, वह शक्ति है, जिसकेद्वारा जीव, आहार स्वासोच्छ्वास आदिके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और ग्रहीत पुद्गलों की आहार-आदिरूपमें परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीवमें पुद्गलोंके उपपत्त्यसे बनती है। अर्थात् जिस प्रकार पेटके भीतर के भाग में वर्तमान पुद्गलों में एक तरहकी शक्ति होगी है, जिससे कि खाया हुआ आहार भिन्न भिन्न रूपमें बदल जाता है, वही प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीव के द्वारा ग्रहीत पुद्गलोंसे ऐसी शक्ति बन जाती है, जो कि आहार आदि पुद्गलोंको खल-रस आदिरूपों में बदल देती है। वही शक्ति पर्याप्ति है। जन्म पुद्गल में से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो कि जन्मस्थानमें आये हुये जीवकेद्वारा प्रथम समयमें ही ग्रहण किये हुये होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो पीछेसे प्रत्येक समय ग्रहण किये जाकर, पूर्व-ग्रहीत पुद्गलों के संसर्गसे तद्रूप बने हुये होते हैं।

कार्य-भेदसे पर्याप्तिके छह भेद हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीर-पर्याप्ति, (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) द्वाभ्योच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनःपर्याप्ति। इनकी व्याख्या, पहले कर्मग्रन्थकी ४६ वीं गाथाके भावार्थ में पृ० ६७ वें से देख लेनी चाहिये।

इन छह पर्याप्तियों में से पहली चार पर्याप्तियोंके अधिकारी एकेन्द्रिय ही हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असाक्षि-पञ्चेन्द्रिय जीव, मनः पर्याप्तियोंके सिवाय शेष पाँच पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं। साक्षि-पञ्चेन्द्रिय जीव, छह पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं। इस विषयकी गाथा, धीजिनमद्रगणि क्षमाश्रमण-कृत बृहत्सग्रहणीमें है—

“आहारसरीरिन्द्रिय-पञ्जसो आणवाणभासमणो ।

ससत्तारि पंच छप्पि य, एगिवियविगलसंतीणं ॥ ३४६ ॥”

यही गाथा गोम्मटसार-जीवकाण्डमें ११८ वे नम्बर पर दर्ज है। प्रस्तुत विषयका विशेष स्वरूप जाननेके लिये ये स्थल देखने योग्य हैं—

नन्दी, पृ० १०४-१०५ पञ्चसं०, डा० १, गा० ५ वृत्ति, लोकप्र०, स० ३, श्लो० ७-४२ तथा जीवकाण्ड, पर्याप्ति-अधिकार, गा० ११७-१२७

परिशिष्ट 'च'

पृष्ठ २१ के 'क्रमभावी' शब्द पर—

छायास्थक उपयोग क्रमभावी है, इसमें मतभेद नहीं है, पर केवलीके उपयोग के सम्बन्ध में मुख्य तीन पक्ष हैं:—

(१) सिद्धान्त-पक्ष, केवलज्ञान और केवलदर्शनको क्रमभावी मानता है इसके समर्थक श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हैं।

(२) दूसरा पक्ष, केवलज्ञान-केवलदर्शन, उभय उपयोगको सहभावी मानता है। इसके पोषक श्रीमल्लवादी सात्विक आदि हैं।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगोंका भेद न मानकर उनका ऐक्यमानता है। इसके स्थापक श्रीसिद्धसेन दिवाकर हैं।

तीनों पक्षोंकी कुछ मुख्य-मुख्यदलीलें क्रमशः नीचे दी जाती हैं:—

१—(क) सिद्धान्त(नगवती-शतक १८ और २५ के ६ उद्देश, तथा प्रज्ञापना-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनोंका अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रम-मावित्व स्पष्ट वर्णित है। (ख) नियुक्ति आ० वि० भा० १७७-१७९ में केवल ज्ञान-केवलदर्शन दोनोंका भिन्न-भिन्न लक्षण उनके द्वारा सर्व-विषयक ज्ञान तथा दर्शनका होना और युगपत् दो उपयोगोंका निषेध स्पष्ट बतलाया है। (ग) केवल ज्ञान-केवलदर्शनके भिन्न-भिन्न आवरण और उपयोगोंकी बावह संख्या शास्त्र में (प्रज्ञापना, पद २६, गू० २३५ आदिमें) जगह-जगह वर्णित है। (घ) केवलज्ञान और केवलदर्शन, अनन्त कहे जाते हैं, सो लब्धिकी अपेक्षासे, उपयोगकी अपेक्षा से नहीं। उपयोगकी अपेक्षासे उतनी स्थिति एक समयकी है; क्योंकि उपयोगकी अपेक्षासे अनन्तता शास्त्रमें कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। (ङ) उपयोगोंका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिये केवलज्ञान और केवलदर्शनको क्रमभावी और अलग-अलग मानना चाहिये।

२ (क) आवरण-अवस्था निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय, समकालीन होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं। (ख) छायास्थक उपयोगोंमें कार्यकारण भाव या परपर प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक-भाव घट सकता है, आर्यिक-उपयोगोंमें नहीं; क्योंकि बोध-स्वभाव शाश्वत आत्मा, जब निरावरण हो, तब उसके दोनों आर्यिक-उपयोग निरन्तर ही होने चाहिये। (ग) केवलज्ञान केवलदर्शनकी सादि-अपर्यवसितता, जो शास्त्रमें कहीं है, वह भी युगपत्-पक्ष में ही घट सकती है; क्योंकि इस पक्षमें दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं। इसलिये द्रव्याधिकतयसे उपयोग-द्रव्यके प्रवाहको अपर्यवसित (अनन्त) कहा जा सकता है। (घ) केवलज्ञान-केवलदर्शन के सम्बन्ध में सिद्धान्त में जह-कहीं जो कुछ कहा गया है, वह सब दोनोंके व्यक्ति-भेदका साधक है, कतमावित्व का नहीं। इसलिये दोनों उपयोगको सहभावी मानना चाहिये।

३—(क) जैसे सामग्री मिलनेपर एक ज्ञान-पर्यायमें अनेक घट-पटादि विषय भासित होते हैं, वैसे ही आवरण-क्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल-उपयोग, पदार्थोंके सामान्यविशेष उभय स्वरूपक ज्ञान सकता है। (ख) जैसे केवलज्ञान के समय, मतिज्ञानावरणादिका अभाव होनेपर भी मति आदि ज्ञान, केवलज्ञानसे अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शना-वरणका क्षय होने पर भी केवलदर्शनको, केवलज्ञानसे अलग मानना उचित नहीं। (ग) विषय और क्षयोपशमत्वकी विभिन्नताके कारण, छायास्थिक ज्ञान और दर्शनमें परस्पर भेद माना जा सकता है, पर अनन्त-विषयकता और क्षायिक-भाव समान होने से केवलज्ञान-केवलदर्शनमें किसी तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि केवल दर्शनको केवलज्ञानसे अलग माना जाय तो वह सामान्यमात्रको विषय करने वाला होनेसे अल्पविषयकसिद्ध होगा, जिससे उसका शास्त्रकथित अनन्त-विषयकत्व नहीं घट सकेगा। (ङ) केवलज्ञानका भाषण, केवलज्ञान-केवलदर्शन-द्वन्द्व होता है, यह शास्त्र-कथन अभेद-पक्षहीमें पूर्णतया घट सकता है। (च) आवरण-भेद कथञ्चित है; अर्थात् वस्तुतः आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि-भेदकी अपेक्षा से उसके भेद समझने चाहिये इसलिये एक उपयोग-व्यक्तिमें ज्ञानत्व दण्ड नत्व दो धर्म अलग-अलग मानना चाहिये। उपयोग, ज्ञान-दर्शन दो अलग-अलग मानना युक्त नहीं; अतः एवं ज्ञान-दर्शन दोनों शब्द पर्यायमात्र (एकार्थवाची) हैं।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने अपने ज्ञानबिन्दु पृ० ११४ में नयी-दृष्टि से तीनों पक्षों का समन्वय किया है:—सिद्धान्त-पक्ष, शुद्ध श्रुतसूत्रनयकी अपेक्षा से; श्रीमत्त्ववादी जी का पक्ष, व्यवहार-नयकी अपेक्षा से और श्रीसिद्धसेन दिवाकरका पक्ष, संग्रहनयकी अपेक्षा से जानना चाहिये। इस विषयका सविस्तर वर्णन, सम्मतितर्क; जीवकाण्ड गा० ३ से आगे; विशेषावश्यक भाष्य गा० ३०८८—३१३५; श्रीहरिभद्रमूरिकृत भ्रमसंग्रहणी गा० १३३६—१३५६; श्रीसिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थटीका अ० १, सू० ३१, पृ० ११; श्रीमलयगिरि-नन्दी-वृत्ति पृ० १३४—१३८ और ज्ञानबिन्दु पृ० १५४—१६४ से जान लेना चाहिये।

दिगम्बर-सम्प्रदाय में उक्त तीन पक्षमें से दूसरा अर्थात् उपयोग-व्ययका पक्ष ही प्रसिद्ध है:—

शुगवं बट्टइ णाणं, केवलणानिस्स वंसणं च तथा ।

विणयरपयासतापं, अह बट्टइ सह मुणेयव्वं ॥१६०॥" —नियमसार ।

"सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणानं च वंसणं सयियं ।

सम्मतसणाहारं, उवजोगाणकसपउत्ती ॥७३०॥" —जीवकाण्ड ।

"वंसणपुव्वं णाणं, छदसस्थानं ण वोणि उवउग्गा ।

शुगवं अग्गा केवलं—णाहे शुगवं तु ते वो वि ॥८४॥" —द्रव्यसंग्रह ।

परिशिष्ट “छ” ।

पृष्ठ २२ के ‘एकेन्द्रिय’ शब्द पर—

एकेन्द्रियों में तीन उपयोग माने गये हैं । इसलिये यह शङ्का होती है कि ‘स्पर्शनेन्द्रिय-मति-ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति-उपयोग मानना ठीक है, परन्तु भाषालब्धि (बोलने की शक्ति) तथा श्रवणलब्धि (सुनने की शक्ति) न होने के कारण उनमें श्रुत-उपयोग कैसे माना जा सकता है; क्योंकि शास्त्र में भाषा तथा श्रवणलब्धिवालों को ही श्रुतज्ञान माना है । यथा:—

“भावसुयं भासासो,—यलद्विणो जुञ्जए न इयरस्स -

भासाभिसुहस्स जयं, सोऊण ए जं हविज्जतासि ॥१०२॥”

—विशेषावश्यक ।

बोलने व सुनने की शक्ति वाले हो को भावश्रुत हो सकता है, दूसरे को नहीं । क्योंकि ‘श्रुतज्ञान’ उस ज्ञान को कहते हैं, जो बोलने की दृष्टि वाले या वचन सुनने वाले को होता है ।

इसका समाधान यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्य (बाह्य) इन्द्रियां ने होने पर भी वृक्षादि जीवों में पाँच भावेन्द्रिय-जन्य ज्ञानों का होना, जैसा शास्त्र-सम्मत है; वैसे ही बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रियों में भावश्रुतज्ञान का होना शास्त्र-सम्मत है । यथा:—

“जह सुहुमं भाविधिय,—नाणं व्विक्खियावरोहे वि ।

तह दव्वसुयाभावे, भावसुयां पत्थिवाईणं ॥१०३॥”

—विशेषावश्यक ।

जिस प्रकार द्रव्य-इन्द्रियों के अभाव में भावेन्द्रिय-जन्य सूक्ष्म ज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के भाषा आदि बाह्य निमित्त के अभाव में भी पृथ्वीकायिक आदि जीवों को अल्प भावश्रुत होता है । यह ठीक है कि औरों को जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसे एकेन्द्रियों को नहीं होता । शास्त्र-में एकेन्द्रियों को आहार का बमिलाष माना है, यही उनके अस्पष्ट ज्ञान मानने में हेतु है ।

आहार का अभिलाष, क्षुधायेदनीयकर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम—विशेष (अध्यवसाय) है। यथा:—

“आहारसंज्ञा आहारमिलाषः क्षुधेदनीयोव्यग्रभवः सत्त्वात्मपरिणाम इति ।”

—आवश्यक, हारिमद्री वृत्ति पृ० ५८० ।

इस अभिलापरूप अध्यवसाय में 'मुझे अमूक वस्तु मिले तो अच्छा, इस प्रकार का वाक्य और अर्थ का विकल्प होता है। जो अध्यवसाय विकल्प सहित होता है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है। यथा:—

“इन्द्रियमणीनिमित्तं जं विष्णुण सुषाणुसारेण ।

निययत्पुत्तिसमर्थं, तं भावश्रुतं मई सेसं ॥१००१-”

—विशेषावश्यक ।

अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो नियत अर्थ का कथन करने में समर्थ और श्रुतानुसारी (शब्द तथा अर्थ के विकल्प से मुक्त) है, उसे 'भावश्रुत' तथा उससे भिन्न ज्ञान को 'मतिज्ञान' समझना चाहिये। अब यदि एरान्द्रियों में श्रुत उपयोग न माना जाय तो उनमें आहार का अभिलाष, जो शास्त्र-सम्मत है, वह कैसे घट सकेगा? इसलिये बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग अवश्य ही मानना चाहिये।

भाषा तथा श्रवणलब्धि वाले को ही भावश्रुत होता है, दूसरों को नहीं, इस शास्त्र-कथन का तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।



(१)-मार्गणास्थान-अधिकार ।

मार्गणा के मूल भेद ।

गइहंदि ए थ काये, जोए वेए कसायनाणेसु ।

संजमदंसणलेसा, भवसम्भे स निआहारे' ॥ ६ ॥

गतीन्द्रिये च काये, योगे वेदे कषायजानयोः ।

संयमदर्शनलेश्याभक्ष्यसम्यक्त्वे संज्ञयाहारे ॥ ६ ॥

अर्थ—मार्गणास्थान के गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भक्ष्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारकत्व, ये चौदह भेद हैं ॥ ६ ॥

मार्गणाओं की व्याख्या ।

भावार्थ—(१) गति—जो पर्याप्त, गतिनामकर्म के उदय से होते हैं और जिससे जीव चार मनुष्य, सिद्धेन्द्र, देव या दारु का व्यवहार होता है, वे 'गति' हैं ।

१—यह गाथा पञ्चसंग्रह की है (द्वार १. गा० २१) । गोम्मटसार-जीवकाण्ड में यह इस प्रकार है—

“गइहंदि ए थ काये, जोगे वेदे कसायनाणे थ ।

संजमदंसणलेसाभविवासमत्तसम्भिआहारे ॥१४१॥”

२—गोम्मटसार-जीवकाण्ड के मार्गणाधिकार में मार्गणाओं के जो लक्षण हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) गतिनामकर्म के उदय-जन्म पर्याय या चार गति पाने के कारण-भूत जो पर्याय, वे 'गति' कहलाते हैं ।

—गा० १४५

(२) अहमिन्द्र देव के समान आपस में स्वतन्त्र होने से नेत्र आदि को 'इन्द्रिय' कहते हैं ।

—गा० १६३ ।

(३) जातिनामकर्म के नियत-सहचारी अस या स्थावर-नामकर्म के उदय से होने वाले पर्याय 'काय' हैं ।

गा० १८० ।

(४) पुद्गल-विपाकी शरीरनामकर्म के उदय से मन, वचन और काय-युक्त जीव की कर्म-ग्रहण में कारणभूत जो शक्ति, वह 'योग' है ।—गा० २१५

(२) इन्द्रिय—रसज्ञा, नेत्र आदि जिन साधनों से सर्वो-गर्भी,

(५) वेदभोहनीय के उदय-उदीरणा से होने वाला परिणाम का संमोह (चाञ्चल्य), जिससे गुण-दोषका विवेक नहीं रहता, वह 'वेद' है।—गा० २७१

(६) 'कषाय' जीव के उस परिणाम को कहते हैं, जिससे सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के घास को पैदा करने वाले और संसार रूप विस्तृत सीमा वाले कर्मरूप क्षेत्र का कर्षण किया जाता है। —गा० २८१।

सम्पन्नत्व, देशचारित्र्य, सर्वचारित्र्य और यथाव्याप्तचारित्र्य का घात (प्रतिबन्ध) करने वाला परिणाम 'कषाय' है। —गा० २८२।

(७) जिसके द्वारा जीव तीन काल-सम्बन्धी अनेक प्रकार के द्रव्य, गुण और पर्याय को जान सकता है, वह 'ज्ञान' है। —गा० २८८।

(८) अहिंसा आदि व्रतों के धारण, ईर्ष्या आदि समितियों के पालन कषायों के निग्रह, मन आदि दण्ड के त्याग और इन्द्रियों की जय को 'संयम' कहा है। —गा० ४६४।

(९) पदार्थों के आकार को विशेष रूप से न जानकर सामान्य रूप से जानना, वह 'दर्शन' है। —गा० ४८१।

(१०) जिस परिणाम द्वारा जीव पुण्य-पाप कर्म को अपने साथ मिला लेता है, वह 'लेश्या' है। —गा० ४८८।

(११) जिन जीवों की सिद्धि कभी होने वाली हो—जो सिद्धि के योग्य हैं, वे 'भव्य' और इसके विपरीत, जो कभी संसार में मुक्त न होंगे, वे 'अभव्य' हैं। —गा० ५१६।

(१२) वीतराग के कहे हुये पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य या नव प्रकार के पदार्थों पर आज्ञापूर्वक या अभिगमपूर्वक (प्रमाण-नय-निरूप-द्वारा) श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' है। —गा० ५६०।

(१३) नो-इन्द्रिय (मन) के आवरण का श्लोपशम या उससे होने वाला ज्ञान, जिसे संज्ञा कहते हैं, उसे धारण करने वाला जीव 'संज्ञी' और इसके विपरीत, जिसको मन के सिवाय अन्य इन्द्रियों से ज्ञान होता है वह 'असंज्ञी' है। —गा० ६१९।

(१४) औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन में से किसी भी शरीर के योग्य वर्णों को यथायोग्य ग्रहण करने वाला जीव 'आहारक' है। —गा० ६६४।

काले-पीले आदि विषयों का ज्ञान होता है और जो अङ्गोपाङ्ग तथा निर्माण नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, वे 'इन्द्रिय' हैं ।

(३) काय—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल-स्कन्धों से होती है और जो शरीरनामकर्म के उदय से बनता है, उसे 'काय' (शरीर) कहते हैं ।

(४) योग—वीर्य-शक्ति के जिस परिस्पन्द से - आत्मिक-प्रवेशों-की हल-चल से—गमन, भोजन आदि क्रियाएँ होती हैं और जो धरिस्पन्द, शरीर, भाषा तथा मनोवर्गना के पुद्गलों की सहायता से होता है, वह 'योग' है ।

(५) वेद—संभोग-जन्य सुख के अनुभव की इच्छा, जो वेद-मोहनीयकर्म के उदय से होती है, वह 'वेद' है ।

(६) कषाय—किसी पर आसक्त होना या किसी से माराज हो जाना, इत्यादि मानसिक-विकार, जो संसार-वृद्धि के कारण हैं और जो कषायमोहनीय कर्म के उदय-जन्य हैं, उनको 'कषाय' कहते हैं ।

(७) ज्ञान—किसी वस्तु को विशेष रूप से जानने वाला चेतना-शक्ति का ध्यावार (उपयोग), 'ज्ञान' कहलाता है ।

(८) संयम—कर्मबन्ध-जनक प्रवृत्ति से अलग हो जाना, 'संयम' कहलाता है ।

(९) दर्शन—विषय को सामान्य रूप से जानने वाला चेतना-शक्ति का उपयोग 'दर्शन' है ।

(१०) लेश्या—आत्मा के साथ कर्म का मेल कराने वाले परिणाम-विशेष 'लेश्या' हैं ।

(११) भव्यत्व—मोक्ष पाने की योग्यता को 'भव्यत्व' कहते हैं ।

(१२) सम्यक्त्व—आत्मा के उस परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं, जो मोक्ष का अविरोधी है—जिसके व्यक्त होते ही आत्मा की प्रवृत्ति,

मुख्यतया अन्तर्मुख (भीतर की ओर) हो जाती है । तत्त्व-रति, इसी परिणाम का फल है^१ । प्रथम, संवेग, निवेद, अनुकम्पा और आस्तिकता, ये पाँच लक्षण प्रायः सम्प्रकृषी में पाये जाते हैं ।

(१३) संज्ञित्व—घोषकालिकी संज्ञा को प्राप्ति को 'संज्ञित्व' कहते हैं ।

(१४) आहारकत्व—किसी-न-किसी प्रकार के आहार^२ को ग्रहण करना, 'आहारकत्व' है ।

मूल प्रत्येक मार्गणा में सम्पूर्ण संसारी जीवों का समावेश होता है ॥ ६ ॥

१—यही बात भट्टारक श्रीअकलङ्कदेवने कही है:—

“तस्मात् सम्प्रवर्तनमात्मपरिणामः श्रेयोभिमुखमध्यवस्थायामः”

—तत्त्वा० अ० १, सू० २, रान० १६ ।

२—आहार तीन प्रकार का है:—(१) ओज-आहार, (२) लोम-आहार और (३) कवल-आहार । इनका लक्षण इस प्रकार है:—

“सरीरेणोयाहारो, तपाह पासेण लोम आहारो :

पक्षेयाहारो पुन, कवलियो होइ नामवो ॥”

गर्भ में उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणितरूप आहार, कामणशरीर के द्वारा लिया जाता है, वह ओज, वायु का त्वगिन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, वह लोम और जो अन्न आदि खाद्य, मुख द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह कवल-आहार है ।

आहार का स्वरूप गोम्मटसार-जीवकाण्ड में इस प्रकार है:—

“उदयावर्णसरीरो,—वयेण तद्देहवयणाचिस्ताण ।

नोक्कम्मवर्णणाणं, महणं आहारयं नाम ॥६६३॥”

शरीरनामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमा के बनने योग्य नोक्कर्म-वर्णणाओं का जो ग्रहण होता है, उसको 'आहार' कहते हैं ।

दिगम्बर-सहित्य में आहार के छह भेद किये हुये मिलते हैं । यथा:—

मार्गणास्थान के अवान्तर (विशेष) भेद ।

[चार गाथाओं से ।]

सुरनरतिरिनिरयगई, इगत्रियतियचउपणिदि छुक्काया ।
भूजलजलणानिलक्षण, तसा य मणवयणतणुजोसा ॥ १० ॥

सुरनरतिर्यङ्गिनिरयगतिरेकद्विकत्रिकचतुष्पञ्चेन्द्रियाणि षट्कायाः ।
भूजलजलणानिलक्षणतणुजोसा मणवयणतणुजोसाः ॥ १० ॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, ये चार गतियाँ हैं ।

एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, ये पाँच इन्द्रिय हैं । पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और प्रसकाय, ये छह काय हैं । मनोयोग, वचनयोग और काययोग, ये तीन योग हैं ॥ १० ॥

(१)--गतिभार्गण के भेदों का स्वरूपः—

भावार्थ—(१) 'देवगतिनामकर्म' के उदय से होने वाला पर्याय (शरीर का विशिष्ट आकार), जिससे 'यह देव' है, ऐसा व्यवहार किया जाता है, वह 'देवगति' । (२) 'यह मनुष्य है,' ऐसा व्यवहार कराने-वाला जो मनुष्यगतिनामकर्म के उदय-जन्य पर्याय, वह 'मनुष्यगति' । (३) जिस पर्याय से जीव 'तिर्यञ्च' कहलाता है और जो तिर्यञ्चगतिनामकर्म के उदय से होता है, वह 'तिर्यञ्चगति' । (४) जिस पर्याय को पाकर जीव, 'नरक' कहा जाता है और जिसका कारण नरकगतिनामकर्म का उदय है, वह 'नरकगति' है ।

गोकर्मकम्महारो, कबलाहारो य लेप्पमाहारो ।

ओजमणो वि य कमसो, आहारो छत्थिहो णेयो ॥”

—प्रमेयकमलमार्तण्ड के द्वितीय परिच्छेद में प्रमाणरूप से उद्धृत ।

(२)—इन्द्रियमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) जिस जाति में सिर्फ स्वचा इन्द्रिय पायी जाती है और जो जाति, एकेन्द्रियजातिनामकर्म के उदय से प्राप्त होती है, वह 'एकेन्द्रियजाति' । (२) जिस जाति में दो इन्द्रियाँ (स्वचा, जीम) हैं और जो द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के उदय-जन्य है, वह 'द्वीन्द्रियजाति' । (३) जिस जाति में इन्द्रियाँ तीन (उक्त दो तथा नाक) होती हैं और त्रीन्द्रियजातिनामकर्म का उदय जिसका कारण है, वह 'त्रीन्द्रियजाति' । (४) चतुरिन्द्रियजाति में इन्द्रियाँ चार (उक्त तीन तथा नेत्र) होती हैं और जिसकी प्राप्ति चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म के उदय से होती है । (५) पञ्चेन्द्रियजाति में उक्त चार और कान, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं और उसके होने में निमित्त पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म का उदय है ।

(३)—कायमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) पृथ्वी शरीर, जो पृथ्वी का बनता है, वह 'पृथ्वीकाय' । (२) जलीय शरीर, जो जलसे बनता है, वह 'जलकाय' । (३) तप्तजलशरीर, जो तेजका बनता है, वह 'तेजकाय' । (४) वायवीय शरीर, जो वायु-जन्य है, वह 'वायुकाय' । (५) वनस्पति-शरीर, जो वनस्पतिमय है, वह 'वनस्पतिकाय' है । ये पाँच काय, स्थावरनामकर्म के उदय से होते हैं और इनके स्वामी पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव हैं । (६) जो शरीर चल-फिर सकता है और जो ब्रह्मनामकर्म के उदय से प्राप्त होता है, वह 'ब्रह्मकाय' है । इसके धारण करने वाले द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सब प्रकार के जीव हैं ।

(४)—योगमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) जीव का वह व्यापार 'मनोयोग' है, जो औदारिक, वैक्रिय

या आहारक-शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुये मनोव्रक्ष्य-समूह की भवद से होता है । (२) जीव के उस व्यापार की 'वचन योग' कहते हैं, जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक-शरीर की क्रिया द्वारा संव्य किये हुये भाषाव्रक्ष्य की सहायता से होता है । (३) शरीरधारी आत्मा की शीर्ष शक्ति का व्यापार-विशेष 'काययोग' कहलाता है ॥१०॥

(१०) — नेत्रवार्गणा को भेटों का ग्रहणः —

वेद्य नरस्त्रिनपुंसा, कसाय कोहमद्यमायलोभ ति ।

महसुयवहिमणकेवल, — ब्रह्मगमदसुअनाण सागरा ॥११॥

वेद्य नरस्त्रिनपुंसकाः, कषाया क्रोधमदमायालोभा इति ।

मातश्रुतावधिमनः केवलविक्रमति श्रुताज्ञानानि साकाराणि ॥११॥

अर्थ — पुरुष, स्त्री और नपुंसक, ये तीन वेद हैं । क्रोध, मात माया और लोभ, ये चार भेद कषाय के हैं । मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान, ये आठ प्रकार (विशेष) उपयोग हैं ॥११॥

भाषार्थ — (१) स्त्री के संसर्ग की इच्छा 'पुरुषवेद', (२) पुरुष के संसर्ग करने की इच्छा 'स्त्रीवेद' और (३) स्त्री-पुरुष दोनों के संसर्ग की इच्छा 'नपुंसकवेद' है ।

१ — यह लक्षण भागवेदका है । द्रव्यवेदका निर्णय बाहरी चिह्नों से किया जाता है: — पुरुष के चिह्न, डाढ़ी-मूँछ आदि हैं । स्त्री के चिह्न डाढ़ी मूँछ का अभाव तथा स्तन आदि हैं । नपुंसक में स्त्री-पुरुष दोनों के कुछ-कुछ चिह्न होते हैं ।

यही बात प्रज्ञापना-भाषापर की टीका में लही हुई है: —

“योनिर्मुकुटवस्त्रैर्य, भुश्रुता कोसवता स्तनी ।

पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥

मेहनं खरता बाहय, शोण्डीयं इमश्च धृष्टता ।

स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥

स्तनादिऽमथकेशादि, -भावाभावसमन्वितम् ।

नपुंसकं बुधाः प्राहुः, -मौहानलसुदीपितम् ॥३॥

वास्तव चिन्ह के सम्बन्ध में यह कथन बहुलता की अपेक्षा से है; क्योंकि कभी-कभी पुरुष के चिन्ह, स्त्री में और स्त्री के चिन्ह, पुरुष में देखे जाते हैं। इस बात की सत्यता के लिये नीचे-लिखे उद्धरण देखने योग्य हैं:—

“मेरे परम मित्र डाक्टर शिवप्रसाद, जिस समय कोटा हास्पिटल में थे (अब आपने स्वतन्त्र मेडिकल हाल खोलने के द्वारा से नौकरी छोड़ दी है, अपनी आँखों देखा हाल इस प्रकार बयान करते हैं कि ‘डाक्टर मेकवाट साहब के जमाने में (कि जो उस समय कोटे में चीफ मेडिकल आफिसर थे) एक व्यक्ति पर मुर्छास्थि (अर्द्धर क्लोरोफार्म) में शस्त्रचिकित्सा (आपरेशन) करनी थी, अतएव उसे मूर्छित किया गया; देखते क्या हैं कि उसके शरीर में स्त्री और पुरुष दोनों के चिन्ह विद्यमान हैं। ये दोनों अव-
धव पूर्ण रूप से विकास पाए हुए थे। शस्त्रचिकित्सा किये जाने पर उसे होश में लाया गया, होश में आने पर उससे पूछने पर मालूम हुआ कि उसने उन दोनों अवयवों से पृथक् २ उनका कार्य लिया है, किन्तु गर्भादिक शंका के कारण उसने स्त्री विषयक अवयव से कार्य लेना छोड़ दिया है। यह व्यक्ति अब तक जीवित है।’

“मुनने में आया है और प्रायः सत्य है कि ‘मेरवाड़ा डिस्ट्रिक्ट (Merwara District) में एक व्यक्ति के लड़का हुआ। उसने वयस्क होने पर एण्ट्रेन्स पास किया। इसी अर्थ में माता पिता ने उसका विवाह भी कर दिया, क्योंकि उसके पुरुष होने में किसी प्रकार की शंका तो थी ही नहीं; किन्तु विवाह होने पर मालूम हुआ कि वह पुरुषत्वके विचार से सर्वथा अयोग्य है। अतएव डाक्टरों की जांच करवाने पर मालूम हुआ कि वह वास्तव में स्त्री है और स्त्री चिन्ह के

(६) कथाय'भार्गणा के भेदों का स्वरूप: -

(१) 'क्रोध' वह विकार है, जिससे किसी की भली- बुरी बात सहन नहीं की जाती या नाराजी होती है। (२) जिस दोष से छोटे-बड़े के प्रति उचित नम्रभाव नहीं रहता या जिससे ऐंठ हो वह 'मान' है।

ऊपर पुरुषचिन्ह नाम मात्र को बन गया --इसी कारण वह चिन्ह निरर्थक है --अतएव डाक्टर के उस कृत्रिम चिन्ह को दूर कर देने पर उसका शुद्ध स्त्रीस्वरूप प्रकट हो गया और उन दोनों स्त्रियों (पुरुषरूपधारी स्त्री और उसकी निवाहिता स्त्री) की एक ही व्यक्ति से शादी कर दी गई। यह स्त्री कुछ समय पहिले तक जीवित नतलाई जाती है।"

--मानव-संसातिसास्त्र, प्रकरण छठा।

यह नियम नहीं है कि द्रव्यवेद और भाववेद समान ही हो। ऊपर से पुरुष के चिन्ह होने पर भी भाव से स्त्री वेद के अनुभव का सम्भव है। यथा:-

“प्रारब्धे रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तथा साहस-

प्रायं कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भितत्तन्त्रमात् ।

खिन्ता येन कदीतटी शिविलता दीर्घलिलरुक्मिरतम्,

वक्षो भीलितमैक्षि पोरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्धयति ॥१७॥”

--सुभाषितस्तोत्राण्डार-विपरीतप्रतिज्ञा

इसी प्रकार अन्य वेदों के विषय में भी विचर्यश्या सम्भव है, तथापि बहुतकर द्रव्य और भाव वेद में सामानता--बाह्य चिन्ह के अनुसार ही मानसिक-विक्रिया--पाई जाती है।

गोप्पटसार-जीवकाण्ड में पुरुष आदि वेद का लक्षण शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार किया है।

भा० २७२--७४।

१--कथायित शक्ति के लोभ-मन्द-भाव की अपेक्षा से क्रोधादि प्रत्येक कथाय के अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार भेद कर्मग्रन्थ और गोप्पटसार-जीवकाण्ड में समान है। किन्तु गोप्पटसार में लेश्या की अपेक्षा से चौदह-चौदह और आशु के बन्धाग्रन्थ की अपेक्षा से बीस-बीस भेद किये गये हैं; उनका विचार स्वताम्बरी ग्रन्थों में नहीं देखा गया। इन भेदों के लिये देखिये, भा० भा० २६१ से २६४ तक।

(३) 'माया' उसे कहते हैं, जिससे, धूल-कण्ट में प्रवृत्ति होती है । (४) 'लोभ' ममरवको कहते हैं ।

(७) ज्ञानमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) जो ज्ञान इन्द्रिय के तथा मन के द्वारा होता और जो बहुतकर वर्तमानकालिक विषयों को जानता है, वह 'मतिज्ञान' है ।
 (२) जो ज्ञान, श्रुतानुसारी है—जिसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है—और जो मतिज्ञान के बाद होता है; जैसे—'जल' शब्द सुनकर यह जानना कि यह शब्द पानी का बोधक है अथवा पानी देखकर यह विचारना कि यह, 'जल' शब्द का अर्थ है, इस प्रकार उसके सम्बन्ध की अन्य-अन्य बातों का विचार करना, वह 'श्रुतज्ञान' है । (३) 'अवधिज्ञान' वह है, जो इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही उत्पन्न होता है—जिसके होने में आत्मा की विशिष्ट योग्यता मात्र अपेक्षित है—और जो रूप वाले विषयों को ही जानता है । (४) 'मनः पर्यायज्ञान' वह है, जो संज्ञी जीवों के मन की अवस्थाओं को जानता है और जिसके होने में आत्मा के विशिष्ट क्षयोपग्राममात्र की अपेक्षा है, इन्द्रिय-मन की नहीं । (५) 'केवलज्ञान' उस ज्ञान को कहते हैं, जिससे त्रैकालिक सब वस्तुएँ, जानी जाती हैं और जो परिपूर्ण, स्वाधी तथा स्वतन्त्र है । (६) विपरीत मति-उपयोग, 'मति-अज्ञान' है; जैसे—घट आदि को एकान्त सद्रूप मानना अर्थात् यह मानना कि यह किसी अपेक्षा से असद्रूप नहीं है । (७) विपरीत श्रुत-उपयोग 'श्रुत-अज्ञान' है; जैसे—'हरि' आदि किसी शब्द को सुनकर यह निश्चय करना कि इसका अर्थ 'सिंह' है, दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, इत्यादि । (८) विपरीत अवधि-उपयोग ही 'विभङ्गज्ञान' है । कहा जाता है कि शिवराजर्षि को ऐसा ज्ञान था; क्योंकि उन्होंने सप्त द्वीप तथा सात समुद्र देखकर उतने में ही सब द्वीप-समुद्र का निश्चय किया था ।

जिस समय मिथ्यात्व का उदय हो आता है, उस समय जीव कदाग्रही बन जाता है, जिससे वह किसी विषय का यथार्थ स्वरूप जानने नहीं पाता; उस समय उसका उपयोग—चाहते वह मतिरूप हो, श्रुतरूप हो या अवधिरूप हो—अज्ञान (अयथार्थ-ज्ञान) रूप में बदल जाता है।

सनःपर्याय और केवलज्ञान, ये दो उपयोग, मिथ्यात्वों को होते ही नहीं; इससे ये ज्ञानरूप ही हैं।

ये आठ उपयोग, साकार इसलिये कहे जाते हैं कि इनके द्वारा वस्तु के सामान्य-विशेष, उभय रूप में से विशेष रूप (विशेष आकार) मुख्यतया जाना जाता है ॥११॥

(८) संयममार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

सामाद्व्यभेदपरिहार, सुहृमअहृत्तायदेसाजवअजया ।

चक्षुअचक्षुओही, केवलवंसाण अणागारा ॥ १२ ॥

सामायिकच्छदपरिहारसूक्ष्मयथाख्यातदेशयतायता नि ।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदशानान्यनाकाराणि ॥ १२ ॥

अर्थ—सामायिक, द्वैतपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसम्य-
राय, यथाख्यात, देशविरति और अविरति, ये सात भेद संयम-
मार्गणा के हैं। चक्षुर्वर्शन, अचक्षुर्वर्शन, अवधिवर्शन और केवल-
वर्शन, ये चार उपयोग अनाकार हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—(१) जिस संयम में समभाव की (राग-द्वेष के अभाव की) प्राप्ति हो, वह 'सामायिकसंयम' है। इसके (क) 'इत्वर' और (ख) 'याव-
त्कथित' ये दो भेद हैं।

(क) 'इत्वरसामायिकसंयम' वह है, जो अभ्यासार्थी शिष्यों-
की स्थिरता प्राप्त करने के लिये पहले-पहल दिया जाता है और

जिसकी काल-पर्याया उपस्थापन पर्यन्त—बड़े दीक्षा लेने तक—मानी गई है। यह संयम भरत-ऐरवत-क्षेत्र में प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन के समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करने वालों को प्रतिक्रमण सहित पाँच महाव्रत अङ्गीकार करने पड़ते हैं तथा इस संयम के स्वामी 'स्थितकल्पी' होते हैं।

(ख) 'यावत्कथितसामायिकसंयम' वह है, जो ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है। ऐसा संयम-ऐरवत-क्षेत्र में मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के शासन में ग्रहण किया जाता है पर महाविवेहक्षेत्र में तो यह संयम, सब अवस्था में लिया जाता है। इस संयम के धारण करने वालों को महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।

(२) प्रथम संयम-पर्याय को छेवकर फिर से उपस्थापन (वतारोपण) करना—पहले जितने समय तक संयम का पालन किया ही, उतने समय को व्यवहार में न गिनना और पुनरा संयम ग्रहण करने के समय से दीक्षाकाल गिनना व छोटे-बड़े का व्यवहार करना—'छेवोपस्थापनीयसंयम' है। इसके (क) 'सात्तिचार' और (ख) 'निरतिचार,' ये दो भेद हैं।

(क) 'सात्तिचार—छेवोपस्थापनीय संयम' वह है, जो किसी कारण से मूलगुणों का—महाव्रतों का—भङ्ग हो जाने पर फिर से ग्रहण किया जाता है।

(ख) 'निरतिचार-छेवोपस्थापनीय', उस संयम को कहते

१—आचेलक्षय, औद्देशिक, शय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युपणा, इन दस कल्पों में जो स्थित हैं, वे 'स्थितकल्पी' और शय्यातर पिण्ड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म, इन चार में नियम से स्थित और शेष छह कल्पों में जो अस्थित होते हैं, वे स्थितास्थितकल्पी' कहे जाते हैं।

—आ० हारिमद्री वृत्ति, पृ० ७६०, पञ्चाशक, प्रकरण १७।

हैं, जिसको इत्थरसामायिकसंयम वाले बड़ी वीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं। यह संयम, भरत-ऐरवत-अंश में प्रथम तथा चरम तीर्थङ्करों के साधुओं को होता है और एक तीर्थ के साधु, दूसरे तीर्थ में जब वापस होते हैं; जैसे—श्रीपाद्विनाय के केशीगङ्गाक्षेत्र आदि सान्त्वानिक साधु, भगवान् महावीर के तीर्थ में वापस होते हैं; तब उन्हें भी पुनर्वीक्षारूप में यही संयम होता है।

(३) 'परिहारविशुद्धसंयम' यह है, जिसमें 'परिहारविशुद्धि' नाम की तपस्या की जाती है। परिहारविशुद्धि तपस्या का विधान संक्षेप में इस प्रकार है:—

१—इस बात का वर्णन भगवतीसूत्र में है।

२—इस संयम का अधिकार पाने के लिये गृहस्थ-पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २२ साल साधु-पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० साल और दोनों पर्याय का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ-कम करीब पूर्व वर्ष माना है। यथा:—

“एयस एस नेओ, गिहपरिआओ जहन्नि गुणतोसा।

जइपरियाओ बीसा, वोसुधि उक्कोस वेसूणा।”

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नव पूर्व का ज्ञान होता है; यह श्रीअयसोमसूरि ने अपने टके में लिखा है। इसका ग्रहण तीर्थङ्करों तथा तीर्थ-ङ्करों अन्तेवासी के पास माना गया है इस संयम को धारण करने वाले मुनि, दिन के तीसरे प्रहर में निष्ठा व विहार कर सकते हैं और अन्य समय में ध्यान, कायोत्सर्ग आदि। परन्तु इस विषय में दिगम्बर-शास्त्र का थोड़ा सा मत-भेद है। उसमें तीस वर्ष की उम्रवाले को इस संयम का अधिकारी माना है। अधिकारी के लिये नौ पूर्व का ज्ञान आवश्यक बताया है। तीर्थङ्कर के सिवाय और किसी के पास उस संयम के ग्रहण करने की उसमें मनाही है। साथ ही तीन संस्थाओं को छोड़कर दिन के किसी भाग में दो कोस तक जाने की उसमें सम्मति है। यथा:—

“तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं ऋ तित्थयरसूते।

पक्कवज्जाणं पडिदो, संसूणं कुमाउयविहारो ॥४७२॥”

जीवकाण्ड।

नौ साधुओं का एक गण (समुदाय) होता है, जिसमें से चार तपस्वी बनते हैं, चार उनके परिचारक (सेवक) और एक वाचनाचार्य । जो तपस्वी हैं, वे ग्रीष्मकाल में जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन, उपवास करते हैं । शीतकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार, उपवास करते हैं । परन्तु वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाँच, उपवास करते हैं । तपस्वी, पारणा के दिन अग्निग्रहसहित आर्याभिल' व्रत करते हैं । यह क्रम, छह महीने तक चलता है । दूसरे छह महीनों में पहले के तपस्वी ती परिचारक बनते हैं और परिचारक, तपस्वी ।

दूसरे छह महीने के लिये तपस्वी बने हुये साधुओं की तपस्या का वही क्रम होता है, जो पहले के तपस्वियों की तपस्या का । परन्तु जो साधु परिचारक-पद ग्रहण किये हुये होते हैं, वे सदा आर्याभिल ही करते हैं । दूसरे छह महीने के बाद, तीसरे छह महीने के लिये वाचना-चार्य ही तपस्वी बनता है; शेष आठ साधुओं में से कोई एक वाचना-चार्य और बाकी के सब, परिचारक होते हैं । इस प्रकार तीसरे छह महीने पूर्ण होने के बाद अठारह मास की यह 'परिहारविशुद्ध' नामक तपस्या समाप्त होती है । इसके बाद वे जिनकल्प ग्रहण करते हैं अथवा वे पहले जिस गच्छ के रहे हों, उसी में वाञ्छित होते हैं या फिर वही वंसी हो तपस्या शुरू करते हैं । परिहारविशुद्धसंयम के 'निर्विशमानक' और 'निर्विष्टकायिक', ये दो भेद हैं । वर्तमान परिहार-विशुद्ध को 'निर्विशमानक' और भूत परिहारविशुद्ध को 'निर्विष्टका-यिक' कहते हैं ।

(४) जिस समय में सम्पराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अति-

२—यह एक प्रकार का द्रव है, जिसमें घी, दूध आदि रसको छोड़कर केवल अन्न खाया जाता है; सो भी दिन एक ही दफा । पानी इसमें गरम पिया जाता है ।

आवश्यक नि०, गा० १६०३-५ ।

स्वल्प) रहता है, वह सूक्ष्मसम्परायसंयम' है । इसमें लोम-कषाय उदयमान होता है, अन्य नहीं । यह संयम दसवें गुणस्थान वालों को होता है । इसके (क) 'संत्तिकश्यमानक' और (ख) 'विशुद्धयमानक' ये दो भेद हैं ।

(क) उपशमश्रेणि से गिरने वालों को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय जो संयम होता है, वह 'संत्तिकश्यमानकसूक्ष्मसम्पराय संयम' है; क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम संत्केश-प्रधान हो होते जाते हैं ।

(ख) उपशमश्रेणि या क्षयकश्रेणि पर चढ़ने वालों को दसवें गुणस्थान में जो संयम होता है, वह 'विशुद्धयमानकसूक्ष्मसम्पराय संयम' है; क्योंकि उस समय के परिणाम विशुद्धि-प्रधान हो होते हैं ।

(५) जो संयम यथातथ्य है अर्थात् जिसमें कषाय का उदय-लेश भी नहीं है, वह 'यथाख्यातसंयम' है । इसके (क) 'छायास्थिक' और (ख) 'आयस्थिक' ये दो भेद हैं ।

(क) 'छायास्थिकयथाख्यात संयम' यह है, जो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान वालों को होता है । ग्यारहवें गुणस्थान की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान में विशेषता यह है कि ग्यारहवें में कषाय का उदय नहीं होता, उसकी सत्तामात्र होती है; पर बारहवें में तो कषाय की सत्ता भी नहीं होती ।

(ख) 'आयस्थिकयथाख्यातसंयम' केवलियों को होता है । सयोगी केवली का संयम 'सयोगीयथाख्यात' और अयोगी केवली का संयम 'अयोगीयथाख्यात' है ।

(६) कर्मवन्ध-जनक आरम्भ-समारम्भसे किसी अंश में निवृत्त होना 'वैशविरतिसंयम' कहलाता है । इसके अधिकारी गृहस्थ हैं^१ ।

१--श्रावक की दया का परिमाण--मुनी सब तरह की हिंसा से मुक्त रह सकते हैं, इसलिये उनकी दया परिपूर्ण कही जाती है । पर गृहस्थ वैसे रह नहीं सकते; इसलिये उनकी दया का

(७) किसी प्रकार के संयम का स्वीकार न करना 'अविरति' है । यह पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में पायी जाती है ।

(८)—वर्जनमार्गणा के चार भेदों का स्वरूप:—

(१) चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय के द्वारा जो बोध होता है, वह 'चक्षुर्वर्जन' है ।

(२) चक्षु को छोड़ अन्य इन्द्रिय के द्वारा तथा मन के द्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'अचक्षुर्वर्जन' है ।

परिमाण बहुत-कम कहा गया है : यदि मुनियों की दया को बीरा अंश मान लें तो श्रावकों की दया को सवा अंश कहना चाहिये । इसी बात को जैन शास्त्रीय परिभाषा में कहा है कि "राशुओं की दया बीरा बिस्वा और श्रावकों की दया सवा बिस्वा है" । इसका कारण यह है कि श्रावक, वसा जीवों की हिंसा को छोड़ सकते हैं स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं ; इससे मुनियों की बीरा बिस्वा दया की अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है इसमें भी श्रावक, वसाकी संकल्प पूर्वक हिंसा का त्याग कर सकते हैं, आरम्भ-जन्य हिंसा का नहीं । अत एव उस आधे परिमाण में से भी आधा हिस्सा निकल जाने पर पाँच बिस्वा दया बचती है । इरादा-पूर्वक हिंसा भी उन्हीं वसों की त्याग की जा सकती है, जो निरपराध हैं । सापराध वसों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकने इससे हाई बिस्वा दया रहती । इसमें से भी आधा अंश निकल जाता है; क्योंकि निरपराध वसों की भी सापेक्षहिंसा श्रावकों के द्वारा हो ही जाती है, वे उनकी निरपेक्षहिंसा नहीं करते । इसी से श्रावकों की दया का परिमाण सवा बिस्वा माना है । उस भाव को जानने के लिये एक प्राचीन वाक्या इस प्रकार है ।

"जीवा मुहुसा षूना, संजा आरंभा भवे दुक्किहा ।

सावराह निरवराहा, सविक्खा वेव निरविक्खा ॥"

इसके विशेष खुलासे के लिए देखिये, जैनतत्त्वादर्शका परिच्छेद १८वाँ ।

१—यद्यपि सब जगह दर्शन के चार भेद ही प्रसिद्ध हैं और हमी से मनः पर्याय दर्शन नहीं माना जाता है । तथापि कहीं-कहीं मनः पर्याय दर्शन की भी स्वीकार किया है । इसका उल्लेख तत्त्वार्थ-अ० स० २४ की टीका में है:—

"केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनायां मनः पर्यायज्ञाने दर्शनना परमते"

(३) अवधिलब्धिवालों को इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सभी द्रव्य-विषयक जो सामान्य बोध होता है, वह 'अवधिदर्शन' है ।

(४) सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायों को सामान्य रूप से विषय करने वाला बोध 'केवलदर्शन' है ।

दर्शन को अनाकार-उपयोग इसलिये कहते हैं कि इसके द्वारा वस्तु के सामान्य-विशेष, उभय रूपों में से सामान्य रूप (सामान्य आकार) मुख्यतया जाना जाता है । अनाकार-उपयोग को न्याय-वर्ण-षिक आदि दर्शनों में 'निर्विकल्पअव्यवसायात्मकज्ञान' कहते हैं ॥१२॥

(१०)---लेइया के भेदों का स्वरूपः—

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भवियरा ।

वेयगल्लइगुवसममि,—चट्थमीससगसाण संनियरे ॥१३॥

कृष्णा नीला कापोला, तेजः पद्मा च शुल्का भव्यतरो

वेदकक्षामिकोपशममिध्यामिश्रसासादनान संजीतरी ॥१४॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोल, तेजः, पद्म और शुल्क ये छह लेइयायें हैं । भव्यत्व, अभव्यत्व, ये दो भेद भव्यमार्गणा के हैं । वेदक (सायो-पशमिक), क्षामिक, औपशमिक, मिध्यात्व, मिथ और सासादन, ये छह भेद सम्यक्त्वमार्गणा के हैं - संजितत्व, असंजितत्व, ये दो भेद संजिमार्गणा के हैं ॥१५॥

भावार्थ—(१) काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेइया-जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसा परिणाम होता है, जिससे हिंसा आदि पाँच आलस्यों में प्रवृत्ति होती है, मन, वचन तथा शरीर का संयम नहीं रहता; स्वभाव क्षुद्र बन जाता है; गुण-बोध की परीक्षा किये बिना ही कार्य करने की आवस्यता हो जाती है और क्रूरता का जाती है, वह परिणाम 'कृष्णलेइया' है ।

(२) अशोक वृक्ष के समान नीले रंग के लेश्या-पुद्गलों से ऐसा परिणाम आत्मा में उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता तथा भाया-कण्ट होने लगते हैं; निर्लज्जता आ जाती है; विषयों की लासला प्रतीति हो जाती है; रस-लोचयता होती है और सब पौदगलिक सुख की खोज की जाती है, वह परिणाम 'भीतलेश्या' है।

(३) कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के पुद्गलों से इस प्रकार का परिणाम आत्मा में उत्पन्न होता है, जिससे झोलने, काम करने और विचारने में सब-कहीं बकता ही बकता होती है; किसी विषय में सरलता नहीं होती; नास्तिकता आती है और दूसरों को कष्ट हो, ऐसा भाषण करने की प्रवृत्ति होती है, वह परिणाम 'कापोतलेश्या' है।

(४) तोते की जीभ के समान रक्त वर्ण के लेश्या-पुद्गलों से एक प्रकार का आत्मा में परिणाम होता है, जिससे कि मझता आ जाती है; शठता बूर हो जाती है; सपसता रह जाता है; धर्म में रुचि तथा श्रद्धा होती है और सब लोगों का हित करने की इच्छा होती है, वह परिणाम 'तैजोलेश्या' है।

(५) हल्दी के समान पीले रंग के लेश्या-पुद्गलों से एक तरह का परिणाम आत्मा में होता है, जिससे क्रोध, मान आदि कषाय बहुत अंशों में मन्द हो जन्ते हैं, भित्त प्रदान हो जाता है, आत्म-संयम किया जा सकता है; मित्र-भावता और जितेन्द्रियता आ जाती है, वह परिणाम 'पद्मलेश्या' है।

(६) 'शुक्ललेश्या' उस परिणाम को समझना चाहिये, जिससे कि आर्त्त-रौद्र-ध्यान बंद होकर धर्म तथा शुक्ल-ध्यान होने लगता है; मन, वचन और शरीर को नियमित धनाने में रुकावट नहीं आती; कषायकी उपशान्ति होती है और बीतराग-भाव सम्पादन करने की भी अनु-

कूलता हो जाती है । ऐसा परिणाम शङ्ख के समान श्वेत वर्ण के लेइया-आसीय-पुवर्णों के सम्बन्ध से होता है ।

(११)—भयत्वमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) 'भय' वे हैं, जो अनादि तारुण-पारिणामिक-भाय के कारण मोक्ष को पाते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं ।

(२) जो अनादि तथाविध परिणाम के कारण किसी समय मोक्ष पाने की योग्यता हो नहीं रखते, वे 'अभय' हैं ।

(१२)—सम्यक्त्वमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

(१) चार अनन्तानुबन्धीकषाय और दर्शनमोहनीय के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व-रुचि रूप आत्म-परिणाम, औपशमिकसम्यक्त्व, है । इसके (क) 'ग्रन्थि-भेद अन्य' और (ख) 'उपशमश्रेणी-भाषी' ये दो भेद हैं ।

(क) 'ग्रन्थि-भेद-ग्रन्थ औपशमिकसम्यक्त्व', अनादि-मिथ्यावृत्ति भयों को होता है । इसके प्राप्त होने की प्रक्रिया का विचार दूसरे

१—अनेक भय ऐसे हैं कि जो मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसे नहीं पाते; क्योंकि उन्हें वैसी अनुकूल सामग्री ही नहीं मिलती, जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो । इसलिये उन्हें 'जाति-भय' कहते हैं । ऐसी भी मिट्टी है कि जिसमें सुवर्णके अंश तो हैं; पर अनुकूल साधन के अभाव से वे न तो अब तक प्रकट हुए और न आगे ही प्रकट होने की सम्भावना है; तो भी उस मिट्टी को योग्यता की अपेक्षा से जिस प्रकार 'सुवर्ण-मृत्तिका' (सोने की मिट्टी) कह सकते हैं; वैसे ही मोक्ष की योग्यता होते हुए भी उसके विशिष्ट साधन न मिलने से, मोक्ष को कभी न पा सकने वाले जीवों को 'जातिभय' कहना विरुद्ध नहीं । इसका विचार प्रज्ञापना के १८वें पद की टीका में, उपाध्याय-समयसुन्दरगणि-कृत विशेषशतक में तथा मगधती के १२वें शतक के २रे 'जयन्ती' नामक अधिकार में है ।

२—देखिये पञ्चविष्ट 'ज्ञ ।'

कर्मग्रन्थ की २री गाथा के साक्षार्थ में लिखा गया है । इसको 'अथ-
अयोपशमसम्प्रवृत्त' भी कहा है ।

(ख) 'अपशमधेनि-माघी औपशमिकसम्प्रवृत्त' की प्राप्ति चाँपे,
पाँचवें, छठे या सातवें में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है;
परन्तु आठवें गुणस्थान में तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है ।

औपशमिकसम्प्रवृत्त के समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी
कषाय का बन्ध तथा अनन्तानुबन्धीकषाय का, उदय, ये चार बातें
नहीं होतीं । पर उससे व्युत्पन्न होने के बाद सात्त्वात्मन-भाव के समय
उक्त चारों बातें हो सकती हैं ।

(२) अनन्तानुबन्धीय और दर्शनमोहनीय के अयोपशम से प्रकट
होने वाला तत्त्व-रूपपरिणाम, 'आयोपशमिकसम्प्रवृत्त' है ।

(३) जो तत्त्व-रूपपरिणाम, अनन्तानुबन्धी-व्युत्पन्न और
दर्शनमोहनीय-त्रिक के अय से प्रकट होता है, वह 'आयिकसम्प्रवृत्त' है ।

यह आयिकसम्प्रवृत्त, जिन-कालिक मनुष्यों को होता है । जो
जीव आयुबन्ध करने के बाद इससे प्राप्त करते हैं, वे तीसरे या चौथे
भव में मोक्ष पाते हैं; परन्तु अगले भव की आयु बाँधने के पहिले
जिनको यह सम्प्रवृत्त प्राप्त होता है, वे वर्तमान भव में ही मुक्त
होते हैं ।

१—यह मत, श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों को एकसा इष्ट है ।

दंसणल्लवणस्सरिहो, जिणकालीयो पुमद्वकामुवरि" इत्यादि ॥

—पञ्चसंग्रह पृ० ११६५ ।

"दंसणमोहल्लवणा,—पहुवगो कम्मभूमिजो मणुसो ।

तिरयवरपायमूले केवलिसुवकेवलीमूले ॥११०"

—सन्धिसार ।

(४) औपजातिकसम्पत्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय, जीव का जो परिणाम होता है, उसी को 'सासादन-सम्पत्त्व' कहते हैं । इसकी स्थिति, जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट छह भावलिकाओं की होती है । इसके समय, अनन्तरानुबन्धी-कषायों का उदय रहने के कारण, जीव के परिणाम निर्मल नहीं होते । सासादन में अतत्त्व-वृत्ति, अव्यक्त होती है और मिथ्यात्व में व्यक्त, यही दोनों में अन्तर है ।

(५) तत्त्व और अतत्त्व, इन दोनों की कविरूप मिश्र परिणाम, जो सम्पद्गुमिथ्यामोहनीय कर्म के उदय से होता है, वह 'मिश्रसम्पत्त्व (सम्पद्गुमिथ्यात्व)' है ।

(६) मिथ्यात्व वह परिणाम है, जो मिथ्यामोहनीय कर्म के उदय से होता है जिसके होने से जीव, जड़-चेतन का भेद नहीं जान पाता; इसी से आत्मोन्मुख प्रवृत्तिवाला भी नहीं हो सकता है । हठ, कषाग्रह आवि बोध इसके फल हैं ।

[१३]—संज्ञीमार्गणा के भेदों का स्वरूप:—

(१) विशिष्ट मनःशक्ति अर्थात् दीर्घकालिकी संज्ञा का होना 'संज्ञित्व' है ।

(२) उक्त संज्ञा का न होना 'असंज्ञित्व' है ॥१३॥

(१)—यद्यपि प्राणीमात्र को किसी न किसी प्रकार की संज्ञा होती ही है; क्योंकि उसके बिना जीवत्व ही असम्भव है, तथापि शास्त्र में जो संज्ञी-असंज्ञी का भेद किया गया है, सो दीर्घकालिकी संज्ञा के आधार पर । इसके लिये देखिये, परिशिष्ट 'ग ।'

[१]—मार्गणाओं में जीवस्थान ।

[पाँच गाथाओं से]

आहारेतर भेदा, सूरनरयविभगमदसुओहिवुगे ।

सम्मस्ततिगे पम्हा,--सुक्कासन्नीसु सन्निवुगे ॥१४॥

आहारेतरो भेदास्सुरनरकविभङ्गमतिश्रुतानविद्विके ।

सम्यक्त्वत्रिके पक्काशुक्कासंज्ञिपु संज्ञिद्विकम् ॥१४॥

अर्थ—आहारकमार्गणा के आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं । वेवगति, नरकगति, विभङ्गज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व (ओपशमिक, श्रायिक और क्षायोपशमिक), दो लेखवाएँ (पक्का और शुक्का और संज्ञित्व, इन तरह मार्गणाओं में अपर्याप्त संज्ञी और पर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥१४॥

(१४)—आहारकमार्गणा के भेदों का स्वरूपः—

भावार्थ—(१) जो जीव, जोज, लोम और केवल, इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को करता है, वह 'आहारक' है ।

(२) उक्त तीन तरह के आहार में से किसी भी प्रकार के आहार को जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है ।

वेवगति और नरकगति में वर्तमान कोई भी जीव, असंज्ञी नहीं होता । चाहे अपर्याप्त हो या पर्याप्त, पर होते हैं सभी संज्ञी ही । इसी से इन दो गतियों में दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

विभङ्गज्ञान को पाने की योग्यता किसी असंज्ञी में नहीं होती अतः उसमें भी अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

१—यह विषय पञ्चसंग्रह गाथा २२ से २७ तक में है ।

२—यद्यपि पञ्चसंग्रह द्वार १गाथा २७वीं में यह उल्लेख है कि विभङ्गज्ञान में संज्ञी - पर्याप्त एक ही जीवस्थान है,

मतिज्ञान, भुतज्ञान अर्वाचिक, औपशमिक आदि उक्त तीन सम्यक्त्व और पच-शुल्क-लेइया, इन नी मार्गणाओं में दो संज्ञी जीव-स्थान माने गये हैं । इसका कारण यह है कि किसी असंज्ञी में सम्यक्त्व का सम्भव नहीं है और सम्यक्त्व के सिवाय मति-भुत-ज्ञान आदि का होना ही असम्भव है इस प्रकार संज्ञी के सिवाय दूसरे जीवों में पच या शुल्क-लेइया के योग्य परिणाम नहीं हो सकते । अपर्याप्त-अवस्था में मति-भुत ज्ञान और अर्वाचिक इसलिये माने जाते हैं कि कोई-कोई जीव तीन ज्ञान सहित जन्म ग्रहण करते हैं । जो जीव, आयु बाँधने के बाद क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह बंधी हुई आयु के अनुसार चार गतियों में से किसी भी गति में जाता है । इसी अपेक्षा से अपर्याप्त-अवस्था में क्षायिकसम्यक्त्व, माना जाता है । उस अवस्था में क्षायोपशमिकसम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि बांधी तीर्थङ्कर आदि, जब देव आदि गति से निकल कर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सहित होते हैं । औपशमिकसम्यक्त्व के विषय में यह जानना चाहिये कि आयु क पूरे हो जाने से जब कोई औपशमिकसम्यक्त्वों ग्यारहवें गुणस्थान से तथापि उसके साथ इस कर्म ग्रन्थ का कोई विरोध नहीं; क्योंकि मूल पञ्च-सग्रह में विभङ्ग ज्ञान में एक ही जीवस्थान कहा है, सो अपेक्षा-विशेष से । अतः अन्य अपेक्षा से विभङ्ग ज्ञान में दो जीवस्थान भी उसे उष्ट है । इस बात का खुलासा थापलयगिरिमूरि न उक्त २७वीं गाथा की टीका में स्पष्ट कर दिया है । वे लिखते हैं कि "संज्ञि-पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्च और मनुष्य को अपर्याप्त-अवस्था में विभङ्गज्ञान उत्पन्न नहीं होता । तथा जो असंज्ञी जीव मरकर रत्नप्रभानरक मे नारक का जन्म लेते हैं, उन्हें भी अपर्याप्त-अवस्था में विभङ्गज्ञान नहीं होता । इस अपेक्षा से विभङ्गज्ञान में एक (पथीप्त संज्ञिरूप) जीवस्थान कहा गया है । सामान्य-दृष्टि से उसमें दो जीवस्थान ही समझने चाहिये । क्योंकि जो सज्ञी जीव, मरकर देव या नारक रूप से पैदा होते हैं, उन्हें अपर्याप्त अवस्था में भी विभङ्ग-ज्ञान होता है ।

क्युत होकर अनुत्तरविमान में पैदा होता है, तब अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्बन्ध पाया जाता है।

१—यह मन्त्रार्थ “सप्ततिका” नामक छठे कर्मग्रन्थ की चूर्णी और पञ्चसंग्रह के मतानुसार समझना चाहिये। चूर्णी में अपर्याप्त-अवस्था के समय नारकों में क्षायोपशमिक और क्षायिक ये दो; पर देवों में औपशमिकसहित तीन सम्बन्ध माने हैं। पञ्चसंग्रह में भी द्वार १ गा० २५वीं तथा उसकी टीका में उक्त चूर्णी के मत की ही पुष्टि की गई है। गोम्मटसार भी इसी मत के पक्ष में है; क्योंकि वह द्वितीय—उपशम्येणी-भावी—उपशमसम्बन्ध को अपर्याप्त अवस्था के जीवों को मानता है। इसके लिये देखिये, जीवकाण्ड की गा० ७२६वीं।

परन्तु कोई आचार्य यह मानते हैं कि ‘अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्बन्ध नहीं होता। इनसे केवल पर्याप्त सजीं जीवस्थान मानना चाहिये।’ इस मत के समर्थन में वे कहते हैं कि ‘अपर्याप्त-अवस्था में योग्य (विशुद्ध) अव्यवसाय न होने से औपशमिकसम्बन्ध नया तो उत्पन्न ही नहीं हो सकता; रहा पूर्व-जन्म में जन्म किया हुआ, तो उसका भी अपर्याप्त-अवस्था तक रहना शास्त्र-सम्मत नहीं है; क्योंकि औपशमिकसम्बन्ध दो प्रकार का है। एक तो वह, जो अनादि मिथ्यात्वी को पहले-पहल होता है। दूसरा वह, जो उपशम्येणिके समय होता है। इसमें पहले प्रकार के सम्बन्ध के सहित तो जीव मरता ही नहीं। उसका प्रमाण आगम में इस प्रकार है:—

“अणबन्धोदयमाउग, बन्ध कालं च सासणो कुणई ॥

उवसमसम्भद्धो, चउण्हमिकं पि नो कुणई ॥”

अर्थात् “अनन्तानुबन्धी का बन्ध, उसका उदय, आयु का बन्ध और मरण, ये चार कार्य दूसरे गूणस्थान में होते हैं, पर इनमें से एक भी कार्य औपशमिकसम्बन्ध में नहीं होता।”

दूसरे प्रकार के औपशमिकसम्बन्ध के विषय में यह नियम है कि उसमें वर्तमान जीव मरता तो है, पर जन्म ग्रहण करते ही सम्बन्धमोहनीय का उदय होने से वह औपशमिकसम्बन्धी न रहकर क्षायोपशमिकसम्बन्धी बन जाता है। यह बात शतक। (पाँचवें कर्मग्रन्थ) की बृह-चूर्णी में लिखी है।

संज्ञिमार्गणा में दो संज्ञि-जीवस्थान के सिवाय अन्य किसी जीव-स्थान का सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी ही हैं ।

देवगति आदि उपर्याप्त मार्गगाओं में अपर्याप्त संज्ञी का मतसब अपर्याप्त से है, लब्धि-अपर्याप्त से नहीं । इसका कारण यह है कि देवगति और नरक गति में लब्धि-अपर्याप्त रूप से कोई जीव पैदा नहीं होते और न लब्धि-अपर्याप्त को मति आदि ज्ञान, पद्म आदि लेश्या तथा सम्यक्त्व होता है ॥१४॥

तमसंनिअपज्जजुगं,--नरे सबायरअपज्ज तेऊए ।

थावर इगिदि पढमा,--चउ बार असन्नि दु दुयिगले ॥१५॥

तवसंम्यपर्याप्तयुतं, नरे सबादरायपर्याप्तं तेजसि ।

स्थावर एकेन्द्रिये, पथमानि, चत्वारि द्वादशसंज्ञिनि द्वे द्वे विकले ॥१५॥

‘जो उवसमसम्महिट्ठो उवसमसेडोए कालं करेइ सो पढमसमये वेव सम्मत्तपुंज उदयावलिशाए, छोडूण सम्मत्तपुगले वेएइ, तेण न उवसमसम्महिट्ठो अपज्जत्तगो लढमइ ।’

अर्थात् ‘जो उपसमसम्यग्दृष्टि, उपसमश्रेणि में मरता है, वह मरण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्वमोहनीय-पुञ्जकी उदयवलिका में उसे लाकर उसे वेदता है; इससे अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाया नहीं जा सकता ।’

इस प्रकार अपर्याप्त-अवस्था में किसी तरह के औपशमिकसम्यक्त्व का सम्भव न होने से उन आचार्यों के मत से सम्यक्त्व में केवल पर्याप्त संज्ञी जीव स्थान ही माना जाता है ।

इस प्रसङ्ग में श्रीजीवविजय जी ने अपने टिप्पणियों में ग्रन्थ के नाम का उल्लेख किये बिना ही उसकी गाथा को उद्धृत करके लिखा है कि औपशमिकसम्यक्त्व ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है मही पर उसमें मरता नहीं । मरनेवाला श्रायिकसम्यक्त्व ही होता है । गाथा इस प्रकार है—

‘उवसमसेहि पत्ता, मरंति उवसमगुणेषु जे सत्ता ॥

ते सबसत्तम देवा, सच्चद्वे धम्मसंज्ञजुगं ॥’

अर्थ—मनुष्य गति में पूर्वोक्त संज्ञि-द्विक (अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञी) और अपर्याप्त असंज्ञी, दो ही जीवस्थान हैं । तेजीलेखा में बाहर अपर्याप्त और संज्ञी-द्विक, ये तीन जीवस्थान हैं । पाँच स्थावर और एकेन्द्रिय में पहले चार (अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म, अपर्याप्त बाहर और पर्याप्त बाहर) जीवस्थान हैं । असंज्ञि मार्गणा में संज्ञि-द्विकके सिवाय पहले बारह जीवस्थान हैं । विकलेन्द्रिय में दो-दो अपर्याप्त तथा पर्याप्त जीवस्थान हैं ॥१५॥

भावार्थ मनुष्य दो प्रकार के है—गर्भज और संमुच्छिद्य । गर्भज सभी संज्ञी ही होते हैं, वे अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकार के पाये जाते हैं । पर संमुच्छिद्य मनुष्य, जो ढाई श्लोक-समुद्र में गर्भज मनुष्य के मल-मूत्र, शुक्र-शोणित आदि में पैदा होते हैं, उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण ही होती है । वे स्वयोग्य पर्याप्तियों की पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, इसी से उन्हें लघ्वि-अपर्याप्त ही माना है, तथा वे असंज्ञी ही माने गये हैं । इसलिये सामान्य मनुष्य गति में उपर्युक्त तीन ही जीवस्थान पाये जाते हैं ।

उसका मतलब यह है कि 'जो जीव उपशमश्रेणी की पाकर ग्यारहवें गुणस्थान में मरते हैं, वे सर्वार्थसिद्धविधान में क्षायिकमम्यक्त्व-युक्त ही पैदा होते हैं और 'लवसत्तम देव' कहलाते हैं ।' लवसत्तम कहलाने का सबसे यह है कि सात लव-प्रमाण आयु कम होने से उनको देव का जन्म ग्रहण करना पड़ता है । यदि उनकी आयु और भी अधिक होती तो देव हुए बिना उमी जन्म में मोक्ष होता ।

१ — जैसे, मगवान् श्यामाचार्य प्रकाशना पृ. ५५ में वर्णन करते हैं:—

"कहिणं भंते संमुच्छिद्यमणुस्सा संमुच्छंति ? गोयमा ! अंती मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोधणसयसहस्सेसु अइइइज्जेसु दीवस-मुहसु पत्ररससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पणाए अंतर-दीवसु गइसवककतियमणुस्साणं चेव उच्चारसु वा पासवणेषु वा खेलेसु वा वंतेसु वा पित्तसु वा सुक्केसु वा सोणिएसु वा सुक्कपुग्गपरिसाडेसु वा विगयलीवकलेवरेसु वा थोपुरिससंजोगेसु वा नगरनिदमणेसु वा सध्वेसु चेव असुइठाणसु इच्छणं संमुच्छिद्यमणुस्सा संमुच्छंति अंगु-सस्स असंखभागमित्ताए ओमाहणाए असंखी भिच्छविट्ठी अन्नाणी सध्वाहि पक्कसीहि अपज्जत्ता अंतमुहसाउया चेव कालं करंति त्ति ।"

तेजोलेश्या, पर्याप्त तथा अपर्याप्त, दोनों प्रकार के संज्ञियों में पायी जाती है तथा वह बाहर एकेन्द्रिय में भी अपर्याप्त-अवस्था में होती है, इसी से उस लेश्या में उपर्युक्त तीन जीवस्थान माने हुये हैं । बाहर एकेन्द्रिय को अपर्याप्त-अवस्था में तेजोलेश्या मानी जाती है, सो इस अपेक्षा से कि भवनपति, व्यन्तर' आदि देव, जिनमें तेजोलेश्या का सम्भव है वे जब तेजोलेश्यासहित सरकर पृथिवी, पानी या वनस्पति में जन्म ग्रहण' करते हैं, तब उनको अपर्याप्त (करण-अपर्याप्त-) अवस्था में कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है ।

पहले चार जीवस्थान के सिवाय अन्य किसी जीवस्थान में एकेन्द्रिय तथा स्थावरकादिक जीव नहीं हैं । इसी से एकेन्द्रिय और पाँच स्थावर-काय, इन छह मार्गणाओं में पहले चार जीवस्थान माने गये हैं ।

इसका सार संक्षेप में इस प्रकार है:—‘प्रश्न करने पर भगवान् महावीर, गणधर और गौतम से कहते हैं कि पैतालिस लाख योजन-प्रमाण मनुष्य-क्षेत्र के भीतर ढाई द्वीप-समुद्र में पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तद्वीपों में गर्भज-मनुष्यों के मत, मूत्र, कफ आदि सभी अशुचि-पदार्थों में समुच्छिन्न पैदा होते हैं, जिनका देह-परिणाम अमुल के असंख्यातवें भाग के बराबर हैं, जो असंपत्ति, मिथ्यात्वी तथा अज्ञानी होते हैं और जो अपर्याप्त ही हैं तथा अन्तर्मुहूर्त्त-मात्र में मर जाते हैं ।

१—‘किंहा नीत्ता काऊ, तेऊलेसा प भवणवन्तरिया ।

जोइससोहम्मीसा,—ण तेऊलेसा मुणेयब्बा ॥१६३॥”

—वृहत्संग्रहणी ।

अर्थात् “भवनपति और व्यन्तर में कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं; किन्तु ज्योतिष और सौधर्म-ईशान देवलोक में तेजोलेश्या ही होती है ।”

२—‘पुद्वी आउवणस्सइ, गम्मे पज्जस संखजीवेसु ।

सग्गचुधानं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥”

—विशेषावश्यक भाष्य ।

अर्थात् “पृथ्वी, जल, वनस्पति और संख्यात-वर्ष-आयु वाले गर्भज-पर्याप्त, इन स्थानों ही में स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानों में नहीं ।”

और वह जीवस्थानों में से दो ही जीवस्थान संजी हैं । इसी कारण असंज्ञिमार्गणा में बारह जीवस्थान समझना चाहिये ।

प्रत्येक विकलेन्द्रिय में अपर्याप्त तथा पर्याप्त दो-दो जीवस्थान पाये जाते हैं, इसी से विकलेन्द्रियमार्गणा में दो-ही दो जीवस्थान माने गये हैं ॥१५॥

दस चरम तसे अजया,—हारगतिरितणुकसायदुअनरणे ।

पढमतिलेसाभक्षियर,—अचक्खुनपुमिच्छि सख्ये वि ॥१६॥

दस चरमाणि तसेअजयाहारकतिर्यक्तनुकषायद्व्यजाने ।

प्रथमविलेख्याभव्येतराअचक्षुर्नपुमिध्यात्वे सर्वाण्यपि ॥ १६ ॥

अर्थ—दसकाय में अन्तिम दस जीवस्थान हैं । अविरति, आहारक, तिर्यञ्चगति, काययोग, चार कषाय, मति-श्रुत दो अज्ञान, कृष्ण आवि पहली तीन लेख्याएँ, भक्ष्यत्व, अमक्ष्यत्व, अचक्षुर्दर्शन, तपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन अठारह मार्गणार्थों में राक्षी (जीवह) जीवस्थान पाये जाते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—जीवह में से अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बाह्य-एकेन्द्रिय, इन चार के सिवाय शेष दस जीवस्थान त्रसकाय में हैं; क्योंकि उन दस में ही त्रसनामकर्म का उदय होता है और इससे वे ही स्वतन्त्रतापूर्वक चल-फिर सकते हैं ।

अविरति आवि उपर्युक्त अठारह मार्गणार्थों में सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते हैं कि सब प्रकार के जीवों में इन मार्गणार्थों का सम्भव है ।

मिथ्यात्व में सब जीवस्थान कहे हैं । अर्थात् सब जीवस्थानों में सामान्यतः मिथ्यात्व कहा है; किन्तु पहले बारह जीवस्थानों में अनाभोग मिथ्यात्व समझना चाहिये; क्योंकि उनमें अनाभोग-जन्थ (अज्ञान-जन्थ) अतत्त्व-रुचि है । पञ्चसंग्रह में 'अनभिग्रहिक-मिथ्यात्व'

उन जीवस्थानों में लिखा है, सो अन्य अपेक्षा से । अर्थात् देव-गुरु-धर्म-का स्वीकार न होने के कारण उक्त जीवस्थानों का मिथ्यात्व 'अनभि-प्रहिक' भी कहा जा सकता है ॥ १६ ॥

पञ्चसत्ती केवलदुःख, — संजयमणनाणदेसमणमीसे ।

पण चरमपज्ज वयणे, तिय स्रु व पज्जिवर चक्खुंमि ॥ १७ ॥

पर्याप्तसंज्ञी केवलद्विक-संयत्तमनोज्ञानदेशमनोमिश्रे ।

पञ्च चरमपर्याप्तानि वचने, त्रीणि पङ् वा पर्याप्तेतराणि चक्षुषि ॥ १७ ॥

अर्थ—केवल-द्विक (केवलज्ञान-केवलज्ञान) सामायिक आदि पाँच संयम, मनःपर्यायज्ञान, देशविरति, मनोयोग और मिश्रसम्पत्त्व, इन ग्यारह मार्गणाओं में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान है । वचनयोग में अष्टम पाँच (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) पर्याप्त जीवस्थान हैं । चक्षुर्वर्शन में पर्याप्त तीन (चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं या मतान्तर से पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के उक्त तीन अर्थात् कुल छह जीवस्थान हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—केवल-द्विक आदि उपर्युक्त ग्यारह मार्गणाओं में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना जाता है । इसका कारण यह है कि पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में न सर्वविरति का और न देशविरतिका संभव है । अतः एक संज्ञि-भिन्न जीवों में केवल-द्विक, पाँच संयम, देशविरति और मनःपर्यायज्ञान, जिनका सम्बन्ध विरति-से है, वे ही ही नहीं सकते । इसी तरह पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य जीवों में तथाविष-ब्रह्ममन का सम्बन्ध न होने के कारण मनोयोग नहीं होता और मिश्रसम्पत्त्व की योग्यता भी नहीं होती ।

एकेन्द्रिय में भाषापर्याप्ति नहीं होती । भाषापर्याप्ति के सिवाय ध्वनयोग का होना संभव नहीं । द्वीन्द्रिय आदि जीवों में भाषापर्याप्ति का संभव है । वे जब सम्पूर्ण स्वयोग्य पर्याप्तिर्था पूर्ण कर लेते हैं, तभी उनमें भाषापर्याप्ति के हो जाने से वचनयोग हो सकता है । इसी से

वचनयोग में पर्याप्ति इन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच जीवस्थान माने हुये हैं ।

आँखवालों की ही चक्षुर्दर्शन हो सकता है । चतुरिन्द्रिय, असंति-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन तीन प्रकार के ही जीवों को आँखें होती हैं । इसी से इनके सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में चक्षुर्दर्शन का अभाव है । उक्त तीस प्रकार के जीवों के विषय में यह दो मत हैं ।

१—इन्द्रियपर्याप्ति को नीचे-लिखी दो व्याख्यायें, इन मतों की जड़ हैं:—

(क) “इन्द्रियपर्याप्ति जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा धातुरूप में परिणत आहार-पुद्गलों में से योग्य पुद्गल, इन्द्रियरूप में परिणत किये जाते हैं ।”

यह व्याख्या, प्रज्ञापना-वृत्ति तथा पञ्चसंग्रह वृत्ति पृ० ६ में है । इस व्याख्या के अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति का मतलब, इन्द्रिय-जनक शक्ति से है । इस व्याख्या को मानने वाले पहले मत का आशय यह है कि स्वयंभू पर्याप्तियों पूर्ण बन चुकने के बाद (पर्याप्त-अवस्था में) सबको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है, अपर्याप्त-अवस्था में नहीं । इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के बाद, नेत्र होने पर भी अपर्याप्त-अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि का चक्षुर्दर्शन नहीं माना जाता ।

(ख) — “इन्द्रियपर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा योग्य आहार पुद्गलों की इन्द्रिय रूप में परिणत करके इन्द्रिय-जन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है”

यह व्याख्या बृहत्संग्रहणी पृ० १३८ तथा भगवती-वृत्ति पृ० ६ में है । इसके अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति का मतलब, इन्द्रिय-रचना से लेकर, इन्द्रिय-जन्य उपयोग तक की सब क्रियाओं को करने वाली शक्ति से है ।

इस व्याख्या को मानने वाले दूसरे मत के अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जाने से अपर्याप्त-अवस्था में भी सबको इन्द्रिय-जन्य उपयोग होता है । इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति बन जाने के बाद नेत्र-जन्य उपयोग होने के कारण अपर्याप्त-अवस्था में भी चतुरिन्द्रिय आदि का चक्षुर्दर्शन मानना चाहिये । इस मत की पुष्टि, पञ्चसंग्रह-मलयगिरि-वृत्ति के ६ पृष्ठ पर उल्लिखित इस मन्तव्य से होती है:—

पहले मत के अनुसार उनमें स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने के बाद ही चक्षुर्वर्शन माना जाता है। दूसरे मत के अनुसार स्वभोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के पहले भी—अपर्याप्त-अवस्था में भी—चक्षुर्वर्शन माना जाता है; किन्तु इसके लिये इन्द्रियपर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति न बन जाय तब तक आँख के पूर्ण न बनने से चक्षुर्वर्शन हो ही नहीं सकता। इस दूसरे मत के अनुसार चक्षुर्वर्शन में छह जीवस्थान माने हुए हैं और पहले मत के अनुसार तीन जीवस्थान ॥ १७ ॥

थीनरपणिदि चरमा, चउ अणहारेदु स'नि छु अपज्जा ।
ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणिइत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

स्त्रीनरपञ्चेन्द्रिये चरमाणि, चत्वार्यनाहारके द्वौ सावज्जनो पडपर्याप्ताः ।
ते सूक्ष्मपर्याप्ति विना, सासादन इतो गुणान् वक्ष्ये ॥ १८ ॥

अर्थ—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पञ्चेन्द्रियजाति में अस्तिम चार (अपर्याप्त तथा पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं। अनाहारकमार्गणा में अपर्याप्त-पर्याप्त दो संज्ञी और सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, बाहर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये छह अपर्याप्त, कुल आठ जीवस्थान हैं। सासावनसम्यक्त्व में उक्त आठ में से सूक्ष्म-अपर्याप्त को छोड़कर शेष सात जीवस्थान हैं।

अब आगे गुणस्थान कहे जायेंगे ॥ १९ ॥

भावार्थ—स्त्रीवेद आदि उपर्युक्त तीन मार्गणाओं में अपर्याप्त

“करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियाविध्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यो चक्षुर्वर्शन-
सपि प्राप्नोते ॥”

इन्द्रियपर्याप्ति की उक्त दोनों व्याख्याओं का उल्लेख, लोक प्र० स० ३
श्लोक २०-२१ में है।

असंज्ञि-पञ्चवेन्द्रिय आदि चार जीवस्थान कहे हुए हैं । इसमें अपर्याप्ति-का मतलब करण-अपर्याप्ति से है, लब्धि-अपर्याप्ति से नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्ति को ब्रह्मवेद, नपुंसक ही होता है ।

असंज्ञि-पञ्चवेन्द्रिय को यहाँ स्त्री और पुरुष, वे दो वेद माने हैं और सिद्धान्त^१ में नपुंसक; तथापि इसमें कोई विरोध नहीं है । क्योंकि यहाँ-का कथन ब्रह्मवेद को^२ अपेक्षा से और सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से है । भावनपुंसकवेद वाले को स्त्री या पुरुष के भी चिन्ह होते हैं ।

अनाहारकमार्गणा में जो आठ जीवस्थान ऊपर कहे हुए हैं, इनमें सात अपर्याप्ति हैं और एक पर्याप्ति । सब प्रकार के अपर्याप्ति जीव, अनाहारक^३ उस समय होते हैं, जिस समय वे विग्रहगति (घक्रगति) में एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नहीं करते । पर्याप्ति संज्ञी को अनाहारक इस अपेक्षा से माना है कि केवलसंज्ञानी, ब्रह्ममन के संबन्ध से संज्ञी कहलाते हैं और वे केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कर्मणकाययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहारको ग्रहण नहीं करते ।

१—“तेषां भूते असंनिपञ्चवेन्द्रिय तिरिक्खज्जीविया किं इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुंसकवेयगा ? गोयमा ! नो इत्थिवेयग को पुरिसवेयगा नपुंसकवेयगा ।”
—भगवती ।

२—“यद्यपि आसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ती नपुंसकी तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्ताविति ।”

—एव्वसंग्रह द्वार १, गा० २४ की मूल टीका ।

३—देखिये, परिशिष्ट ‘ठ ।’

सासादनसम्यक्त्व में सात जीवस्थान कहे हैं, जिनमें से छह अपर्याप्त हैं और एक पर्याप्त । सूक्ष्म-एकेन्द्रिय को छोड़कर अन्य छह प्रकार के अपर्याप्त जीवस्थानों में सासादनसम्यक्त्व इसलिये माना जाता है कि जब कोई औपशान्तिकसम्यक्त्व वाला जीव, उस सम्यक्त्व-को छोड़ता हुआ बाहर-एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय या संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में जन्म ग्रहण करता है, तब उसको अपर्याप्त-अवस्था में सासादनसम्यक्त्व पाया जाता है; परन्तु कोई जीव औपशान्तिकसम्यक्त्व को ब्रजन करता हुआ सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-में पैदा नहीं होता, इसलिये उसमें अपर्याप्त-अवस्था में सासादन-सम्यक्त्व का संभव नहीं है । संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव, पर्याप्त-अवस्था में सासादनसम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि इस अवस्था में औपशान्तिकसम्यक्त्व पाने वाले संज्ञी ही होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १८ ॥



(२)—मार्गणाओं में गुणस्थान ।

[पाँच गाथाओं से ।]

पणतिरि चउ सुरनरए, नरसंनिपणिदिभस्वतसि सत्त्वे ।
इगविगलभूदकवणे, दु दु एणं गइतसअभव्वे ॥ १६ ॥

पञ्च तिरञ्चि चत्वारि सुरनर के, नरसंनिपञ्चेन्द्रियभव्यत्रस सर्वाणि ।
एकत्रिकलभूदकवने द्वे द्वे एक गतित्रसामव्ये ॥ १६ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चगति में पाँच गुणस्थान हैं । देव तथा नरकगति में चार गुणस्थान हैं । मनुष्यगति, संज्ञी, पञ्चेन्द्रियजाति, भक्ष्य और त्रसकाय, इन पाँच मार्गणाओं में सब गुणस्थान हैं । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान हैं । गतित्रस (सेजःकाय और वायुकाय) और अभव्य में एक (पहला । ही गुणस्थान है ॥ १६ ॥

भावार्थ—तिर्यञ्चगति में पहले पाँच गुणस्थान हैं; क्योंकि उसमें जाति-स्वभाव से सर्वविरतिका संभव नहीं होता और सर्वविरति के सिवाय छठे आदि गुणस्थानों का संभव नहीं है ।

देवगति और नरकगति में पहले चार गुणस्थान माने जाने का सबब यह है कि देव या नारक, स्वभाव से ही विरतिरहित होते हैं और विरति के बिना अन्य गुणस्थानों का संभव नहीं है ।

मनुष्यगति आदि उपर्युक्त पाँच मार्गणाओं में हर प्रकार के परिणामों के संभव होने के कारण सब गुणस्थान पाये जाते हैं ।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में दो गुणस्थान कहे हैं । इनमें से दूसरा गुणस्थान अव्यति-अवस्था में ही होता है । एकेन्द्रिय आदि की आयु का बन्ध हो जाने के

जब जब किसी को औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब वह उसे त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्वसहित एकेन्द्रिय आदि में जन्म ग्रहण करता है। उस समय अपर्याप्त-अवस्था में कुछ काल तक दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। पहला गुणस्थान तो एकेन्द्रिय आदि के लिये सामान्य है। क्योंकि वे सब अनाभोग (अज्ञान-) के कारण तत्त्व-श्रद्धा-हीन होने से मिथ्यात्वही होते हैं। जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के अधिकारी कह गये हैं, वे करण-अपर्याप्त हैं, लब्धि-अपर्याप्त नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त तो सभी जीव, मिथ्यात्वही ही होते हैं।

तेजःकाय और वायुकाय, जो गन्धिजस या लब्धिजस कहे जाते हैं, उनमें न तो औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिकसम्यक्त्व को ध्यान करने वाला जीव ही उनमें जन्म ग्रहण करता है; इसीसे उनमें पहला ही गुणस्थान कहा गया है।

अमर्षों में सिर्फ प्रथम गुणस्थान, इस कारण माना जाता है कि वे स्वभाव से ही सम्यक्त्व-लाभ नहीं कर सकते और सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना दूसरे आदि गुणस्थान असम्भव हैं ॥१६॥

वेयतिकषाय नव दश, लोभेचउ अजय दृति अनाणतिगे ।

बारस अचक्षु वक्षुसु, पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥

वेदत्रिकषाये नव दश, लोभे चत्वार्यंयते द्वे प्राण्यज्ञानत्रिके ।

त्रादशाचक्षुवक्षुषीः, प्रथमानि यथाख्याते चरमाणि चत्वारि ॥२०॥

अर्थ—तीन वेद तथा दोष कषाय (संज्वलन-क्रोध, माद और माया-) में पहले नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। लोभ में (संज्वलन-लोभ-) में दस गुणस्थान होते हैं। अयत (अधिरति-) में चार गुणस्थान हैं। तीन अज्ञान (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान-) में पहले दो या तीन गुणस्थान माने जाते हैं। अचक्षुर्दृष्टान और वक्षु-

दंशक में पहले चारह गुणस्थान होते हैं। यथास्थानचारित्र्य में अन्तिम चार गुण स्थान हैं ॥२०॥

भावार्थ—तीन वेद और तीन संज्वलन-कषाय में नौ गुणस्थान कहे गये हैं, सो उदय की अपेक्षा से समझना चाहिये; क्योंकि उनकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाई जा सकती हैं। मध्यमें गुणस्थान के अन्तिम समय तक में तीन वेद और तीन संज्वलनकषाय या तो क्षीण हो जाते हैं या उपशान्त; इस कारण आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं रहता।

संज्वलन शेष में दस गुणस्थान उदय की अपेक्षा से ही समझने चाहिये; क्योंकि सत्ता तो उसकी ग्यारहवें गुणस्थान तक पायी जा सकती है।

अधिरति में पहले चार गुणस्थान इसलिये कहे हुए हैं कि पाँचवें से लेकर आगे के सब गुणस्थान विरतिरूप हैं।

अज्ञान-त्रिकमें गुणस्थानों की संख्या के विषय में दो मत^१ हैं। पहला उसमें दो गुणस्थान मानता है और दूसरा तीन गुणस्थान। ये दोनों मत कर्मग्रन्थिक हैं।

(१) दो गुणस्थान माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह है कि कि तीसरे गुणस्थान के समय कुछ सम्यक्त्व न होने के कारण पूर्ण यथार्थ ज्ञान भले ही न हो, पर उस गुणस्थान में मिश्र-दृष्टि होने से यथार्थ ज्ञान की थोड़ी-बहुत मात्रा^२ रहती हो है। क्योंकि मिश्र

१—इनमें से पहला मत ही गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६८६वीं गाथा में उल्लिखित है।

२—‘मिश्रयात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्तवाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञानबाहुल्यमिति ।’

अर्थात्—‘मिश्रयात्वा अधिक होने पर मिश्र-दृष्टि में अज्ञान की बहुलता और सम्यक्त्व अधिक होने पर ज्ञान की बहुलता होती है।’

दृष्टि के समय मिथ्यात्व का उदय जब अधिक प्रमाण में रहता है, तब तो अज्ञान का अंश अधिक और ज्ञान का अंश कम होता है। पर जब मिथ्यात्व का उदय मन्द और सम्यक्तत्व-पुष्पल का उदय तीव्र रहता है, तब ज्ञान की मात्रा ज्यादा और अज्ञान की मात्रा कम होती है। चाहे मिश्र-दृष्टि की कैसी भी अवस्था हो, पर उसमें न्यून-अधिक प्रमाण में ज्ञान की मात्रा का संभव होने के कारण उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना उचित है। इसलिये अज्ञान-त्रिक में दो ही गुणस्थान मानने चाहिये।

(२) तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्य का आशय यह है कि यद्यपि तीसरे गुणस्थान के समय अज्ञान को ज्ञान-मिश्रित कहा^१ है तथापि मिश्र-ज्ञान को ज्ञान मानना उचित नहीं; उसे अज्ञान ही कहना चाहिये। क्योंकि शुद्ध सम्यक्तत्व हुए बिना चाहे कैसा भी ज्ञान हो, पर वह है अज्ञान। यदि सम्यक्तत्व के अंश के कारण तीसरे गुणस्थान में ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मान लिया जाय तो दूसरे गुणस्थान में भी सम्यक्तत्व का अंश होने के कारण ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इष्ट न होने का सबब यही है कि अज्ञान-त्रिकमें दो गुणस्थान मानने वाले भी, दूसरे गुणस्थान में मति आदि को अज्ञान मानते हैं। सिद्धान्तवादी के सिवाय किसी भी कर्मग्रन्थिक विद्वान् को दूसरे गुणस्थान में मति आदि को ज्ञान मानना इष्ट नहीं है। इस कारण सासादन की तरह मिश्रगुणस्थान में भी मति आदि को अज्ञान मानकर अज्ञान-त्रिकमें तीन गुणस्थान मानना युक्त है।

अचक्षुर्दर्शन तथा चक्षुर्दर्शन में बारह गुणस्थान इस अभिप्राय से

१—‘मिस्तंभि वा मिस्ता’ इत्यादि।

अर्थात् “मिश्रगुणस्थान में अज्ञान, ज्ञान-मिश्रित है।”

माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायपशमिक हैं; इससे क्षायिक-दर्शन के समय अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में उनका अभाव हो जाता है; क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का साहचर्य नहीं रहता ।

यथाख्यात चारित्र्य में अन्तिम चार गुणस्थान माने जाने का अभि-प्राय यह है कि यथाख्यात चारित्र्य, मोहनीय कर्म का उदय रुक जाने पर प्राप्त होता है और मोहनीय कर्म का उदयाभाव ग्यारहवें से चौदहवें तक चार गुणस्थानों में रहता है ॥२०॥

मृणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ वृन्नि परिहारे ।
केवलवुणि दो चरमा जयाइ नइ गइसुओहिदुगे ॥२१॥

मनोज्ञाने सप्त यतादीनि, सामायिकच्छेदं चत्वारि द्वे परिहारे ।
केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिश्रुतावधिद्विके ॥२१॥

अर्थ—मनः पर्यायज्ञान में प्रमत्तसंयत आवि सात गुणस्थान; सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय-संयम में प्रमत्तसंयत आवि चार गुणस्थान; परिहारविशुद्धसंयम में प्रमत्तसंयत आवि दो गुणस्थान; केवल-द्विकमें अन्तिम दो गुणस्थान; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अधि-द्विक, इन चार मार्गणाओं में अधिरतसम्यग्दर्शित आदि नौ गुण-स्थान हैं ॥२१॥

मात्वार्य—मन पर्यायज्ञान वाले, छूटे आदि सात गुणस्थानों में वर्तमान पाये जाते हैं । इस ज्ञान की प्राप्ति के समय सातवाँ और प्राप्ति के बाद अग्य गुणस्थान होते हैं ।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय, ये दो संयम, छूटे आवि चार गुणस्थान में माने जाते हैं; क्योंकि वीतराग-भाव होने के कारण ऊपर के गुणस्थानों में इन सराग-संयमों का संभव नहीं है ।

परिहारविशुद्धसंयम में रहकर श्रेणि नहीं की जा सकती; इसलिये उसमें छठा और सातवाँ, ये दो ही गुणस्थान समझने चाहिये ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों क्षायिक हैं । क्षायिक-ज्ञान और क्षायिक-दर्शन, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होते हैं, इसी से केवल-द्विक में उक्त दो गुणस्थान माने जाते हैं ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विकवाले, चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान में वर्तमान होते हैं; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले अर्थात् पहले तीन गुणस्थानों में मति आदि अज्ञानरूप ही हैं और अन्तिम दो गुणस्थान में क्षायिक-उपयोग होने से इनका अभाव ही हो जाता है ।

इस जगह अवधिदर्शन^१ में नव गुणस्थान कहे दिये हैं, सो कर्म-ग्रन्थिक मत के अनुसार । कर्मग्रन्थिक विद्वान् पहले तीन गुणस्थानों में अवधिदर्शन नहीं मानते । वे कहते हैं कि विमङ्गलज्ञान से अवधिदर्शन की भिन्नता न माननी चाहिये । परन्तु सिद्धान्त के मतानुसार उसमें और भी तीन गुणस्थान गिनने चाहिये । सिद्धान्तो, विमङ्गलज्ञान से अवधिदर्शन की जुवा मानकर पहले तीन गुणस्थानों में भी अवधि-दर्शन मानते हैं ॥ २१ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इफकार मिच्छतिगि वेसे ।

सुहुमे य सठाणं तेर.-स जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥

अष्टोपशमे चत्वारि वेद के, क्षायिक एकादश मिथ्यात्रिके देसे ।
सुद्धमे च स्वस्थानं त्रयोदश योगे आहारे सुक्कायाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्व में चौथा आदि आठ, वेदक (आयोपश-मिक-) सम्यक्त्व में चौथा आदि चार और क्षायिकसम्यक्त्व चौथा

१—दखिये, परिशिष्ट 'ड ।'

आदि ग्यारह गुणस्थान हैं। मिथ्यात्व-त्रिक (मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिथ्यादृष्टि-) में, देशविरति में तथा सूक्ष्मसम्परायचारित्र में स्व-स्व स्थान (अपना-अपना एक ही गुणस्थान) है। योग, आहारक और शुक्ललेश्यामार्गणा में पहले तेरह गुणस्थान हैं ॥ २२ ॥

आचार्य—उपशमसम्पत्त्व में आठ गुणस्थान माने हैं। इनमें से चौथा आदि चार गुणस्थान, ग्रन्थि-भेद-जस्य प्रथम सम्पत्त्व पाते समय और आठवाँ आदि चार गुणस्थान, उपशमश्रेणी करते समय होते हैं।

वेदकसम्पत्त्व तभी होता है, जब कि सम्पत्त्वमोहनीय का उदय हो। सम्पत्त्वमोहनीय का उदय, श्रेणी का आरम्भ न होने तक (सातवें गुणस्थान तक) रहता है। इसी कारण वेदकसम्पत्त्व में चौथे से लेकर चार ही गुणस्थान समझने चाहिये।

चौथे और पाँचवें आदि गुणस्थान में क्षायिकसम्पत्त्व प्राप्त होता है, जो सदा के लिये रहता है; इसी से उसमें चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये हैं।

पहला ही गुणस्थान मिथ्यास्वरूप, दूसरा ही सास्वादन-भावरूप, तीसरा ही मिथ्या-दृष्टिरूप, पाँचवाँ ही देशविरतिरूप और बसवाँ ही सूक्ष्मसम्परायचारित्ररूप है। इसी से मिथ्यात्व-त्रिक, देशविरति और सूक्ष्मसम्पराय में एक-एक गुणस्थान कहा गया है।

तीन प्रकार का योग, आहारक^१ और शुक्ललेश्या, इन छह मार्गणाओं में तेरह गुणस्थान होते हैं; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के समय न तो किसी प्रकार का योग रहता है, न किसी तरह का आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्या का ही सम्भव है।

योग में तेरह गुणस्थानों का कथन मनोयोग आदि सामान्य योगों-

की अपेक्षा से किया गया है । सत्यमनोयोग आदि विशेष योगों की अपेक्षा से गुणस्थान इस प्रकार हैं —

(क) सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन, असत्यामृषावचन और औदारिक, इन पाँच योगों में तेरह गुणस्थान हैं ।

(ख) असत्यमन, मिथ्यमन, असत्यवचन, और मिथ्यवचन, इन चार में पहले चारह गुणस्थान हैं ।

(ग) औदारिकमिथ्य तथा कर्मणकाययोग में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान हैं ।

(घ) वैश्रिककाययोग में पहले सात और वैश्रिकमिथ्यकाययोग में पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवा और छठा, ये पाँच गुणस्थान हैं ।

(च. आहारककाययोग में छठा और सातवाँ, ये दो और आहारकमिथ्यकाययोग में केवल छठा गुणस्थान है ॥ २२ ॥

असंज्ञिसु पठमदुग्, पठमतिशेसासु छच्च वुसु सत् ।

पठमतिदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥ २३ ॥

असंज्ञिषु प्रथमद्विकं, प्रथमशिलेक्ष्यासु षट् च द्वयोस्मप्त ।

प्रथमांतिमद्विकायतान्धनाहारे मार्गणासु गुणाः ॥ २३ ॥

अर्थ—असंज्ञियों में पहले दो गुणस्थान पाये जाते हैं । कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं में पहले छह गुणस्थान और तेजः और पद्म, इन तीन लेश्याओं में पहले सात गुणस्थान हैं । अनाहारकमार्गणा में पहले दो, अन्तिम दो और अविरतसम्पगच्छि, ये पाँच गुणस्थान हैं । इस प्रकार मार्गणाओं में गुणस्थान का वर्णन हुआ ॥ २३ ॥

भावार्थ—असंज्ञी में दो गुणस्थान कहे हुए हैं । पहला गुणस्थान सब प्रकार के असंज्ञियों को होता है और दूसरा कुछ असंज्ञियोंको ऐसे असंज्ञी, करण-अवर्णाप्त एकेन्द्रिय आदि ही है, क्योंकि

सन्धि-अपर्याप्त एकैन्द्रिय आदि में कोई जीव सास्वादन-भावसहित आकर जन्म ग्रहण नहीं करता ।

कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान माने जाते हैं । इनमें से पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं कि जिनकी प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्याएँ होती हैं । परन्तु पाँचवाँ और छठा, ये दो गुणस्थान ऐसे नहीं हैं । ये दो गुणस्थान सम्यक्तत्व-मूलक विरतिरूप हैं; इसलिये इनकी प्राप्ति तेजः आवि शुभ लेश्याओं के समय होती है; कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं के समय नहीं । तो भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणाम-शुद्धि कुछ घट जाने पर इन दो गुणस्थानों में अशुभ लेश्याएँ भी आ जाती हैं^१ ।

कहीं-कहीं कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं में पहले चार ही गुणस्थान कहे गये हैं, सो प्राप्ति-काल की अपेक्षा से अर्थात् उक्त तीन लेश्याओं के समय पहले चार गुणस्थानों के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

सेजोलेश्या और पद्मलेश्या में पहले सात गुणस्थान माने हुए हैं, सो प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपद्य, दोनों की अपेक्षा से अर्थात् सात गुणस्थानों की पाने के समय और पाने के बाद भी उक्त दो लेश्याएँ रहती हैं ।

१—यही बात श्रीभद्रबाहुस्वामी ने भी है:—

“सम्मत्तमुयं सत्त्वा, -सु लहइ सुढासु तीसु य चरितं ।

पुद्गपड्वियन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥८२२॥”

—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ३३८

अर्थात् “सम्यक्तत्व की प्राप्ति सब लेश्याओं में होती है, चारित्र्य की प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओं में ही होती है । परन्तु चारित्र्य प्राप्त होने के बाद छह में से कोई लेश्या आ सकती है ।”

२—इसके लिये देखिये, गङ्गसंग्रह, द्वार १, गा० ३० तथा बन्ध-स्वामित्व, गा० २४ और जीवकाण्ड गा० ५३१ ।

अनाहारकमार्गणा में पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और बीसहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे हुए हैं। इनमें से पहले तीन गुणस्थान विग्रहगति-कालीन अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से, तेरहवाँ गुणस्थान केषलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होने वाली अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से। और बीसहवाँ गुणस्थान योग-निरोध-जन्य अनाहारक-अवस्था की अपेक्षा से समझना चाहिये।

कहीं-कहीं यह लिखा हुआ मिलता है कि तीसरे, बारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानों में मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानों में इसका संभव है। इसलिये इस जगह यह शङ्का होती है कि जब उक्त शेष ग्यारह गुणस्थानों में मरण का संभव है, तब विग्रहगति में पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन ही गुणस्थान क्यों माने जाते हैं ?

इसका समाधान यह है कि मरण के समय उक्त ग्यारह गुणस्थानों के पाये जाने का कथन है, सो व्यावहारिक मरण को लेकर (वर्तमान भवका अन्तिम समय, जिसमें जोध मरणोन्मुख हो जाता है, उसको लेकर), निश्चय मरण को लेकर नहीं। परभव की आयु का प्राथमिक उदय, निश्चय मरण है। उस समय जोध विरति-रहित होता है। विरतिका सम्बन्ध वर्तमान भव के अन्तिम समय तक ही है। इसलिये निश्चय मरण-काल में अर्थात् विग्रहगति में पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान को छोड़कर विरतिवाले पाँचवें आदि आठ गुणस्थानों का संभव ही नहीं है ॥ २३ ॥



(३)—मार्गणाओं में योग ।

[छह गाथाओं से ।]

सच्चन्द्रयरमीसअस,—वचमोसमणवड्विडविद्याहारा ।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥ २४॥
सत्येतरमिथासत्यमृषमनोवचोवैकुविकाहारकाणि ।
औदारिकं मिथाणि कामणमिति योगाः कामणमनाहारे ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्य, असत्य, मिथ्य (सत्यासत्य) और असत्यामृष, ये चार भेद मनोयोग के हैं । वचनयोग भी उक्त चार प्रकार का ही है । वैक्य, आहारक और औदारिक, ये तीन शुद्ध तथा ये ही तीन मिथ्य और कामण, इस तरह सात भेद काययोग के हैं । सब मिलाकर पन्द्रह योग हुए ।

अनाहारक-अवस्था में कामणकाययोग ही होता है ॥ २४ ॥

मनोयोग के भेदों का स्वरूपः—

भावार्थ—(१) जिस मनोयोगद्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप विचारा जाय; जैसेः—जीव व्रथाधिकनय से नित्य और पर्यायाधिकनय से अनित्य है, इत्यादि, वह 'सत्यमनोयोग' है ।

(२) जिस मनोयोग से वस्तु के स्वरूप का विपरीत चिन्तन हो; जैसेः—जीव एक ही है या नित्य ही है, इत्यादि, वह 'असत्यमनोयोग' है ।

(३) किसी अंश में यथार्थ और किसी अंश में अयथार्थ, ऐसी मिश्रित चिन्तन, जिस मनोयोग के द्वारा हो, वह 'मिश्रमनोयोग' है । जैसेः—किसी व्यक्ति में गुण-दोष दोनों के होते हुए भी उसे सिप

बीबी समझना । इसमें एक अंश मिथ्या है; क्योंकि बीब की तरह गुण भी बीब रूप से ख्याल किये जाते हैं ।

(४) जिस मनोयोग के द्वारा की जाने वाली कल्पना विधि-निषेध-शून्य हो—जो कल्पना, न तो किसी वस्तु का स्थापन ही करती हो और न उत्थापन, वह 'असत्यामूढबान्धनयोग' है । जैसे:—हे देववत् । हे इन्द्रवत् । इत्यादि । इस कल्पना का अमिप्राय अग्य कार्य में व्यग्र-व्यक्ति को सम्बोधित करना मात्र है, किसी तत्व के स्थापन-उत्थापन का नहीं ।

उक्त चार भेद, व्यवहारनयकी अपेक्षा से हैं; क्योंकि निश्चय-दृष्टि से सबका समावेश सत्य और असत्य, इन दो भेदों में ही हो जाता है । अर्थात् जिस मनोयोग में छल-कपट की बुद्धि नहीं है, चाहे मिथ्य हो या असत्यामूढ, उसे 'सत्यमनोयोग' ही समझना चाहिये । इसके विपरीत जिस मनोयोग में छल-कपट का अंश है, वह 'असत्यमनोयोग' ही है ।

वचन योग के भेदों का स्वरूप:—

(१) जिस 'वचनयोग' के द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्थापित किया जाय; जैसे:—यह कहना कि जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी, वह 'असत्यवचनयोग' है ।

(२) किसी वस्तु को अयथार्थ रूप से सिद्ध करने वाला वचन-योग, 'असत्यवचनयोग' है; जैसे:—यह कहना कि आत्मा कोई चीज नहीं है या पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है ।

(३) अनेक रूप वस्तु को एकरूप ही प्रतिपादन करने वाला वचनयोग 'मिथ्यवचनयोग' है । जैसे:—आम, नोम, आदि अनेक प्रकार के वृक्षों के वन की आम का ही वन कहना, इत्यादि ।

(४) जो 'वचनयोग' किसी वस्तु के स्थापन-उत्थापन के लिये

प्रवृत्त नहीं होता, वह असत्यामृष्यवचनयोग' है; जैसे—किसी का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये कहना कि हे भोजवत्त ! हे मिश्रसेन ! इत्यादि यह सम्बोधनमात्र हैं, स्थापन-उत्थापन नहीं । वचनयोग के भी मनोयोग की तरह, तत्त्व-दृष्टि से सत्य और असत्य, ये दो ही भेद समझने चाहिये ।

काययोग के भेदों का स्वरूप:—

(३) सिर्फ वैक्रिय शरीर के द्वारा वीर्य-शक्ति का जो व्यापार होता है, वह 'वैक्रियकाययोग' । यह योग, देवों तथा नारकों को पर्याप्त-अवस्था में सदा ही होता है । और मनुष्यों तथा तिर्यङ्चों को वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रियशरीर धारण कर लेने पर ही होता है । 'वैक्रिय शरीर' उस शरीर को कहते हैं, जो कभी एकरूप और कभी अनेक रूप होता है, तथा कभी छोटा, कभी बड़ा कभी आकाश-गामी, कभी भूमि-गामी, कभी रक्ष्य और कभी अरक्ष्य होता है । ऐसा-वैक्रिय-शरीर देवों तथा नारकों को जन्म-समय से ही प्राप्त होता है; इसलिये वह 'औपगतिक' कहलाता है । मनुष्यों तथा तिर्यङ्चोंका वैक्रियशरीर 'लब्धिप्रप्त्यय' कहलाता है; क्योंकि उन्हें ऐसा शरीर, लब्धि के निमित्त से प्राप्त होता है, जन्म से नहीं ।

(२) वैक्रिय और कामण तथा वैक्रिय और औदारिक, इन दो-दो शरीरों के द्वारा होने वाला वीर्य-शक्ति का व्यापार, 'वैक्रिमिश्रकाययोग' है । पहले प्रकार का वैक्रियमिश्रकाययोग, देवों तथा नारकों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त-अवस्था तक रहता है । दूसरे प्रकार का वैक्रियमिश्रकाययोग, मनुष्यों और तिर्यङ्चों में तभी पाया जाता है जब कि वे लब्धि के सहारे से वैक्रिय शरीर का आरम्भ और परित्याग करते हैं ।

(३) सिर्फ आहारक शरीर की सहायता से होने वाला वीर्य-शक्ति का व्यापार, 'आहारककाययोग' है ।

(४) 'आहारकमिश्रकाययोग' वीर्य-शक्ति का वह व्यापार है, जो आहारक और औदारिक, इन दो शरीरों के द्वारा होता है। आहारक शरीर धारण करने के समय, आहारकशरीर और उसका आरम्भ-परित्याग करने के समय आहारकमिश्रकाययोग होता है। चतुर्वश-पूर्वपर मुनि, संशय दूर करने, किसी सूक्ष्म विषय को जानने अथवा समझि देखने के निमित्त, दूसरे क्षेत्र में तीर्थङ्कर के पास जाने के लिये विशिष्ट-लब्धि के द्वारा आहारकशरीर बनाते हैं।

(५) औदारिककाययोग, वीर्य-शक्ति का वह व्यापार है, जो सिर्फ औदारिक शरीर से होता है। यह योग, सब औदारिकशरीरी जीवों को पर्याप्त-वशा में होता है। जिस शरीर को तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जिसके बनने में मिट्टी के समान छोटे पुद्गलों की आवश्यकता होती है और जो मांस-हड्डी और नस आदि अवयवों से बना होता है, वही शरीर, 'औदारिक' कहलाता है।

(६) वीर्य-शक्ति का जो व्यापार, औदारिक और कामर्ण इन दोनों शरीरों की सहायता से होता है, वह 'औदारिकमिश्रकाययोग' है। यह योग, उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त-अवस्था पर्यन्त सब औदारिकशरीरी जीवों को होता है।

(७) सिर्फ कामर्णशरीर की सहायता से वीर्य-शक्ति की जो प्रवृत्ति होती है, वह 'कामर्णकाययोग' है। यह योग, विग्रह गति में तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में सब जीवों को होता है। और केवलिसमुद्रात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली को होता है। 'कामर्णशरीर' वह है, जो कर्म-पुद्गलों से बना होता है और आत्माके प्रवेशों में इस तरह मिला रहता है, जिस तरह दूध में पानी। सब शरीरों की जड़, कामर्णशरीर ही है अर्थात् जब इस शरीर का समूल नाश होता है, तभी संसार का उच्छेद हो जाता है। जीव, नये जन्मको

ग्रहण करने के लिये जब एक स्थान से दुसरे स्थान को जाता है, तब वह उसी शरीर से वेष्टित रहता है। यह शरीर इतना सूक्ष्म है कि वह हववाला होने पर भी नेत्र आदि इन्द्रियों का विषय बन नहीं सकता। इसी शरीर को दूसरे वैज्ञानिक ग्रन्थों में 'सूक्ष्मशरीर' या 'लिङ्गशरीर' कहा है।

यद्यपि तैजस नाम का एक और भी शरीर माना गया है, जो कि खाये हुए आहार को पचाता है और विशिष्ट लब्धि-धारी तपस्वी, जिसकी सहायता से तेजोलेख्या का प्रयोग करते हैं। इसलिये यह शङ्का हो सकती है कि कामर्णकाययोग के समान तैजसकाययोग भी मानना आवश्यक है।

इस शङ्का का समाधान यह है कि तैजसशरीर और कामर्णशरीर का सदा साहचर्य रहता है। अर्थात् औदारिक आदि अन्य शरीर-कभी-कभी कामर्णशरीर को छोड़ भी देते हैं; पर तैजसशरीर उसे कभी नहीं छोड़ता। इसलिये वीर्य-शक्ति का जो व्यापार, कामर्णशरीर के द्वारा होता है, वही नियम से तैजस शरीर के द्वारा भी होता रहता है। अतः कामर्णकाययोग में ही तैजसकाययोग का समावेश हो जाता है; इसलिये उसको जुदा नहीं मिला है।

आठ मार्मणाओं में योग का विचारः—

ऊपर जिन पन्द्रह योगों का विचार किया गया है उनमें से कामर्णकाययोग ही ऐसा है, जो अनाहारक-अवस्था में पाया जाता है। शेष चौदह योग, आहारक-अवस्था में ही होते हैं। यह नियम नहीं है कि अनाहारक-अवस्था में कामर्णकाययोग होता ही है; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक-अवस्था होने पर भी किसी तरह का

१—“उक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य स्वरूपमाह—“सप्तदशकं लिङ्गम्।”

—साख्यदर्शन-अ० ३, सू० ६।

योग नहीं होता । यह भी नियम नहीं है कि कर्मणाकाययोग के समय अनाहारक-अवस्था अवश्य होती है; क्योंकि उत्पत्ति-क्षणमें कर्मण-काययोग होने पर भी जीव, अनाहारक नहीं होता, बल्कि वह, उसी योग के द्वारा आहार लेता है, परन्तु यह तो निश्चय ही है कि जब जीव की अनाहारक-अवस्था होती है, तब कर्मणकाययोग के सिवाय अन्य योग होता ही नहीं । इसीसे अनाहारक-मार्गणा में एक मात्र कर्मणकाययोग माना गया है ॥२४॥

नरगइर्पाणिदित्सतणु-अचक्खुनरनपुकसायसंदुमगे ।

संनिच्छलेसाहारग-भवमइमुओहिवुगे सव्वे ॥२५॥

नरगातपञ्चेन्द्रियसतन्वनक्षनरनपुंसककायसम्यक्त्वद्विके ।

संनिषड्लेश्याहारकभयमितिश्रुतावचिद्विके सर्वे ॥२५॥

अर्थ—मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, असकाय, काययोग, अक्षयु-दर्शन, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, चार कषाय, क्षापिक तथा आयोपश-निक, ये ही सम्पत्त्व, संज्ञी, छह लेश्याएँ, आहारक, भय, सतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधि द्विके इन छब्बीस मार्गणाओं में सब पन्द्रहों-योग होते हैं ॥२५॥

भावार्थ—उपर्युक्त छब्बीस मार्गणाओं में पन्द्रह योग इसलिये कहे गये हैं कि इन सब मार्गणाओं का सम्बन्ध मनुष्यपर्याय के साथ है और मनुष्यपर्याय सब योगों का सम्भव है ।

यद्यपि कहीं-कहीं यह कथन मिलता है कि आहारकमार्गणा में कर्मणयोग नहीं होता, शेष चौदह योग होते हैं । किन्तु वह युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ता; क्योंकि जन्म के प्रथम समय में, कर्मण-योग के सिवाय अन्य किसी योग का संभव नहीं है । इसलिये उस समय, कर्मणयोग के द्वारा ही आहारकत्व घटाया जा सकता है ।

जन्म के प्रथम समय में जो आहार किया जाता है, उसमें गृह्यमाण

पुष्कल ही साधन होते हैं; इसलिये उस समय, कर्मणकाययोग मानने की जरूरत नहीं है। ऐसी शक्का करना व्यर्थ है। क्योंकि प्रथम समय में, आहाररूप से ग्रहण किये हुए पुष्कल उसी समय शरीर-रूप में परिणत होकर दूसरे समय में आहार लेने में साधन बन सकते हैं, पर अपने ग्रहण में आप साधन नहीं बन सकते ॥२५॥

तिरिङ्गतिश्चजयसासन, -अनाणउवसमअभञ्जमिच्छेसु ।

तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥

तिर्यङ्चरश्चउतसासादनाशानोपशमाभञ्जमिश्चात्वेषु

त्रयोदशाहारकद्विकोनास्त औदारिकद्विकोनाः सुरनरकं ॥२६॥

अर्थ तिर्यङ्चगति, स्त्रीवेद, अविरति, सास्वादन, तीन अज्ञान, उपशमसम्यक्त्व, अन्नरूप और मिथ्यात्व, इन दस मार्गणाओं में आहारक-द्विकके सिवाय तेरह योग होते हैं। देवगति और नरक-गति में उक्त तेरह में से औदारिक-द्विकके सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं ॥२६॥

भावार्थ—तिर्यङ्चगति आदि उपर्युक्त दस मार्गणाओं में आहारक-द्विकके सिवाय शेष सब योग होते हैं। इनमें से स्त्रीवेद और उपशमसम्यक्त्व को छोड़कर शेष आठ मार्गणाओं में आहारकयोग न होने का कारण सर्वविरतिका अभाव ही है। स्त्रीवेद में सर्वविरतिका संभव होने पर भी आहारकयोग न होने का कारण स्त्री जाति की दृष्टिबाध^१—जिसमें चौबह पूर्व है—पढ़ने का निषेध है। उपशमसम्यक्त्व में सर्वविरतिका संभव है तथापि उसमें आहारक योग न मानने का कारण यह है कि उपशमसम्यक्त्वही आहारकनविध का प्रयोग नहीं करते।

१. देखिये, परिशिष्ट 'त'।

तिर्यङ्चगति में तेरह योग कहे गये हैं। इनमें से चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग, इस तरह से ये नौ योग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं। वैक्रियकाययोग और वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं सही; पर सब तिर्यङ्चों को नहीं; किन्तु वैक्रिय-अस्ति के बल से वैक्रियहीन बनाने वाले कुछ तिर्यङ्चों को ही। कामर्ण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, तिर्यङ्चों को अपर्याप्त-अवस्था में ही होते हैं।

स्त्रीवेद^१ में तेरह योगों का संभव इस प्रकार है:—मन के चार वचन के चार, दो वैक्रिय और एक औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य-तिर्यङ्च-स्त्री को पर्याप्त-अवस्था में, वैक्रियमिश्रकाययोग देव-स्त्री को अपर्याप्त-अवस्था में, औदारिकमिश्रकाययोग मनुष्य-तिर्यङ्च-स्त्री को अपर्याप्त-अवस्था में और कामर्णकाययोग पर्याप्त-मनुष्य-स्त्री को केवलिसमुद्भात-अवस्था में होता है।

अधिरति, सम्यग्दृष्टि, सास्वावन, तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व, इन सात मार्गणाओं में चार मन के, चार वचन के, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में होते हैं। कामर्णकाययोग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के प्रथम क्षण में होता है। औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्था में होते हैं।

१—स्त्रीवेद का मतलब इस जगह द्रव्यस्त्रीवेद से ही है। क्योंकि उसी में आहारकयोग का अभाव घट सकता है। भावस्त्रीवेद में तो आहारकयोग का संभव है अर्थात् जो द्रव्य से पुरुष होकर भावस्त्रीवेद का अनुभव करता है, वह भी आहारकयोग वाला होता है। इसी तरह आगे उपयोगाधिकार में जहाँ वेद में बारह उपयोग कहे हैं, वहाँ भी वेद का मतलब द्रव्यवेद से ही है। क्योंकि क्षायिक-उपयोग भाववेदरहितको ही होते हैं, इसलिये भाववेद में बारह उपयोग नहीं घट सकते। इससे जलदा, गुणस्थान-अधिकार में वेद का मतलब भाववेद से ही है; क्योंकि वेद में नौ गुणस्थान कहे हुए हैं, सो भाववेद में ही घट सकते हैं, द्रव्यवेद तो चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है।

उपशमसम्पत्तय में चार मन के, चार वचन के, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में पाये जाते हैं। कर्मण और वैक्रियमिथ, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्था में देवों की अपेक्षा से सम्मानने चाहिये; क्योंकि जिनका यह मत है कि उपशममध्येणि से गिरने-वाले जीव मरकर अनुत्तरविमान में उपशमसम्पत्तय सहित जन्म लेते हैं, उनके मत से अपर्याप्त देवों में उपशमसम्पत्तय के समय उक्त दोनों योग पाये जाते हैं। उपशमसम्पत्तय में औदारिकमिथयोग गिना है, सो सैद्धान्तिक मत के अनुसार, कर्मग्रन्थिक मत के अनुसार नहीं; क्योंकि कर्मग्रन्थिक मत से पर्याप्त-अवस्था में केवली के सिवाय अन्य किसी को वह योग नहीं होता। अपर्याप्त-अवस्था में मनुष्य तथा तिर्यञ्च को होता है सही, पर उन्हें उस अवस्था में किसी तरह का उपशमसम्पत्तय नहीं होता। सैद्धान्तिक मत से उपशमसम्पत्तय में औदारिकमिथयोग घट सकता है; क्योंकि सैद्धान्तिक विद्वान् वैक्रियशरीर की रचना के समय वैक्रियमिथयोग न मानकर औदारिकमिथयोग मानते हैं; इसलिये वह योग, ग्रन्थि-मेद-जन्म उपशमसम्पत्तय वाले वैक्रियसन्धि-संपन्न मनुष्य में वैक्रियशरीर की रचना के समय पाया जा सकता है।

देवगति और नरकगति में विरति न होने से दो आहारकयोगों का सम्भव नहीं है तथा औदारिकशरीर न होने से दो औदारिकयोगों का संभव नहीं है। इसलिये इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग उक्त दो गतियों में कहे गये हैं; सो यथासम्भव विचार लेना चाहिये ॥ २६ ॥

१—यह मत स्वयं ग्रन्थकारने ही आगे की ४६ वीं गाथा में इस अंश से निर्दिष्ट किया है—

“विउरुधगाहारमे उरलमित्तं”

कस्मुरलक्षुगं धावरि, ते सखिउव्विदुग पंच इयि १४णे ।

छ असंनि चरमवइजुय, ते विउवदुगुण चउ विगले ॥२७॥

कर्मणौदारिकद्विकं स्थावरे, ते सर्वैक्रियद्विकाः पञ्चैकस्मिन् पवने ।
पञ्चसज्जिनि चरमवचोयुतास्ते वैक्रियद्विकान्ताश्चत्वारो विकले ॥२७॥

अर्थ—स्थावरकाय में, कर्मण तथा औदारिक-द्विक, ये तीन योग होते हैं। एकेन्द्रिय जाति और वायुकाय में उक्त तीन तथा वैक्रिय-द्विक, ये कुल पाँच योग होते हैं। असंजी में उक्त पाँच और चरम वचनयोग (असत्यामृषावचन) कुल छह योग होते हैं। विकलेन्द्रिय में उक्त छह में से वैक्रिय-द्विक को घटाकर शेष चार (कर्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृषावचन) योग होते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—स्थावरकाय में तीन योग कहे गये हैं, सो वायुकाय के सिवाय अन्य चार प्रकार के स्थावरों में समझना चाहिये। क्योंकि वायुकाय में और भी दो योगों का संभव है। तीन योगों में से कर्मणकाय-योग, विग्रहगति में तथा उत्पत्ति-समय में, औदारिकमिश्रकाययोग, उत्पत्ति-समय को छोड़कर शेष अपर्याप्ति-काल में और औदारिककाययोग, पर्याप्ति-अवस्था में समझना चाहिये।

एकेन्द्रियजाति में, वायुकाय के जीव भी आ जाते हैं। इसलिये उसमें तीन योगों के अतिरिक्त, दो वैक्रिययोग मानकर पाँच योग कहे हैं।

वायुकाय में अन्य स्थानों की तरह कर्मण आवि तीन योग पाये जाते हैं; पर इनके सिवाय और भी दो योग (वैक्रिय और वैक्रियमिश्र) होते हैं। इसी से उसमें पाँच योग माने गये हैं। वायुकाय^१ में पर्याप्ति बाहर

१—वही बात प्रज्ञापना-चूणि में कही हुई—

जीव, वैक्रियलब्धि-संपन्न होते हैं, वे ही वैक्रिय-द्विक के अधिकारी हैं, सब नहीं। वैक्रियशरीर बनाते समय, वैक्रियमिश्रकाययोग और बना चुकने के बाद उसे धारण करते समय वैक्रियकाययोग होता है।

असंज्ञी में छह योग कहे गये हैं। इनमें से पाँच योग तो वायुकाय-की अपेक्षा से; क्योंकि सभी एकेन्द्रिय असंज्ञी ही हैं। छठा असत्या-मृषावचनयोग, द्वीन्द्रिय आदिकी अपेक्षा से; क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और समूच्छिन्नपञ्चेन्द्रिय, ये सभी असंज्ञी हैं। द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीव, भावालब्धि-युक्त होते हैं; इसलिये उनमें असत्यामृषावचनयोग होता है।

विकलेन्द्रिय में चार योग कहे गये हैं; क्योंकि वे, वैक्रियलब्धि-संपन्न न होने के कारण वैक्रियशरीर नहीं बना सकते। इसलिये उनमें असत्य-मृषावचन छह योगों में से वैक्रिय-द्विक नहीं होता ॥२७॥

कम्पुलमीसविणु मण, -वइसमइयद्देयचक्षुमणनाणे ।

उरलदुगकम्मपढमं, -तिममणवइ केवलदुर्गमि ॥ २८ ॥

कर्मादारिकमिश्रं बिना मनोवचरसामायिकच्छेदचक्षुर्मनोज्ञाने ।

औदारिकद्विककर्मप्रथमान्तिममनोवचः केवलद्विके ॥ २८ ॥

अर्थ—मनोयोग, वचनयोग, सामायिकचारित्र, छेदोपस्थाप-नीयचारित्र, चक्षुर्वर्शन और मनःपर्यायज्ञान, इन छह साधनाओं में

“निष्णं ताव रासीणं, वेउद्विअलद्धो जेध नत्थि ।

वावरपज्जताण पि, संखेज्जइ भागस्स ति ।”

—पञ्चसंग्रह-द्वार १ की टीका में प्रमाणरूप से उद्धृत ।

अर्थात्—“अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म और अपर्याप्त वादर’ इन तीन प्रकार के वायुकायिकों में तो वैक्रियलब्धि है ही नहीं। पर्याप्त वादर वायुकाय में है, परन्तु वह सबमें नहीं; सिर्फ उसके संख्यातवै भाग में ही है।”

कार्मण तथा औदारिकमिश्रको को छोड़कर तेरह योग होते हैं। केवल द्विकमें औदारिक-द्विक, कार्मण, प्रथम तथा अन्तिम मनोयोग (सत्य तथा असत्यानुष्ठानमनोयोग) और प्रथम तथा अन्तिम वचनयोग (सत्य तथा असत्यामूषावचनयोग), ये सात योग होते हैं ॥२८॥

साधार्थ—मनोयोग आदि उपर्युक्त छह मार्गणाएँ पर्याप्त-अवस्था में ही पायी जाती हैं। इसलिये इनमें कार्मण तथा औदारिक-मिश्र, ये अपर्याप्त-अवस्था-भावी वो योग नहीं होते। केवली को केवलिसमुद्धात में ये योग होते हैं : इसलिये यद्यपि पर्याप्त-अवस्था में भी इनका संभव है तथापि यह जानना चाहिये कि केवलिसमुद्धातमें जब कि ये योग होते हैं, मनोयोग आदि उपर्युक्त छह में से कोई भी मार्गणा नहीं होती। इसीसे इन छह मार्गणाओं में उक्त वो योग के सिवाय, शेष तेरह योग कहे गये हैं।

केवल-द्विकमें औदारिक-द्विक आदि सात योग कहे गये हैं, तो इस प्रकारः—सयोगी केवली को, औदारिककाययोग सदा ही रहता है; सिर्फ केवलिसमुद्धात के मध्यवर्ती छह समयों में नहीं होता। औदारिकमिश्रकाययोग, केवलिसमुद्धातके दूसरे, छठे और सातवें समय में तथा कार्मणकाययोग तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होता है। वो वचनयोग, देशना देने के समय होते हैं और दो मनोयोग किलो के प्रश्न का मन से उत्तर देने के समय। मन से उत्तर देने का मतलब यह है कि जब कोई अनुत्तरविमानवासी देव या मन पर्यायज्ञानी अपने स्थान में रहकर मनसे ही केवली को प्रसन्न करते हैं, तब उनके प्रसन्न को केवलज्ञान से जानकर केवली भगवान् उसका उत्तर मनसे ही देते हैं। अर्थात् मनोद्रव्य को ग्रहणकर उसकी ऐसी रचना करते हैं कि

२—देखिये, परिशिष्ट 'ध'।

२—गोम्मटसार-जीवकाण्ड की २२८वों गाथा में भी केवली को द्रव्य मन का सम्बन्ध माना है।

जिसको अवधिज्ञान या मनः पर्यायज्ञान के द्वारा देखकर प्रश्नकर्ता केवली भगवान् के दिने हुए उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते हैं। यद्यपि मनोवृत्त्य बहुत सूक्ष्म है तथापि अवधिज्ञान और मनः पर्याय ज्ञान में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेने की शक्ति है। जैसे कोई मानस-शास्त्रज्ञ किसी के चेहरे पर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को देखकर उसके मनो-गत-भाव को अनुमान द्वारा जान लेता है, वैसे ही अवधिज्ञानी या मनः पर्यायज्ञानी मनोवृत्त्य को रचना को साक्षात् देखकर अनुमान-द्वारा यह जान लेते हैं कि इस प्रकार की मनो-रचना क द्वारा अमुक अर्थ का ही चिन्तन किया हुआ होना चाहिये ॥२८॥

मणवद्भूतला परिहा, रिसुहुमि नवते उमीसि सविउव्वा ।

देसे सविउव्विदुगा, सकम्भुरलमीस अहखाए ॥२९॥

मनोवृत्त औदारिकानि परिहारे सूक्ष्मे नव ते तु मिश्रे सबैकियाः ।

देशे सबैक्रियद्विकाः, सकामौदारिकमिश्राः यथाह्यते ॥२९॥

अर्थ—परिहारविशुद्ध और सूक्ष्मसम्परायचारित्र में मन के चार, वचन के चार और एक औदारिक, ये नौ योग होते हैं। मिश्र में (सम्परिमित्यार्थ में) उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, कुल दस योग होते हैं। देशविरति में उक्त नौ तथा वैक्रिय-द्विक, कुल ग्यारह योग होते हैं। यथाख्यातचारित्र में चार मनके, चार वचन के, कामंज और औदारिक-द्विक, ये ग्यारह योग होते हैं ॥२९॥

भावार्थ—कामंज और औदारिक मिश्र, ये दो योग छद्मस्थके-लिये अपर्याप्त-अवस्था-भावी हैं, किन्तु चारित्र कोई भी अपर्याप्त-अवस्था में नहीं होता। वैक्रिय और वैक्रियामिश्र, ये दो योग वैक्रिय-तद्विषय का प्रयोग करने वाले ही मनुष्य को होते हैं। परन्तु परिहार-विशुद्ध या सूक्ष्मसम्परायचारित्र वाला कभी वैक्रियतद्विषय का प्रयोग नहीं करता। आहारक और आहारकमिश्र, ये दो योग चतुर्वंश-

पूर्व-धर प्रमत्त पुनि को हो होते हैं; किन्तु परिहारविशुद्ध चारित्र्य का अधिकारी कुछ-कम दस पूर्व का ही पाठो होता है और सूक्ष्मसंपराय-चारित्र्य वाला चतुर्वर्ष-पूर्व-धर होने पर भी अप्रमत्त ही होता है; इस कारण परिहार विशुद्ध और सूक्ष्मसंपराय में कामर्ण, औदारिकमिथ, वैक्रिय, वैक्रियमिथ, आहारक और आहारक मिथ, ये छह योग नहीं होते, शेष नौ होते हैं ।

मिथसम्यक्त्व के समय मृत्यु नहीं होती । इस कारण अपर्याप्त-अवस्था में यह सम्यक्त्व नहीं पाया जाता इसीसे उसमें कामर्ण-औदारिक मिथ और वैक्रियमिथ, ये अपर्याप्त-अवस्था-भावी तीन योग नहीं होते । तथा मिथसम्यक्त्व के समय चौदह पूर्व के ज्ञान का संभव न होने के कारण दो आहारकयोग नहीं होते । इस प्रकार कामर्ण आदि उक्त पांच योगों को छोड़कर शेष दस योग मिथसम्यक्त्व में होते हैं ।

इस अगह यह शङ्का होती है कि मिथसम्यक्त्व में अपर्याप्त-अवस्था-भावी वैक्रियमिथयोग नहीं माना जाता, सो तो ठीक है; परन्तु वैक्रियलब्धि का प्रयोग करते समय मनुष्य और तिर्यङ्चको पर्याप्त-अवस्था में जो वैक्रियमिथयोग होता है, वह मिथसम्यक्त्व में क्यों नहीं माना जाता ? इसका समाधान इतना ही दिया जाता है कि मिथसम्यक्त्व और लब्धि-जन्य वैक्रियमिथयोग: ये दोनों पर्याप्त-अवस्था-भावी हैं; किन्तु इनका साहचर्य नहीं होता । अर्थात् मिथ-सम्यक्त्व के समय लब्धि का प्रयोग न किये जाने के कारण वैक्रिय-मिथकाययोग नहीं होता ।

प्रतधारी श्रावक, चतुर्वर्ष-पूर्व और अपर्याप्त नहीं होता; इस कारण देशविरति में दो आहारक और अपर्याप्त-अवस्था-भावी कामर्ण और औदारिकमिथ, इन चार के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं । ग्यारहमें वैक्रिय और वैक्रियमिथ, ये दो योग गिने हुए हैं,

तो इसलिये कि 'अम्बुड' आदि श्रावक द्वारा वैकियलब्धि से वैकिय-शरीर बनाये जाने की बात शास्त्र में प्रसिद्ध है ।

यथाव्याप्त चारित्र वाला अप्रमत्त ही होता है, इसलिये उस चारित्र में दो वैकिय और दो आहारक, ये प्रमाद-सहचारी चार योग नहीं होते, शेष ग्यारह होते हैं । ग्यारहवें काम्य और औदारिकमिश्र, ये दो योग मिने गये हैं, तो केवल समुद्रात की अपेक्षा से । केवलिसमुद्रात के बूमरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में काम्ययोग होता है ॥२२॥

१--देखिये, औपपातिक पृ० ६६ ।

२--देखिये, परिशिष्ट 'ब ।'

(४)-मार्गणाओं में उपयोग ।

[छह गाथाओं से]

तिअनाण नाण पण च ड, दंसण चार जियलक्खणुबओगा ।
विणु मणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

श्रीण्यज्ञानानि ज्ञानानि पञ्च चत्वारि, दर्शनानि द्वादश जीवलक्षणमुपयोगाः ।
विना समोज्ञानद्विकेवलं नव सुरतिर्यङ्गनिरथायतेषु ॥३०॥

अर्थ—तीन अज्ञान- पाँच ज्ञान और चार दर्शन ये चारह उपयोग हैं, जो जीव के लक्षण हैं । इनमें से मनः पर्याय ज्ञान और केवल-द्विक, इन तीन के सिवाय शेष नौ उपयोग वेवगति, तिर्यङ्गगति, नरकगति और अविरत में पाये जाते हैं ॥३०॥

भावार्थ—किसी वस्तु का लक्षण, उसका असाधारण धर्म है; क्योंकि लक्षण का उद्देश्य, लक्ष्य को अन्य वस्तुओं से भिन्न बतलाना है; जो असाधारण धर्म में ही घट सकता है । उपयोग, जीव के असाधारण (वास) धर्म हैं और अजीव से उसको भिन्नता को बरसाते हैं; इसी कारण ये जीव के लक्षण कहे जाते हैं ।

मनः पर्याय और केवल-द्विक, ये तीन उपयोग सर्वविरति-सापेक्ष हैं; परन्तु वेवगति, तिर्यङ्गगति, नरकगति और अविरति, इन चार मार्गणाओं में सर्वविरति का संभव नहीं है; इस कारण इनमें तीन उपयोगों को छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं ।

अविरति वालों में से शुद्ध सम्यक्त्वों को तीन ज्ञान, तीन दर्शन ये छह उपयोग और शेष सबको तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पाँच उपयोग समझने चाहिये ॥३०॥

तसजोयवेयसुक्का,—हारनरपणिदिसंनिभवि सव्वे ।

नयणेयरपणलेसा,—कसाइ दस केवलदुगुणा ॥३१॥

तसयोगवेदसुक्काहारकनरपञ्चैन्द्रियसंज्ञित्ये सव्वे ।

नयनेतरपञ्चलेख्याकषाये दश केवलद्विकोनाः ॥३१॥

अर्थ—ब्रह्मकाय, तीन योग, तीन वेद, शुक्ल लेश्या, आहारक, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, संज्ञी और भग्य, इन तेरह मार्गणाओं में सब उपयोग होते हैं । चक्षुर्वर्शन, अक्षुर्वर्शन, शुक्ल के सिवाय शेष पाँच लेश्याएँ और चार कषाय, इन ग्यारह मार्गणाओं में केवल-द्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग पाये जाते हैं ॥३१॥

भावार्थ—ब्रह्मकाय आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाओं में से योग, शुक्ललेश्या और आहारकत्व, ये तीन मार्गणाएँ तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त और शेष दस, चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त पायी जाती हैं; इसलिये इन सब में बारह उपयोग माने जाते हैं । चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जाने का मतलब, द्रव्य वेद से है; क्योंकि भावसेव तो नवें गुणस्थान तक ही रहता है ।

चक्षुर्वर्शन और अक्षुर्वर्शन, ये दो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त, कृष्ण-आदि तीन लेश्याएँ छठे गुणस्थान पर्यन्त, तेजः पद्म, दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान पर्यन्त और कषायोदय अधिक से अधिक बसवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है; इस कारण चक्षुर्वर्शन आदि उक्त ग्यारह मार्गणाओं में केवल-द्विकके सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं ॥३१॥

चउरिदिअसंनि वृअना, णदंसण इगिबित्तिथावरि अचक्खु ।

तिअनाण वंसणदुगं, अनाणतिगअभवि मिच्छदुगं ॥३२॥

चतुरिन्द्रियासंज्ञिनि द्वयज्ञानदर्शनमेकद्वित्रिस्थावरऽक्षक्षुः ।

व्यज्ञानं दर्शनद्विरसज्ञानत्रिकामव्ये मिथ्यात्ववृत्तिके ॥ ३२ ॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में भूति और श्रुत दो अज्ञान तथा चक्षुः और अवक्षुः दो दर्शन, कुल चार उपयोग होते हैं । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पाँच प्रकार के स्थावर में उक्त चार में से चक्षुर्दर्शन के सिवाय, शेष तीन उपयोग होते हैं । तीन अज्ञान, अभव्य, और मिथ्यात्व-वृत्तिक (मिथ्यात्व तथा सासादन), इन छह मार्गणाओं में तीन अज्ञान और दो दर्शन कुल पाँच उपयोग होते हैं ॥ ३२ ॥

साकार्य—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में विभङ्गज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं है तथा उनमें सम्यक्त्व न होने के कारण, सम्यक्त्व के सहचारी पाँच ज्ञान और अवधि और केवल दो दर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, इस तरह कुल आठ के सिवाय शेष चार उपयोग होते हैं ।

एकेन्द्रिय आदि उपयुक्त आठ मार्गणाओं में भेद न होने के कारण चक्षुर्दर्शन और सम्यक्त्व न होने के कारण पाँच ज्ञान तथा अवधि और केवल, ये दो दर्शन और तथाविध योग्यता न होने के कारण विभङ्गज्ञान, इस तरह कुल नौ उपयोग नहीं होते, शेष तीन होते हैं ।

अज्ञान-त्रिक आदि उपयुक्त छह मार्गणाओं में सम्यक्त्व तथा विरति नहीं है; इसलिये उनमें पाँच ज्ञान और अवधि-केवल, ये दो दर्शन, इन सात के सिवाय शेष पाँच उपयोग होते हैं ।

सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञानी में अवधिदर्शन मानते हैं और सास्नायन-गुणस्थान में अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानते हैं; इसलिये इस वचन अज्ञान-त्रिक आदि छह मार्गणाओं में अवधिदर्शन नहीं माना है और

१—खुलासे के लिये २१वीं तथा ४६वीं गाथा का टिप्पण देखना चाहिये ।

साक्षादनुभवाभावा में ज्ञान नहीं माना है, तो कर्मसंख्यिक मत के अनुसार समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

केवलबुद्धे मिथ्यबुद्धं, नच त्रिभूतानां विष्णु लक्ष्यअहंसाये ।
वसन्तनाथतिगं वे, -सि मीसि अनाणमीसं तं ॥ ३३ ॥

केवलवृत्तिके निजवृत्तिक, नच व्यज्ञानं विना आधिक्ययाख्याते ।
दर्शनज्ञानत्रिकं देणे मिथ्येज्ज्ञानमिथ्यं तत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—केवल-वृत्तिक में निज-वृत्तिक (केवलज्ञान और केवलदर्शन) दो ही उपयोग हैं । आधिक्यसम्पत्त्य और यथाक्यातचारित्र्य में तीन अज्ञान को ही शेष नौ उपयोग होते हैं । वेदविरति में तीन ज्ञान और तीन वर्तन, ये छह उपयोग होते हैं । मिथ्य-दृष्टि में वही उपयोग अज्ञान-मिश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—केवल-वृत्तिक में केवलज्ञान और केवलदर्शन दो ही उपयोग माने जाने का कारण यह है कि मतिज्ञान अर्थात् शेष दस व्यापस्थिक उपयोग, केवली को नहीं होते ।

आधिक्यसम्पत्त्य के समय, मिथ्यात्व का अभाव ही होता है । यथाक्यातचारित्र्य के समय, ग्यारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व भी है, पर त्रिकं सत्तागत, उदयमान नहीं; इस कारण इन दो मार्गनाओं में मिथ्यात्वोदय-सहभावी तीन अज्ञान नहीं होते । शेष नौ उपयोग होते हैं । तो इस प्रकार—उक्त दो मार्गनाओं में व्यापस्थिकस्थिति में पहले चार ज्ञान तथा तीन वर्तन, ये सात उपयोग और केवली-अवस्था में केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग ।

वेदविरति में, मिथ्यात्व का उदय न होने के कारण तीन अज्ञान नहीं होते और सर्वविरतिकी अपेक्षा रखने वाले अनन्यपर्यायज्ञान और

१—यही मत गोम्वटसार-जीवकाण्ड की ७०४वीं श्लोका में उल्लिखित है ।

केवल-वृत्ति, ये तीन उपयोग भी नहीं होते; शेष छह होते हैं। छह में अवधि-वृत्तिकका परिगणन इसलिये किया गया है कि आचको को अवधि-उपयोग का वर्णन, शास्त्र में मिलता है।

मिथ-दृष्टि में छह उपयोग वही होते हैं, जो नैसर्गिक हैं; पर विशेषता इतनी है कि मिथ-दृष्टि में तीन ज्ञान, मिथित^१ होते हैं, शुद्ध नहीं अर्थात् मतिज्ञान, मति-अज्ञान-मिथित, धृतज्ञान, भुत-अज्ञान-मिथित और अवधिज्ञान, विमङ्गलज्ञान-मिथित होता है। मिथितता इसलिये मानी जाती है कि मिथ-दृष्टिगुणस्थान के समय अर्द्ध-विशुद्ध वर्णनमोहनीय-पुञ्ज का उदय होने के कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध अर्थात् मिथ होते हैं। शुद्धि की अपेक्षा से मति आदि को ज्ञान और अशुद्ध की अपेक्षा से अज्ञान कहा जाता है।

गुणस्थान में अवधिवर्णन का सम्बन्ध विचारने वाले कार्मव्यधिक पक्ष दो हैं। पहला चौथे आदि भी गुणस्थानों में अवधिवर्णन मानता है, जो २१वीं गा० में निर्दिष्ट है। दूसरा पक्ष, तीसरे गुणस्थान में भी अवधिवर्णन मानता है, जो ४८वीं गाथा में निर्दिष्ट है। इस अगह दूसरे पक्ष को लेकर ही मिथ-दृष्टि के उपयोगों में अवधिवर्णन गिना है ॥ ३३ ॥

मणनाणवक्षुवज्जा, अणहारि तिसि वंसण चउ नाणा ।

चउनाणसंखमोवस,—सवेयगे ओहिदसे य ॥ ३४ ॥

मनोक्षानवक्षुवर्जा अनाहारे त्रीणि वर्णनानि चत्वारि ज्ञानानि ।

चतुर्ज्ञानसंयमोपशमवेदकेऽवधिवर्णने च ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनाहारकमार्गणा में समःपर्यायज्ञान और चक्षुर्वर्णन को छोड़कर, शेष वस उपयोग होते हैं। चार ज्ञान, चार संयम, उप-

१—जैसे:—श्रीयुत् धनपतिसिंह जी द्वारा मुद्रित उपासकवशा पृ० ७० ।

२—गोम्मटसार में यही बात मानी हुई है। देखिये, जीवकाण्ड की गाथा ७०४ ।

श्रमसम्पत्तक, वेदक अर्थात् आयोपशमिकसम्पत्तक और अवधि-
दर्शन, इन ग्यारह मार्गणाओं में चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, कुल
सात उपयोग होते हैं ॥ ३४ ॥

साधार्ग—विग्रहति केवलसमुद्धात और मोक्ष में अनाहारकत्व
होता है। विग्रहति में आठ उपयोग होते हैं। जैसे:—भावी
सौर्धकर भावि-सम्पत्तकी-सिध्यात्वी को तीन ज्ञान, सिध्यात्वीको तीन अज्ञान
और सम्पत्तकी-सिध्यात्वी उभय की अक्षु और अवधि, ये दो
दर्शन। केवलसमुद्धात और मोक्ष में केवलज्ञान और केवलदर्शन, दो
उपयोग होते हैं। इस तरह सब मिलाकर अनाहारकमार्गणा में
दस उपयोग हुए। मनःपर्यायज्ञान और अक्षुर्दर्शन, ये दो उपयोग
पर्याप्ते-अवस्था-भावी होने के कारण अनाहारकमार्गणा में नहीं होते।
केवलज्ञान के सिवाय चार ज्ञान, यथाख्यात के सिवाय चार
चारित्र, औपशमिक-आयोपशमिक दो सम्पत्तक और अवधिवर्शन
ये ग्यारह मार्गणाएँ चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में ही पायी
जाती हैं; इस कारण इनमें तीन अज्ञान और केवल-द्विक, इन पाँच-
के सिवाय शेष सात उपयोग माने हुए हैं।

इस जगह अवधिवर्शन में तीन अज्ञान नहीं माने हैं। सो २१ वीं
गाथा में कहे हुए “जयाद् नव मद्भुधोहिदुर्ग” इस कर्मग्रन्थिक मत-
के अनुसार समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ट दु चउ चउ वयणें।

चउ दु पण तिमि काये, जियगुणजोगोवओगन्ने ॥ ३५ ॥

द्वे त्रयोदश त्रयोदश द्वादश, मनसि क्रमादष्ट द्वे चत्वारश्चत्वारो ववने।
चत्वारि द्वे पञ्च त्रयः काये, जीवगुणयोगोपयोषा अन्ये ॥ ३५ ॥

अर्थ—अन्य आचार्य मनोयोग में जीवस्थान दो, गुणस्थान तेरह,
योग तेरह, उपयोग बारह, वचनयोग में जीवस्थान आठ, गुणस्थान

बो, योग चार, उपयोग, चार और काययोग में जीवस्थान चार, गुणस्थान बो, योग पच और उपयोग तीन मरन्ते हैं ॥६५॥

भाषार्थ—पहले किसी प्रकार की विशेष विवक्षा किये बिना ही मन, वचन और काययोग में जीवस्थान आदि का विचार किया गया है; पर इस गाथा में कुछ विशेष विवक्षा करके । अर्थात् इस जगह प्रत्येक योग यथासम्भव अन्य योग से रहित लेकर उसमें जीवस्थान आदि दिखाये हैं । यथासम्भव कहने का मतलब यह है कि मनोयोग जो अन्य योग रहित मिलता ही नहीं; इस कारण यह वचन-काय उभय योग-सहचरित ही लिया जाता है; पर वचन तथा काय-योग के विषय में यह बात नहीं; वचनयोग कहीं काययोग रहित न मिलने पर भी द्वीन्द्रियादि में मनोयोग रहित मिल जाता है। इसलिये वह मनोयोग रहित लिया जाता है । काययोग एकेन्द्रिय में मन-वचन उभय योगरहित मिल जाता है । इसीसे वह वंसा ही लिया जाता है ।

मनोयोग में अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञा, ये दो जीवस्थान हैं, अन्य नहीं; क्योंकि अन्य जीवस्थानों में मनःपर्याप्त, द्रव्यमन आदि सामग्री न होने से मनयोग नहीं होता । मनोयोग में गुणस्थान तेरह है; क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में कोई भी योग नहीं होता । मनोयोग पर्याप्त-अवस्था-भावो है, इस कारण उसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कर्मण और औदारिकमिथ, इन दो को छोड़ शेष तेरह योग होते हैं । यद्यपि केवलिसमुब्धात के समय पर्याप्त-अवस्था में भी उक्त दो योग होते हैं । तथापि उस समय प्रयोजन न होने के कारण केवलज्ञानो मनोव्रथ की ग्रहण नहीं करते । इसलिये उस अवस्था में भी उक्त दो योग के साथ मनोयोग का साहचर्य नहीं घटता । मनुवाले प्राणिओं में सब प्रकार के बोध की शक्ति पायी जाती है; इस कारण मनायोग में बारह उपयोग कहे गये हैं ।

१७वीं गाथा में मनोयोग में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना है, सो वर्तमान-मनोयोग वालों को मनोयोगी मानकर । इस गाथा में मनोयोग में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय वो जीव स्थान माने हैं, सो वर्तमान-भावी उसमें मनोयोग वालों को मनोयोगी मानकर । मनोयोग सम्बन्धी गुणस्थान, योग और उपयोग के सम्बन्ध में क्रम से २२, २६, ३१वीं गाथा का जो मतलब है, इस जगह भी यही है; तथापि फिर से उल्लेख करने का मतलब सिर्फ मतान्तर को दिखाना है । मनोयोग में जीवस्थान और योग विचारने में विवक्षा भिन्न-भिन्न की गयी है । जैसे—भावी मनोयोग वाले अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को भी मनोयोगी मानकर उसे मनोयोग में गिना है । पर योग के विषय में ऐसा नहीं किया है । जो योग मनोयोग के समकालीन हैं, उन्हीं को मनोयोग में गिना है । इसी से उसमें कामण और औदारिकमिथ, ये दो योग नहीं गिने हैं ।

वचनयोग में आठ जीवस्थान कहे गये हैं । वे ये हैं:—हीन्द्रिय, त्रोन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त । इस जगह वचनयोग, मनोयोग रहित लिया गया है, सो इन आठ जीवस्थानों में ही पाया जाता है । १७वीं गाथा में सामान्य वचनयोग लिया गया है । इसलिये उस गाथा में वचनयोग में संज्ञि पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है । इसके सिवाय यह भी भिन्नता है कि उस गाथा में वर्तमान वचनयोग वाले ही वचनयोग के स्वामी विवक्षित हैं; पर इस गाथा में वर्तमान को तरह भावी वचनयोग वाले भी वचनयोग के स्वामी माने गये हैं; इसी कारण वचनयोग में वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं ।

वचनयोग में पहला, दूसरा वो गुणस्थान, औदारिक, औदारिक-मिथ, कामण और असत्स्थानुषावचन, ये चार योग; तथा मति-अज्ञान: भुत-अज्ञान, चक्षुर्वर्शन और अचक्षुर्वर्शन, ये चार उपयोग हैं ।

२२, २८ और ३१वीं गाथा में अनुक्रम से वचनयोग तेरह गुण-स्थान, तेरह योग और बारह उपयोग माने गये हैं । इस विष्मता-का कारण वही है । अर्थात् वहाँ वचनयोग सामान्यमात्र लिया गया है, पर इस गाथा में विशेष—मनोयोगरहित । पूर्व में वचनयोग में सम-कालीन योग विवक्षित हैं; इसलिये उसमें कर्मण-औदारिकमिथ-ये दो अवस्था-अवस्था भावी योग नहीं गिने गये हैं । परन्तु इस जगह सम-कालीन योग विवक्षित है । अर्थात् कर्मण और औदारिकमिथ, अवस्था-अवस्था भावी होने के कारण, पर्याप्त-अवस्था-भावी वचन योग के असम-कालीन हैं तथापि उक्त दो योग वारों को अवि-द्यत् में वचनयोग होता है । इस कारण उसमें ये दो योग गिने गये हैं ।

काययोग में सूक्ष्म और साधार, ये दो पर्याप्त तथा अपर्याप्त कुल चार जीवस्थान, पहला और दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिक मिथ, वैक्रिय, वैक्रियमिथ और कर्मण, ये पाँच योग तथा नति-अज्ञान-श्रुत-अज्ञान और अवक्षुब्धज्ञान, ये तीन उपयोग समझने चाहिये । १६, २२, २५ और ३१वीं गाथा में चौवह जीवस्थान, तेरह गुण-स्थान, पन्द्रह योग और बारह उपयोग, काययोग में बतलाये गये हैं । इस मत-मेव का तात्पर्य भी ऊपर के कथनानुसार है । अर्थात् वहाँ सामान्य काययोग को लेकर जीवस्थान आदि का विचार किया गया है, पर इस जगह विशेष । अर्थात् मनोयोग और वचनयोग, उन्मयरहित काययोग, जो एकेन्द्रिय मात्र में पाया जाता है, उसे लेकर ३३५॥



(४)—मार्गणाओं में लेश्या ।

छसु लेसासु सठाणं, एगिदिसंनिभूदगवणेषु ।

पढमा चउरो तिन्नि उ, नारयत्रिगलंगिपवणेषु ॥३६॥

षट्सु लेश्यासु स्वस्थानमेकेन्द्रियासज्जिभूदकत्तणेषु ।

प्रथमावचतस्सस्तिस्सत्तु, नारकविकलान्तिपवणेषु ॥३६॥

अर्थ—छह लेश्यामार्गणाओं में अपना-अपना स्थान है । एकेन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय, इन पाँच मार्गणाओं में पहली चार लेश्याएँ हैं । नरकगति, विकलेन्द्रिय-त्रिक, अग्निकाय और वायुकाय, इन छह मार्गणाओं में पहली तीन लेश्याएँ हैं ॥३६॥

सावार्थ—छह लेश्याओं में अपना-अपना स्थान है, इसका मतलब यह है कि एक समय में एक जीव में एक ही लेश्या होती है, वो नहीं । क्योंकि छहों लेश्याएँ समान कालकी अपेक्षा से आपस में थिकड़ हैं; कृष्ण लेश्या वाले जीवों में कृष्ण लेश्या ही होती है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए ।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच मार्गणाओं में कृष्ण से तेजः पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी जाती हैं । इनमें से पहली तीन तो भवप्रत्यय होने के कारण सदा ही पायी जा सकती हैं, पर तेजोलेइया के सम्बन्ध में यह बात नहीं; वह सिर्फ अपर्याप्त-अवस्था में पायी जाती है । इसका कारण यह है कि जब कोई तेजोलेइया वाला जीव मरकर पृथ्वीकाय जलकाय या वनस्पतिकाय में जनमता है तब उसे कुछ काल तक पूर्व जन्म की मरण-कालीन तेजोलेइया रहती है ।

नरकगति आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओं के जीवों में ऐसे अशुभ परिणाम होते हैं, जिससे कि वे कृष्ण आदि तीन लेश्याओं के सिवाय अन्य लेश्याओं के अधिकारी नहीं बनते ॥३६॥

(६)—मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व ।

[आठ गाथाओं से]

अहंस्वायसुक्ष्मकेवल,— दुगि सुक्का द्वावि सेसठाणेसु ।

नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखणंतगुणा^१ ॥ ३७॥

यथाख्यातसुक्ष्मकेवलद्विके शुक्ला षडपि शेषस्थानेषु ।

नरनिरयदेवतिर्यञ्चः, स्तोत्रद्वयसंख्यानन्तगुणाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यथाख्यातचारित्र्य, सूक्ष्मसंदरायचारित्र्य और केवल-द्विक, इन चार मार्गणाओं में शुल्कलेश्या है; शेष मार्गणास्थानों में छहों लेश्याएँ होती हैं ।

[गतिमार्गणा का अल्प-बहुत्वः—] मनुष्य सबसे कम है, नारक उससे असंख्यातगुण हैं, नारकों से देव असंख्यातगुण हैं और देवों से तिर्यञ्च अनन्तगुण हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यथाख्यात आदि उपर्युक्त चार मार्गणाओं में परिणाम इतने शुद्ध होते हैं कि जिससे उनमें शुल्कलेश्या के सिवाय अन्य लेश्या का संभव नहीं है । पूर्व गाथा में सप्तह और इस गाथा में यथाख्यातचारित्र्य आदि चार, सब मिलाकर इक्कीस मार्गणाएँ हुई ।

१—यहाँ से लेकर ४४वीं गाथा तक, चौदह मार्गणाओं में अल्प-बहुत्व का विचार है; वह प्रज्ञापना के अल्प-बहुत्व नामक तीसरे पद से उद्धृत है । है । उक्त पद में मार्गणाओं के सिवाय और भी तेरह द्वारों में अल्प-बहुत्व का विचार है । गति-विपयक अल्प-बहुत्व, प्रज्ञापना के ११६ वें पृष्ठ पर है । इस अल्प-बहुत्व का विशेष परिज्ञान करने के लिये इस गाथा की व्याख्या में, मनुष्य आदि की संख्या दिखायी गयी है, जो अनुषोणद्वार में वर्णित हैः—मनुष्य-संख्या, पृ० २०५; नारक-संख्या, पृ० १०६ असुरकुमार संख्या, पृ० २००; व्यन्तर-संख्या, पृ० २०८; ज्योतिष्क-संख्या, पृ० २०८; वैमानिक-संख्या, पृ० २५६ । यहाँ के समान पञ्चसंग्रह में थोड़ा सा वर्णन हैः—व्यन्तर-संख्या, द्वा० २, गा० १४; ज्योतिष्क-संख्या, द्वा० २, गा० १५; मनुष्य-संख्या; द्वा० २, गा० २१ ।

इनको छोड़कर, शेष इकतालीस मार्गणाओं में यहाँ सेवधार्म पायी जाती हैं। शेष मार्गणार्थ ये हैं :—

१ देवगति, १ मनुष्यगति, १ तिर्यङ्चगति, १ यज्जेन्द्रियगति, १ प्रसकाय, ३ योग, ३ श्रेय, ४ कषाय, ४ ज्ञान (मति आदि), ३ अज्ञान, ३ चारित्र (सामायिक, छेवीपस्थापनीय और परिहार-विमुक्त), १ वैश्वविरति, १ अविरति, ३ दर्शन, १ मन्व्यत्व, १ अमन्व्यत्व, ३ सम्पत्त्व (आयिक, आयोपशमिक और औपशमिक), १ सासा-वन, १ सम्पत्त्वमिध्यात्व, १ मिध्यात्व, १ सज्जित्व, १ अनाहारकत्व और १ अनाहारकत्व, कुल ४१।

[मनुष्यों, नारकों देवों और तिर्यङ्चों का परस्पर अल्प-बहुत्व, ऊपर कहा गया है, उसे ठीक-ठीक समझने के लिये मनुष्य आदि की संख्या शास्त्रोक्त^१ रीति के अनुसार विख्यायी जाती है] :—

मनुष्य, अवश्य उन्तीस अङ्ग-प्रमाण और उत्कृष्ट, असंख्यात होते हैं।

(क) जघन्यः—मनुष्यों के गर्भज और संमूर्च्छिम, ये दो भेद हैं। इनमें से संमूर्च्छिम मनुष्य किसी समय बिलकुल ही नहीं रहते, केवल गर्भज रहते हैं। इसका कारण यह है कि संमूर्च्छिम मनुष्यों की आयु, अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होती है। जिस समय, संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति में एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय का अन्तर पड़ जाता है, उस समय, पहले के उत्पन्न हुए सभी संमूर्च्छिम मनुष्य मर चुकते हैं। इस प्रकार नये संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति न होने के समय तथा पहले उत्पन्न हुए सभी संमूर्च्छिम मनुष्यों के मर चुकने पर, गर्भज मनुष्य ही रह जाते हैं, जो कम से कम नीचे-लिखे उन्तीस अङ्गों के बराबर होते हैं। इसलिये मनुष्यों की कम से कम यही संख्या हुई।

पाँचवें वर्ग के साथ छठे वर्ग को गुणने से जो उन्तीस अङ्क होते हैं, वे ही यहाँ लेने चाहिये । जैसे:—२ को २ के साथ गुणने से ४ होते हैं, यह पहला वर्ग । ४ के साथ ४ को गुणने से १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग । १६ को १६ से गुणने पर २५६ होते हैं, यह तीसरा वर्ग । २५६ को २५६ से गुणने पर ६५५३६ होते हैं, यह चौथा वर्ग । ६५५३६ को ६५५३६ से गुणने पर ४२६४६६७२६६ होते हैं, यह पाँचवाँ वर्ग । इसी पाँचवें वर्ग की संख्या को उसी संख्या के साथ गुणने से १८४४६७४४०७३७०६५१६१६ होते हैं, यह छठा वर्ग । इस छठे वर्ग की संख्या को उपर्युक्त पाँचवें वर्ग की संख्या से गुणने पर ७६२२८१६२५१४२६४३३७५६३५४३६५०३३६ होते हैं, ये उन्तीस अङ्क हुए । अथवा १ का दूना २, २ का दूना ४, इस तरह पूर्व-पूर्व संख्या को, उत्तरोत्तर दूना करने से, वे ही उन्तीस अङ्क होते हैं ।

(४) उत्कृष्टः—अब सम्पूर्णम मनुष्य पैदा होते हैं, तब वे एक साथ अधिक से अधिक असंख्यात तक होते हैं, उसी समय मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है । असंख्यात संख्या के असंख्यात भेद हैं, इनमें से जो असंख्यात संख्या मनुष्यों के लिये दृष्ट है, उसका परिचय शास्त्र में काल^१ और क्षेत्र^२, दो प्रकार से दिया गया है ।

१—समान दो संख्या के गुणनफल को उस संख्या का वर्ग कहते हैं ।
जैसे:—५ का वर्ग २५ ।

२—ये ही उन्तीस अङ्क, गर्भज-मनुष्य की संख्या के लिये अक्षरों के संकेत द्वारा गोम्मटसार-जीवकाण्ड की १५७वीं गाथा में बतलाये हैं ।

३—देखिये, परिशिष्ट 'ध' ।

४—काल से क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है । क्योंकि अंगुल-प्रमाण सूचि-श्रेणि के प्रदेशों-की संख्या असंख्यात अवसर्पिणी के समयों के बराबर मानी हुई है ।

(१) काव्यः—असंख्यात मनुष्यों और अस्मिणी के जितने समय होते हैं, मनुष्य अधिक से अधिक उतने पाये जा सकते हैं ।

(२) श्रेष्ठः—सात^१ रज्जु-प्रमाण घनीकृत लोक की अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेशों के तीसरे वर्गमूल^२ को उन्हीं के प्रथम वर्ग-मूल के साथ गुणना, गुणने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसका संपूर्ण सूचि-श्रेणि-गत प्रदेशों में भाग देना, भाग देने पर जो संख्या लब्ध होती है, एक-कम वही संख्या मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या है । यह संख्या, अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेशों की संख्या, उनके तीसरे वर्ग-मूल और प्रथम वर्गमूल की संख्या तथा संपूर्ण सूचि-श्रेणि के प्रदेशों की संख्या वस्तुतः असंख्यात ही है, तथापि उक्त मातृ-विधि से मनुष्यों की जो उत्कृष्ट संख्या दिखायी गयी है, उसका कुछ खयाल आने के लिये कल्पना करके इस प्रकार समझाया जा सकता है ।

मान लीजिये कि संपूर्ण सूचि-श्रेणि के प्रदेश ३२००००० हैं और अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेश २५६ । २५६ का प्रथम वर्गमूल १६ और तीसरा वर्गमूल २ होता है । तीसरे वर्गमूल के साथ, प्रथम वर्गमूल को गुणने से ३२ होते हैं, ३२ का ३२००००० में भाग देने पर १००००० लब्ध होते हैं; इनमें से १ कम कर देने पर, शेष बचे ९९९९९ । कल्पनानुसार यह संख्या, जो वस्तुतः असंख्यातरूप है, उसे मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या समझनी चाहिये^३ ।

“सुहृमी य होइ काजो, तत्तो सुहृमयरं हवइ जित्तं ।

अङ्गुलसेढीमित्तं, ओसपिणोड असंखेज्जा ॥३७॥”

—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ३६ ।

१—रज्जु, घनीकृत लोक, सूचि-श्रेणि और प्रतर आदि का स्वरूप पाँचवें कर्मग्रन्थ की ६७वीं गाथा से जान लेना चाहिये ।

२—जिस संख्या का वर्ग किया जाय, वह संख्या उग वर्ग का वर्ग-मूल है ।

३—मनुष्य की यही संख्या इसी रीति से गोम्मटसार-जीवकाण्ड की १५६ वीं गाथा में बतलाया है ।

नारक भी असंख्यात हैं, परन्तु नारकों की असंख्यात संख्या मनुष्यों की असंख्यात संख्या से असंख्यातगुनी अधिक है। नारकों की संख्या को शास्त्र में इस प्रकार बतलाया है:-

कास से वे असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समयों के मुख्य हैं। तथा क्षेत्र से, सात रज्जु-प्रमाण घनोक्त लोक के अङ्गुलमात्र प्रतर-क्षेत्र में जितनी सूचि-श्रेणियाँ होती हैं, उनके द्वितीय वर्ग-मूल की, उन्हीं के प्रथम वर्गमूल के साथ गुणने पर, जो गुणनफल हो उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों की संख्या और नारकों की संख्या बराबर होती है। इसकी कल्पना से इस प्रकार समझ सकते हैं।

कल्पना कीजिये, कि अङ्गुलमात्र प्रतर-क्षेत्र में २५६ सूचि-श्रेणियाँ हैं। इनका प्रथम वर्गमूल १६ हुआ और दूसरा ४। १६ की ४ के साथ गुणने से ६४ होता है। ये ६४ सूचि-श्रेणियाँ हुईं। प्रत्येक सूचि श्रेणी के ३२०००००० प्रदेशों के हिसाब से, ६४ सूचि-श्रेणियों के २०४८०००००० प्रदेश हुए, इतने ही नारक हैं।

भवनपति वेव असंख्यात हैं, इनमें से असुर कुमार का संख्या इस प्रकार बतलायी गयी है:- अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं, उनके प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश आ सकते हैं, उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर असुरकुमार की संख्या होती है। इसी प्रकार नागकुमार आदि अन्य सब भवनपति देवों की भी संख्या समझ लेनी चाहिये।

इस संख्या को समझने के लिये कल्पना कीजिये कि अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्र में २५६ प्रदेश हैं। उनका प्रथम वर्गमूल होगा १६।

१-गोम्मटसार में दी हुई नारकों की संख्या, इस संख्या से नहीं मिलती। इसके लिये देखिये, जीवकाण्ड की १५२वीं गाथा।

२-गोम्मटसार में प्रत्येक निकाय को जुदा-जुदा संख्या न देकर सब भवनपतियों की संख्या एक साथ दिखायी है। इसके लिये देखिये, जीवकाण्ड की १६०वीं गाथा।

इसकी भी कल्पना से इस प्रकार समझना चाहिये । २५६ अङ्गुल-अध्याय सूचि-श्रेणियों में ६५६६६ प्रवेश होते हैं, उनसे समस्त प्रतर के कल्पित १०२४००००००००००० को भाग देना, भागने से लब्ध हुए १५६२५०००० । यही, मान ज्योतिषी देवों का समझना चाहिये ।

वैमानिक देव, असङ्ख्यात हैं । इनकी असङ्ख्यात संख्या इस प्रकार बरसायी गयी है:—अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रवेश हैं, उनके तीसरे वर्गमूल का घन^१ करने से जितने आकाश-प्रदेश हों, उसनी सूचि-श्रेणियों के प्रवेशों के बराबर वैमानिकदेव^२ है ।

इसकी कल्पना से इस प्रकार बतलाया जा सकता है:—अङ्गुलमात्र आकाश के २५६ प्रदेश हैं । २५६ का तीसरा वर्गमूल २ । २ का घन ८ है । ८ सूचि-श्रेणियों के प्रदेश २५६००००० होते हैं; क्योंकि प्रत्येक सूचि-श्रेणियों के प्रवेश, कल्पना से ३२००००० मान लिये गये हैं । यही संख्या वैमानिकों की संख्या समझनी चाहिये ।

भवनपति, ध्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक सब देव मिलकर नारकों से असङ्ख्यातगुण होते हैं ।

देवों से तिर्यञ्चों के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि अनन्त-कायिक-वनस्पति जीव, जो संख्या में अनन्त हैं, वे भी तिर्यञ्च हैं । क्योंकि-वनस्पतिकायिक जीवों को तिर्यञ्चगतिनाम कर्म का उदय होता है ॥३७॥

१—किसी संख्या के वर्ग के साथ उस संख्या को गुणने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, वह उस संख्या का घन है^१ । जैसे:—४ का वर्ग १६- उसके साथ ४ को गुणने से ६४ होता है । यही चार का घन है ।

२—सब वैमानिकों की संख्या शीघ्रतः ही एक साथ न देखकर जुदा-जुदा दी है ।

इन्द्रिय और कायमार्गणा का अल्प-बहुत्वः—

पणवउतिदुएगिदि. थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा ।
तस थोव असांखगी, भूजलनिल अहिय वण णंता ॥३८॥

पञ्चचतुस्त्रिद्वयेकेन्द्रियाः, स्तोकास्यधोऽधिक्यं अमरतगुणाः ।

प्रसाःस्तोका असंख्या, अमरयो भूजलानिला अधिका बना अनन्ताः॥३७॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीव सबसे थोड़े हैं । पञ्चेन्द्रियों से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रियों से त्रीन्द्रिय और त्रीन्द्रियों से द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं । द्वीन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अमरतगुण हैं ।

प्रसकायिक जीव अन्य सब काय के जीवों से थोड़े हैं । इनसे अग्निकायिक जीव असंख्यात गुण हैं । अग्निकायिकों से पृथिवीकायिक, पृथिवीकायिकों से जलकायिक और जलकायिकों से वायुकायिक विशेषाधिक हैं । वायुकायिकों से वनस्पतिकायिक अनन्तगुण हैं ॥३८॥

भावार्थ—असंख्यात कोटाकोटी योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणी के जितने प्रवेश हैं, धनीकृत लोक की उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रवेशों के बराबर द्वीन्द्रिय जीव आगम में कहे गये हैं । त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्य द्वीन्द्रिय के बराबर ही कहे गये हैं ।

१—यह अल्प-बहुत्व प्रजापना में पृ० १२०—१२१ तक है । गोप्मट-सार की इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त का विशेषाधिकत्व यहाँ के समान वर्णित है ।

—जीव० गा० १७७—७८ ।

कायमार्गणा में तेजःकायिकादि का भी विशेषाधिकत्व यहाँ के समान है ।

—जीव० गा० २०३ से आगे ।

२—एक संख्या अन्य संख्या से बड़ी होकर भी जब तक दूसरी न होः सब तक वह उसे 'विशेषाधिक' कही जाती है । यथा ४ या ५ की संख्या ३ से विशेषाधिक है, पर ६ की संख्या ३ से दूसरी है, विशेषाधिक नहीं ।

इसलिये यह शङ्का होती है कि जब आगम में^१ द्वीन्द्रिय आवि जीवों की संख्या समान कही हुई है तब पञ्चेन्द्रिय आवि जीवों का उपर्युक्त अल्प-बहुत्व कैसे घट सकता है ? । इसका समाधान यह है कि असंख्यात सङ्ख्या के असङ्ख्यात प्रकार हैं । इसलिये असंख्यात कीटाकोटी योजन-प्रमाण 'सृष्टि-श्रेणी' शब्द से सब जगह एक ही असङ्ख्यात सङ्ख्या न लेकर भिन्न-भिन्न लेनी चाहिये । पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के परिमाण की असङ्ख्यात सङ्ख्या इतनी छोटी ली जाती है कि जिससे अन्य सब पञ्चेन्द्रियों को मिलाने पर भी कुल पञ्चेन्द्रिय जीव चतुर्न्द्रियों की अपेक्षा कम ही होते हैं । द्वीन्द्रियों से एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण इसलिये कहे गये हैं कि साधारण वनस्प-तिकाय के जीव अनन्तानन्त हैं, जो सभी एकेन्द्रिय हैं ।

सब प्रकार के उस घनीकृत लोक के एक प्रतर के प्रदेशों के बराबर भी नहीं होते और केवल तेजः कायिक जीव, असङ्ख्यात लोका-काश के प्रदेशों के बराबर होते हैं । इसी कारण उस सबसे थोड़े और तेजः कायिक उनसे असङ्ख्यातगुण माने जाते हैं । तेजः कायिक, पृथिवीकायिक, अलकायिक और वायुकायिक, ये सभी सामान्यरूप से असंख्यात लोकाकाश-प्रवेश-प्रमाण आगम में^२ माने गये हैं । तथापि इनके परिमाण सम्बन्धी असङ्ख्यात सङ्ख्या भिन्न-भिन्न समझनी चाहिये । वायुकायिक जीवों से वनस्पतिकायिक इसलिये अनन्तगुण कहे गये हैं कि निगोब क जीव अनन्त लोका-काश-प्रवेश-प्रमाण हैं, जो वनस्पतिकायिक हैं ॥३८॥

१—अनुयोग द्वार-सूत्र, पृ० २०३, २०४ ।

२—अनुयोग द्वार, पृ० २६०

योग और वेदमार्गणा का अल्प-बहुत्व^१ ।

मणवयनकाययोगा, थोड़ा असंख्यगुण अनंतगुणा ।
पुरस्ता थोड़ा इत्थी संख्यगुणानंतगुण कीचा ॥३६॥

मनोवचनकाययोगाः, स्तोका असंख्यगुणा अनन्तगुणाः ।
पुरुषाः स्तोकाः स्त्रियाः, सङ्ख्यगुणा अनन्तगुणाः कीत्वाः ॥३६॥

अर्थ—मनोयोगवाले अन्य योगवालों से थोड़े हैं । वचनयोग वाले उनसे असंख्यातगुण और काययोगवाले वचनयोग वालों से अनन्तगुण हैं ।

पुरुष सबसे थोड़े हैं । स्त्रियाँ पुरुषों से सङ्ख्यातगुण और नपुंसक स्त्रियों से अनन्तगुण हैं ॥३६॥

भावार्थ—मनोयोग वाले अन्य योगवालों से इसलिये थोड़े माने गये हैं कि मनोयोग संजी जीवों में ही पाया जाता है । और संजी जीव अन्य सब जीवों से अल्प ही हैं । वचनयोग वाले मनोयोग वालों से असंख्यगुण कहे गये हैं । इसका कारण यह है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये सभी वचनयोग वाले हैं । काययोग वाले वचनयोगियों से अनन्तगुण इस अभिप्राय से कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा वचनयोगी के अतिरिक्त एकैन्द्रिय भी काययोग वाले हैं ।

तिर्यञ्च-स्त्रियाँ तिर्यञ्च पुरुषों से तीन गुनी और तीन अधिक होती

१—यह अल्प-बहुत्व, प्रजापता के १३४वें पृष्ठ में है । गोम्मटसार में पन्द्रह योगों को लेकर संख्या का विचार किया है । देखिये, जीव० गा० २५८—२६६ ।

वेद-विषयक अल्प-बहुत्व का विचार भी उसमें कुछ भिन्न प्रकार से है । देखिये, जीव० गाथा० २७३—२८० ।

हैं। मनुष्य-स्त्रियाँ मनुष्य जाति के पुरुषों से सत्ताईसगुनी^१ और सत्ताईस अधिक होती हैं। देवियाँ देवों से बत्तीसगुनी^२ और बत्तीस अधिक होती हैं। इसी कारण पुरुषों से स्त्रियाँ संख्यातगुण मानी हुई हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और नारक, ये सब नपुंसक ही हैं। इसी से नपुंसक स्त्रियों की अपेक्षा अनन्तगुण माने हुए हैं ॥ ३६ ॥

कषाय, ज्ञान, संशय और दर्शनमार्गणाओं का अल्प-बहुत्वः—
[तीन गाथाओं से]

माणी कोहो माई, लोहो अहिय मणनाणिनो थोवा ।

ओहि अस खा मइसुय, अहियसम असंख विठभंगा ॥४०॥

मानिनः क्रोधिनो मायिनो, लोभिनोऽधिका मनोज्ञानवः स्तोकाः ।

अवधयोऽसंख्या मतिश्रुता, अधिकास्समा असंख्या विमज्जा ॥४०॥

अर्थ—मानकषायवाले अन्य कषायवालों से थोड़े हैं। क्रोधी मानियों से विशेषाधिक हैं। मायावी क्रोधियों से विशेषाधिक हैं। लोभी मायावियों से विशेषाधिक हैं।

मनःपर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियों से थोड़े हैं। अवधितानी मनःपर्यायज्ञानियों से असंख्यगुण हैं। मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी आपस में तुल्य हैं। परन्तु अवधिज्ञानियों से विशेषाधिक ही है। विमज्जज्ञानी श्रुतज्ञानवालों से असंख्यगुण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—मान वाले क्रोध आवि अन्य कषाय वालों से कम हैं, इसका कारण यह है कि मान की स्थिति क्रोध आवि अन्य कषायों की स्थिति की अपेक्षा अल्प है। क्रोध मान की अपेक्षा अधिक देर तक ठहरता है। इसी से क्रोध वाले मानियों से अधिक हैं। माया की स्थिति क्रोध की स्थिति से अधिक है तथा वह क्रोधियों की अपेक्षा

१—देखिये, पञ्चसंग्रह द्वा० २, गा० ६५ ।

२—देखिये, पञ्चसंग्रह द्वा० २, गा० ६८ ।

अधिक जीवों में पायी जाती है। इसी से मायावियों को अधियों की अपेक्षा अधिक कहा है। मायावियों से लोभियों को अधिक कहने का कारण यह है कि लोभ का उदय वसवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है, पर माया का उदय नववें गुणस्थान तक ही है।

जो जीव मनुष्य-देहधारी, संयम वाले और अनेक-लब्धि-सम्पन्न हों उनको ही मनःपर्यायज्ञान होता है। इसी से मनःपर्यायज्ञानी अथ सब ज्ञानियों से अल्प हैं सम्यक्तवी कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को और सम्यक्तवी सब देव-नारकों को अवधिज्ञान होता है। इसी कारण अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानियों से असंख्यगुण हैं। अवधिज्ञानियों के अतिरिक्त सभी सम्यक्तवी मनुष्य-तिर्यञ्च मति-श्रुत-ज्ञान वाले हैं। अतएव मति-श्रुत-ज्ञानी अवधिज्ञानियों से कुछ अधिक है। मति-श्रुत दोनों, नियम से सहचारी हैं, इसी से मति-श्रुत-ज्ञान वाले आपस में तुल्य हैं। मति-श्रुत-ज्ञानियों से विभङ्गज्ञानियों के असंख्यगुण होंगे-का कारण यह है कि सिद्धादृष्टि वाले देव-नारक, जो कि विभङ्ग-ज्ञानी ही हैं, वे सम्यक्तवी जीवों से असंख्यातगुण हैं ॥ ४० ॥

केवलिनोऽनन्तगुणाः, मदसुख अस्त्राणि णंतगुण तुल्ला ।

सुदुमा थोका परिहार-र संख अहलाय संखगुणा ॥४१॥

केवलिनोऽनन्तगुणाः, मतिश्रुताऽज्ञानिनोऽनन्तगुणास्तुल्याः ।

सूक्ष्माः स्तोकाः परिहाराः संख्या यथाख्याताः संख्यगुणाः ॥४१॥

अर्थ—केवलज्ञानी विभगज्ञानियों से अनन्तगुण हैं। मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी, ये दोनों आपस में तुल्य हैं; परन्तु केवल-ज्ञानियों से अनन्तगुण हैं।

सूक्ष्मसम्परायचारित्र वाले अन्य चारित्र वालों से अल्प हैं। परिहारविशुद्ध चारित्र वाले सूक्ष्मसम्पराय चारित्रियों से संख्यात गुण हैं। यथाख्यात चारित्र वाले परिहार विशुद्ध चारित्रियों से संख्यात गुण हैं।

भाषार्थ—सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलज्ञानी हैं, इसी से केवलज्ञानी विभङ्गज्ञानियों से अनन्तगुण हैं। वनस्पतिक कायिक जीव

सिद्धों से भी अनन्त गुण हैं और वे सभी मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी ही हैं । अत एव मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी, दोनों का केवल ज्ञानियों से अनन्तगुण होना संगत है । मति और श्रुत-ज्ञान की तरह मति और श्रुत-अज्ञान, नियम से सहचारी हैं, इसी से मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी आपस में तुल्य है ।

सूक्ष्मसंपराय चारित्र्यो उत्कृष्ट दो सौ से नौ सौ तक, परिहार-विशुद्ध चारित्र्यो उत्कृष्ट दो हजार से नौ हजार तक और यथाख्यात-चारित्र्यो उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ करोड़ तक हैं । अत एव इन तीनों प्रकार के चारित्रियों का उत्तरोत्तर संख्यात गुण अल्प-बहुल्य माना गया है ॥४१॥

छेयसमर्पय संख्या, देस असंख्यगुण णंतगुण अजया ।

धोयअसंख्यदुणंता, ओहिनेयणकेवलअचखू ॥४२॥

छेदसामाधिकाः संख्याः, देशा असंख्यगुणा अनन्तगुणा अयताः ।

स्तोकाऽसंख्यदुणन्तान्ताऽनन्तधियन केतनाचखूणि ॥४२॥

अर्थ—छेदोपस्थापनीय चारित्र्य वाले यथाख्यात चारित्रियों से संख्यात गुण हैं । सामायिक चारित्र्य वाले छेदोपस्थापनीय चारित्रियों से संख्यात गुण है । अक्षिरित्त वाले देशविरतों से अनन्त गुण हैं ।

अवधिदर्शनी अन्य सब दर्शन वालों से है । अक्षुर्दर्शनी अवधिदर्शन वालों से असंख्यात गुण हैं । केवलदर्शनी अक्षुर्दर्शन वालों से अनन्तगुण हैं । अक्षुर्दर्शनी केवल दर्शनियों से भी अनन्तगुण हैं ।

भावार्थ—यथाख्यात चारित्र्य वाले उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ करोड़ तक होते हैं; छेदोपस्थापनीय चारित्र्य वाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़ से नौ सौ करोड़ तक और सामायिक चारित्र्य वाले उत्कृष्ट दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते हैं । इसी कारण ये उपर्युक्त रीति से संख्यातगुण माने गये हैं । तिर्यञ्च भी देशविरत होते हैं; ऐसे तिर्यञ्च असंख्यात होते हैं । इसी से सामायिक चारित्र्य-वालों से देशविरति वाले असंख्यातगुण कहे गये हैं । उक्त चारित्र्य-

बालों को छोड़ अन्य सब जीव अविरत हैं, जिनमें अनन्तानन्त वनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है। इसी अभिप्राय से अविरत जीव वेषविरति वासों की अपेक्षा अनन्तगुण माने गये हैं।

बेशों, नारकी तथा कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को ही अवधिदर्शन होता है। इसी से अन्य दर्शनवालों की अपेक्षा अवधिदर्शनी अल्प है। चक्षुर्वर्शन, चतुरिग्निय, अर्धांश-पञ्चेन्द्रिय और सञ्जि-पञ्चेन्द्रिय, इन तीनों प्रकार के जीवों में होता है। इसलिये चक्षुर्वर्शन वाले अवधिदर्शनियों की अपेक्षा असंख्यातगुण कहे गये हैं। सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलदर्शनी हैं, इसी से उनकी संख्या चक्षुर्वर्शनियों की संख्या से अनन्तगुण है। अचक्षुर्वर्शन सभी संसारी जीवों में होता है, जिनमें अकेले वनस्पतिकायिक जीव ही अनन्तानन्त है। इसी कारण अचक्षुर्वर्शनी को केवलदर्शनियों से अनन्तगुण कहा है।

लेश्या आदि पांच मागणाओं का अल्प-बहुत्व^१।

[दो मागणाओं से ।]

पञ्छाणुव्विलेसा, थोवा दो संख गंत दो अहिया ।

अभविपर थोवणंता, सासण थावोवसम संखा ॥४३॥

पञ्चानुपूर्व्या लेश्याः, स्तोका द्वे संख्ये अनन्ता त्वे अधिके ।

अभवेतराः स्तोकातन्तराः, सासादना स्तोका उपशमाः संख्याः ॥४३॥

अर्थ—लेश्याओं का अल्प-बहुत्व पञ्चानुपूर्व्या से—पीछे की ओर से—जानना चाहिये। जैसे—शुक्ललेश्यावाले, अन्य सब लेश्यावालों से अल्प हैं। पद्मलेश्यावाले, शुक्ललेश्यावालों से संख्यातगुण हैं। तेजोलेश्यावाले, पद्मलेश्यावालों से संख्यातगुण हैं। तेजोलेश्यावालों से कापोतलेश्यावाले अनन्तगुण हैं। कापोतलेश्यावालों से नीललेश्यावाले विशेषाधिक हैं। कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावालों से भी विशेषाधिक हैं।

अमव्य जीव, भव्य जीवों से अल्प हैं। भव्य जीव, अभव्य जीवों की अपेक्षा अनन्तगुण हैं।

१—लेश्या का अल्प-बहुत्व प्रज्ञापना पृ १३४ ३४२ भव्य मार्गणा का पृ १३६

सासावनसम्पद्दृष्टिवाले, अन्य सब दृष्टिवालों से कम हैं । औपशमिकसम्पद्दृष्टि वाले, सासावन सम्पद्दृष्टि वालों से संख्यात-गुण हैं ॥४३॥

भावार्थ—लागतक देवलोक से लेकर अनुत्तरविमान तक के वैमानिकदेवों की तथा गर्भ-जन्य संख्यातवर्ष आयुवाले कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों को शूलकलेश्या होती है । पद्मलेश्या, सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिकदेवों की और गर्भ-जन्य संख्यात वर्ष आयु वाले कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चों की होती है । तेजोलेश्या, बाबर पृथ्वी, जल और वनस्पति-कारिण जीवों की, कुछ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च-मनुष्य, भवनपति और व्यन्तरीयों की, व्यन्तरीयों की तथा अल्प-बहुत्व कल्प के वैमानिकदेवों की होती है । सब पद्मलेश्या वाले मिलाकर सब शूलकलेश्यावालों की अपेक्षा संख्यातगुण हैं । इसी तरह सब तेजोलेश्यावाले मिलाये जायें तो सब पद्मलेश्यावालों से संख्यातगुण ही होते हैं । इसी से इनका

संज्ञिमार्गणा का पृ० १३६ और आहारकमार्गणा का पृ० १३६ पर है । अल्प-बहुत्व पद में सम्पत्त्वमार्गणा का जो अल्प-बहुत्व पृ० १३६ पर है, वह संक्षिप्तमात्र है ।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ५३६ से लेकर ५४१ वीं तक की गाथाओं में जो लेश्या का अल्प-बहुत्व द्रव्य, श्रेय, काल आदि को लेकर बतलाया गया है, वह कहीं-कहीं यहाँ से मिलता है और कहीं-कहीं नहीं मिलता ।

भव्यमार्गणा में अव्यय की संख्या उसमें कर्मग्रन्थ की तरह जघन्य-युक्तान्त कही हुई है ।

—जी० गा० ५५६ ।

सम्पत्त्व, संज्ञी और आहारकमार्गणा का अल्प-बहुत्व उसमें वर्णित है ।

—जी० गा० ६५६—६५८—६६२—६७० ।

अल्प-बहुत्व संख्यातगुण कहा है। कापोतलेश्या, अनन्तवनस्पतिका-यिक जीवों को होती है, इसी सबब से कापोतलेश्यावाले तेजोलेश्या-वालों से अनन्तगुण कहे गये हैं। नीललेश्या, कापोतलेश्या वालों से भी अधिक

१—लान्तक से लेकर शृगुः विमान तक के दैवामित्तियों की अपेक्षा सनत्कुमार से लेकर ब्रह्मलोक तक के वैमानिकदेव असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार सनत्कुमार आदि के वैमानिक देवों की अपेक्षा केवल ज्योतिषदेव ही असंख्यात गुण है। अत एव यह सङ्का होता है कि पद्मलेश्या वाले शुक्लेश्या वालों से और तेजोलेश्या वाले पद्मलेश्या वालों से असंख्यातगुण न मानकर संख्यातगुण क्यों माने जाते हैं ?

इसका समाधान इतना ही है कि पद्मलेश्या देव शुक्ललेश्या वाले देवों से असंख्यातगुण है सही, पर पद्मलेश्या वाले देवों की अपेक्षा शुक्ललेश्या वाले तिर्यञ्च असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार पद्मलेश्या वाले देवों से तेजोलेश्या वाले देवों के असंख्यातगुण होने पर भी तेजलेश्या वाले देवों से पद्मलेश्यावाले तिर्यञ्च असंख्यातगुण है। अत एव सब शुक्ललेश्या वालों से सब पद्मलेश्यावाले इनसे सब तेजोलेश्यावाले संख्यातगुण ही होते हैं। सारांश, केवल देवों की अपेक्षा शुक्ल आदि उक्त तीन लेश्याओं का अल्प-बहुत्व विचारा जाता, तब ही असंख्यातगुण कहा जाता; परन्तु यह अल्प-बहुत्व सामान्य जीवराशि का लेकर कहा गया है और पद्मलेश्यावाले देवों से शुक्ललेश्यावाले तिर्यञ्चों की तथा तेजोलेश्यावाले देवों से पद्मलेश्यावाले तिर्यञ्चों की संख्या इतनी बड़ी है; जिससे कि उक्त संख्यातगुण ही अल्प-बहुत घट सकता है।

श्रीजयसमोसूरि ने शुक्ललेश्या से तेजोलेश्या तक का अल्प-बहुत्व असंख्यातगुण लिखा है; क्योंकि उन्होंने गाथा-गत 'दो संख्या' पद के स्थान में 'दोऽसंख्या' का पाठान्तर लेकर व्याख्या की है और अपने टिप्पे में यह भी लिखा है कि किसी-किसी प्रति में 'दो संख्या' का पाठान्तर है, जिसके अनुसार संख्यातगुण का अल्प-बहुत्व समझना चाहिये, जो सुझोंकी विचारणीय है।

'दोऽसंख्या' यह पाठान्तर वास्तविक नहीं है। 'दो संख्या' पाठ ही तथ्य है। इसके अनुसार संख्यातगुण अल्प-बहुत्व का साङ्का-समाधान-पूर्वक विचार, सुज्ञ श्रीमलवगिरिसूरि ने प्रजापता के अल्प-बहुत्व तथा लेश्यापद की अपनी बुद्धि में बहुत स्पष्ट रीति से किया है।—पृ० १३१, १३२।

जीवों में होती है; क्योंकि नीललेइया कापोत की अपेक्षा क्लिष्टतर अध्व-
वसायरूप और कृष्णलेइया नीललेइया से क्लिष्टतम अध्ववसायरूप है ।
गण देखा जाता है कि क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम परिणामवाले
जीवों की संख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती है ।

मध्य जीव, अभव्य जीवों की अपेक्षा अनन्तगुण हैं; क्योंकि अभव्य-
जीव 'अध्वन्ययुक्त' नामक चीथो अनन्तसंख्या-प्रमाण हैं, पर मध्य
जीव अनन्तानन्त हैं ।

औपशमिकसम्यक्तव को त्याग कर जो जीव मिथ्यात्व की ओर
झुकते हैं, उन्हीं को सासावनसम्यक्तव होता है, दूसरों को नहीं ।
इसी से अध्व सब दृष्टिवालों से सासावनसम्यग्दृष्टिवाले कम ही
पाये जाते हैं । जितने जीवों को औपशमिकसम्यक्तव प्राप्त होता है, वे
सभी उस सम्यक्तव को ब्रह्म कर मिथ्यात्व के अभिमुख नहीं होते,
किन्तु कुछ ही होते हैं; इसी से औपशमिकसम्यक्तव से गिरने वालों की
अपेक्षा उसमें स्थिर रहने वाले संख्यातगुण पाये जाते हैं ॥ ४३ ॥

मीसा संखा वेयग, असंखगुण खड्यमिच्छ वु अणंता ।

संनियर थोव णंता, -णहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

मिश्रा: सख्या वेदका, असंखगुणा: क्षायिकमिच्छा द्वावनन्ती ।

संजीतरे स्तोकावन्ता, अनाहारका: स्तोका इतरेऽसंख्या: ॥ ४४ ॥

अर्थ—मिश्रदृष्टिवाले, औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालों से संख्यात-
गुण हैं । वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टिवाले जीव, मिश्रदृष्टिवालों से
असंख्यातगुण हैं । क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीव, वेदकसम्यग्दृष्टि-
वालों से अनन्तगुण हैं । मिथ्यादृष्टिवाले जीव, क्षायिकसम्यग्दृष्टि-
वाले जीवों से भी अनन्तगुण हैं ।

संज्ञी जीव, असंज्ञी जीवों की अपेक्षा कम हैं और असंज्ञी जीव, उनसे अनन्तगुण हैं। अनाहारक जीव, आहारक जीवों की अपेक्षा कम हैं और आहारक जीव, उनसे असंख्यातगुण हैं ॥४४॥

भावार्थ—मिश्रदृष्टि पाने वाले जीव दो प्रकार के हैं। एक तो वे, जो पहले गुणस्थान को छोड़कर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं और दूसरे वे, जो सम्यग्दृष्टि से व्युत्पन्न होकर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं। इसी से मिश्रदृष्टिवाले औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालों से संख्यातगुण हो जाते हैं। मिश्रसम्यग्दृष्टिवालों से क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिवालों के असंख्यातगुण होने का कारण यह है कि मिश्रसम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति बहुत अधिक है; मिश्रसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही होती है, पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागरोपमकी। क्षायिकसम्यक्त्वकी क्षायोपशमिकसम्यक्त्वियों से अनन्तगुण हैं; क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं और वे सब क्षायिकसम्यक्त्वों की हैं। क्षायिकसम्यक्त्वियों से भी मिथ्यात्वियों के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि सब वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यात्वों की हैं और वे सिद्धों से भी अनन्तगुण हैं।

देव, नारक, गर्भज-मनुष्य तथा गर्भज-तिर्यङ्म हो संज्ञी हैं, शेष सब संसारी जीव असंज्ञी हैं, जिनमें अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है; इसीलिये असंज्ञी जीव संज्ञियों की अपेक्षा अनन्तगुण कहे जाते हैं।

विग्रहमति में वर्तमान, केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वर्तमान, चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान और सिद्ध वे सब जीव अनाहारक हैं; शेष सब आहारक हैं। इसी से अनाहारकों की अपेक्षा आहारक जीव असंख्यातगुण कहे जाते हैं। वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुण हैं और वे सभी संसारी होने के कारण आहारक हैं। अब एव यह शङ्का होती है कि आहारक

जीव, अनाहारकों की अपेक्षा अनन्तगुण होने चाहिये, असंख्य- गुण कैसे ?

इसका समाधान यह है कि एक-एक निमीष-गीलक में अनन्त जीव होते हैं; इनका असंख्यातवाँ भाग प्रतिसमय मरता और विग्रहगति में वर्तमान रहता है । ऊपर कहा गया है कि विग्रहगति में वर्तमान जीव अनाहारक ही होते हैं । ये अनाहारक इतने अधिक होते हैं, जिससे कुल आहारक जीव, कुल अनाहारकों की अपेक्षा अनन्तगुण कभी नहीं होने पाते, किन्तु असंख्यातगुण ही रहते हैं ॥४४॥



द्वितीयाधिकार के परिशिष्ट ।



परिशिष्ट 'ज' ।

पृष्ठ १२, पङ्क्ति २३ के 'योगमार्गणा' शब्द पर—

तीन योगों के बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखा कर उनकी व्याख्या राजवार्तिक में बहुत ही स्पष्ट की गई है । उसका सारांश इस प्रकार है:—

(क) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से होने वाला जो मनन के अभि-
मुख आत्मा का प्रवेश-परिस्पन्द, वह 'मनोयोग' है । इसका बाह्य कारण
मनोवर्गणा का आलम्बन और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-
क्षयोपशम तथा नो-इन्द्रियावरणकर्म का क्षय-क्षयोपशम (मनोलब्धि) है ।

(ख) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य आत्मा का भाषाभिमुख प्रवेश
परिस्पन्द वचन-योग है । इसका बाह्य कारण पुद्गलविषाकी शरीरनामकर्म
के उदय से होने वाला वचनवर्गणा का आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण
वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञाना-
वरण आदि कर्म वा क्षय-क्षयोपशम (वचनलब्धि) है ।

(ग) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य गमनादि-विषयक आत्मा का
प्रवेश-परिस्पन्द 'काययोग' है । इसका बाह्य कारण किसी-न किसी प्रकार
की शरीरवर्गणा का आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का
क्षय-क्षयोपशम है ।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें, इन दोनों गुणस्थानों के समय वीर्यान्त-
रायकर्म का क्षयरूप आभ्यन्तर कारण समान ही है, परन्तु वर्गणालम्बनरूप
बाह्य कारण गमान नहीं है । अर्थात् वह तेरहवें गुणस्थान के समय पाया
जाता है, पर चौदहवें गुणस्थान के समय नहीं पाया जाता । इसी से तेरहवें
गुणस्थान में योग-विधि होती है, चौदहवें नहीं । इसके लिये देखिये, तत्त्वार्थ-
अध्याय ६, सू० १, राजवार्तिक १० ।

योग के विषय में शङ्का-समाधान:—

(क) यह शङ्का होती है कि मनोयोग और वचनयोग, काययोग ही
हैं; क्योंकि इन दोनों योगों के समय, शरीर का व्यापार अवश्य रहता ही

है और इन योगों के आलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषाद्रव्य का ग्रहण भी किसी-न किसी प्रकार के शारीरिक-योग से ही होता है।

“इसका समाधान यही है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोग से जुदा नहीं हैं; किन्तु काययोग-विशेष ही है। जो काययोग मनन करने में सहायक होता है, वही उस समय ‘मनोयोग’ और जो काययोग, भाषा के बोलने में सहायक होता है, वही उस समय ‘वचनयोग’ माना गया है। सारांश यह है कि व्यवहार के लिये ही काययोग के तीन भेद किये हैं।

(ख) यह भी शङ्का होती है कि उक्त रीति से श्वासोच्छ्वास में सहायक होने वाले काययोगको ‘श्वासोच्छ्वासयोग’ कहना चाहिये और तीन की जगह चार योग मानने चाहिये।

इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहार में, जैसा भाषा का और मन का विशिष्ट प्रयोजन दीखता है, वैसा श्वासोच्छ्वास और शरीर का प्रयोजन वैसा भिन्न नहीं है, जैसा शरीर और मन-वचन का। इसी से तीन ही योग माने गये हैं? इस विषय के विशेष विचार के लिये विशेषा-वश्यक-भाष्य, पृ० ३५६-३६४ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लो० १३५४-१३५५ के बीच का गद्य देखना चाहिये।

द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीर का स्वरूपः—

(क) जो पुद्गल मन बनने के योग्य हैं, जिनको शास्त्र में ‘मनोवर्गणा’ कहते हैं वे जब मनरूप में परिणत हो जाते हैं—विचार करने में सहायक हो सकें, ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें ‘मन’ कहते हैं। शरीर में द्रव्यमन के रहने का कोई खास स्थान तथा उसका नियत आकार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में नहीं है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार द्रव्यमन को शरीर-व्यापी और शरीराकार समझना चाहिये। दिगम्बर-सम्प्रदाय में उसका स्थान “हृदय तथा आकार” कमल कासा माना है।

(ख) वचन रूप में परिणत एक प्रकार के पुद्गल, जिन्हें भाषा-वर्गणा कहते हैं, वे ही ‘वचन’ कहलाते हैं।

(ग) जिससे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि हो सकता है, जो सुख-दुःख भोगने का स्थान है और जो औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओं से बनता है, वह ‘शरीर’ कहलाता है।



परिशिष्ट "अ" ।

पृष्ठ ६५, पङ्क्ति ८ के 'सम्यक्तत्वं' शब्दपर—

उसका स्वरूप, विशेष प्रकार से जानने के लिये निम्नलिखित कुछ बातों का विचार करना बहुत उपयोगी है:—

(१) सम्यक्तत्वं सहेतुक है या निहेतुक ?

(२) क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार क्या है ?

(३) औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्तत्वं का आपस में अन्तर तथा क्षायिक-सम्यक्तत्वं की विशेषता ।

(४) अकूटा-समाधान, विपाकौदय और प्रदेशोदय का स्वरूप ।

(५) क्षायोपशम और उपयमकी व्याख्या तथा खुलासाधार विचार ।

(१)—सम्यक्तत्वं-परिणाम सहेतुक है या निहेतुक ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसको निहेतुक नहीं मान सकते; क्योंकि जो वस्तु निहेतुक हो, वह सब काल में, सब जगह एक ही हानी चाहिये अथवा उसका अभाव होना चाहिये । सम्यक्तत्वं-परिणाम, न तो सबमें समान है और न उसका अभाव है । इसलिये उसे सहेतुक ही मानना चाहिये । सहेतुक मान लेने पर वह प्रश्न होता है कि उसका नियत हेतु क्या है; प्रवचन-श्रवण, भगवत्पूजन आदि जो-जो बाह्य निमित्त माने जाते हैं, वे तो सम्यक्तत्वं के नियम ही ही नहीं सकते; क्योंकि इन बाह्य निमित्तों के होते हुए भी अभव्यों की तरह अनेक भयों को सम्यक्तत्वं-परिणाम प्रकट होने में नियत कारण जीवका तथाविध भव्यत्व-स्वभाव अनादि परिणामिक-स्वभाव विशेष ही है । जब इस परिणामिक भव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्तत्वं-लाभ होता है । भव्यत्व-परिणाम साध्य रोग के समान है । कोई साध्य रोग, स्थयमेव (बाह्य उपाय के बिना ही) शान्त हो जाता है । किसी साध्य रोग के शान्त होने में वैद्य का उपचार भी दरकार है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है, जो बहुत दिनों के बाद मिटता है । भव्यत्व-स्वभाव ऐसा ही है ! अनेक जीवों का भव्यत्व, बाह्य निमित्त के बिना ही परिपाक प्राप्त करता है । ऐसे भी जीव हैं, जिनके भव्यत्व-स्वभाव का परिपाक होने में शास्त्र-श्रवण आदि बाह्य निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है । और अनेक जीवों का भव्यत्व-परिणाम दीर्घ-काल ध्येय हो चुकने पर स्वयं ही परिपाक प्राप्त करता है । शास्त्र-श्रवण, अर्हत्पूजन आदि जो बाह्य निमित्त हैं, वे सहायकी मात्र हैं । उनके द्वारा कभी-कभी भव्यत्व का परिपाक होने में मदद मिलती है, इसी से व्यवहार में वे सम्यक्तत्वं के कारण माने गये हैं और उनके आलम्बन की आवश्यकता दिखायी जाती है । परन्तु निश्चय-दृष्टि से तथाविध-भव्यत्व के विपाक को ही सम्यक्तत्वं का

अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिये । इससे वास्त्र-श्रवण, प्रतिमा-पूजन आदि बाह्य क्रियाओं की अनैकान्तिकता, जो अधिकारी भेद पर अवलम्बित है, उसका ख़ुलासा हो जाता है । यही भाव, भगवान् उमास्वाति ने 'तन्त्रिसर्गादधिगमाद्धा'—तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र ३ से प्रकट किया है और यही बात पञ्चसंग्रह-द्वार १, भाग को मलयगिरि टीकामें भी है ।

(२)—सम्यक्त्व गुण, पकट होने के आध्यात्मिक कारणों की जो विशिष्टता है, वही क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार है—अनन्तानुबन्धि चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका; उपशम, औपशमिकसम्यक्त्वका और क्षय, क्षायिकसम्यक्त्वका कारण है । तथा सम्यक्त्व से मिरा कर मिथ्यात्व की ओर झुकानेवाला अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय, सासादनसम्यक्त्वका कारण और मिथ्यमोहनीय का उदय, मिथ्यसम्यक्त्वका कारण है । औपशमिकसम्यक्त्वमें काललब्धि आदि अन्य क्या-२ निमित्त अपेक्षित हैं और वह किस-२ गति में निन-२ कारणों से होता है, इसका विशेष वर्णन तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका वर्णन क्रमशः—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ३ के ११ और २२ राजवर्तिक में तथा सू० ४ और ५ के ७वें राजवर्तिक में है ।

(३)—औपशमिकसम्यक्त्व के समय, दर्शनमोहनीय का किसी प्रकार का उदय नहीं होता; पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के समय, सम्यक्त्व मोहनीयका विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय का प्रदेशोदय होता है । इसी भिन्नता के कारण शास्त्र में औपशमिकसम्यक्त्व को, 'भावसम्यक्त्व' और क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको, 'प्रव्यसम्यक्त्व' कहा है । इन दोनों सम्यक्त्वों से क्षायिकसम्यक्त्व विशिष्ट है; क्योंकि वह स्थायी है और ये दोनों अस्थायी हैं ।

(४)—यह शङ्का होती है कि मोहनीयकर्म वातिकर्म है । वह सम्यक्त्व और चारित्रपर्याय का घात करता है, इसलिये सम्यक्त्वमोहनीय के विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय के प्रदेशोदय के समय, सम्यक्त्व-परिणाम व्यक्त कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय, मोहनीयकर्म है सही, पर उसके दलिक विशुद्ध होते हैं ; क्योंकि शुद्ध अव्यवसाय से जब मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के दलिकों का सर्वघाती रस नष्ट हो जाता है, तब वे ही एक-ध्यान रसवाले और द्विस्थान अतिमन्त्र रसवाले दलिक 'सम्यक्त्वमोहनीय' कहलाते हैं । जैसे—काँच आदि पारदर्शक वस्तुएँ नेत्र दर्शन-कार्य में रुकावट नहीं डालती, वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिकों का विपाकोदय सम्यक्त्व-परिणाम के आविर्भाव में प्रतिबन्ध नहीं

करता । अब रहा मिथ्यात्व का प्रदेशोदय, सो वह भी, सम्बन्ध-परिणाम का प्रतिबन्धक नहीं होता; क्योंकि नीरस दलिकों का ही प्रदेशोदय होता है । जो दलिक, मन्द रसवाले हैं, उनका विपाकोदय भी, जब गुण का घात नहीं करता, तब नीरस दलिकों के प्रदेशोदय से गुण के घात होने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती । देखिये, पञ्चसंग्रह-द्वारा १, १५वीं पाथा की टीका में भारद्वाज गुणस्थान की व्याख्या ।

(५)—अयोपशम-जन्य पर्याय 'क्षयोपशमिक' और उपशम-जन्य पर्याय 'औपशमिक' कहलाता है । इसलिये किसी भी क्षयोपशमिक और औपशमिक भाव का यथार्थ ज्ञान करने के लिये पहले क्षयोपशम और उपशमका ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है । अतः इसका स्वरूप शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार लिखा जाता है:—

(क) अयोपशम मन्द में दो पद हैं:—अय तथा उपशम । 'क्षयोपशम' शब्द का मतलब, कर्म के अय और उपशम दोनों से है । अय का मतलब आत्मा से कर्म का विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाना और उपशम का मतलब कर्म का अपने स्वरूप में आत्मा के साथ संलग्न रह कर भी उसपर असर न डालना है । यह तो हुआ सामान्य अर्थ; पर, उसका पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है । अवलंबिका पूर्ण हो जाने पर किसी विवक्षित कर्म का अब अयोपशम शुरू होता है, तब विवक्षित वर्तमान समय से अवलंबिका पर्यन्त के दलिक, जिन्हें उदयावलिका-प्राप्त या उदीर्ण-दलिक कहते हैं, उनका तो प्रदेशोदय व विपाकोदयद्वारा क्षय (अभाव) होता रहता है; और जो दलिक, विवक्षित वर्तमान समय से अवलंबिका तक में उदय पाने योग्य नहीं हैं—जिन्हें उदयवलिका बहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक कहते हैं—उनका उपशम (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रससे मन्द रस में परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक, अपनी उदयावलिका प्राप्त होने पर, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदयद्वारा क्षीण हो जाते हैं अर्थात् आत्मापर अपना फल प्रवट नहीं कर सकते या कम प्रकट करते हैं ।

इस प्रकार अवलंबिका पर्यन्त के उदय-प्राप्त कर्मदलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और अवलंबिका के बाद के उदय पाने योग्य कर्मदलिकों की विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन होते रहने से कर्म का अयोपशम कहलाता है ।

अयोपशम-योग्य कर्म:—अयोपशम, सब कर्मों का नहीं होता; सिर्फ धातिकर्मों का होता है । धातिकर्म के देशघाति और सर्वघाति, ये दो भेद हैं । दोनों के अयोपशम में कुछ विभिन्नता है ।

(क) जब देशघातिकर्म का अयोपशम प्रवृत्त होता है, तब उसके

मन्द रस-युक्त कुछ दलिकों का विपाकोदय, साथ ही रहता है। विपाकोदय-प्राप्त दलिक, अव्य रस-युक्त होने से स्वाचार्य गुण का घात नहीं कर सकते इससे यह सिद्धान्त माना गया है कि देशघातिकर्म के क्षयोपशम के समय, विपाकोदय विरुद्ध नहीं हैं अर्थात् वह क्षयोपशम के कार्य को—स्वाचार्य गुण के विकास को रोक नहीं सकता। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि देशघातिकर्म के विपाकोदय-मिश्रित क्षयोपशम के समय, उसका सर्वघाति-रस-युक्त कोई भी दलिक, उदयमान नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि जब, सर्वघाति-रस, शुद्ध-अध्यवसाय से देशघातिरूप में परिणत हो जाता है, तभी अर्थात् देशघाति-स्पर्धक के ही विपाकोदय-काल में क्षयोपशम अवश्य प्रवृत्त होता है।

घातिकर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं, जिनमें से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और पाँच अ-तराय, इन आठ प्रकृतियों का क्षयोपशम तो सदा से ही प्रवृत्त है; क्योंकि आचार्य मतिज्ञान आदि पर्याय, अनोदि काल से आयोपशमिक रूप में रहते ही हैं। इसलिये, यह मानना चाहिये कि उक्त आठ प्रकृतियों के देशघाति-रसस्पर्धक का ही उदय होता है, सर्वघाति-रसस्पर्धकका कभी नहीं।

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण और अवधि-दर्शनावरण, इन चार प्रकृतियों का क्षयोपशम कादाचित्क (अनियत) है, अर्थात् जब उनके सर्वघाति-रसस्पर्धक, देशघातिरूप में परिणत हो जाते हैं; तभी उनका क्षयोपशम होता है और जब सर्वघाति-रसस्पर्धक उदयमान होते हैं, तब अवधिज्ञान आदि का घात हो होता है। उक्त चार प्रकृतियों का क्षयोपशम भी देशघाति-रसस्पर्धकके विपाकोदय से मिश्रित हो समझना चाहिये।

उक्त बारह के सिवाय शेष तेरह (चार संज्वलन और नौ नोकषाय) प्रकृतियाँ जो मोहनीय की हैं, वे अध्रुबोदयिनी हैं। इसलिये जब उनका क्षयोपशम, प्रवेशोदयमात्र से युक्त होता है, तब तो वे स्वाचार्य गुण का लेश भी घात नहीं करती और न देशघातिनी ही मानी जाती है; पर जब उनका क्षयोपशम विपाकोदय से मिश्रित होना है, तब वे स्वाचार्य गुण का कुछ घात करती हैं और देशघातिनी कहलाती हैं।

(ख) घातिकर्म की बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। इनमें से केवल-ज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण, इन दो का तो क्षयोपशम होता ही नहीं; क्योंकि उनके दलिक कभी देशघाति-रसयुक्त बनते ही नहीं और न उनका विपाकोदय ही रोका जा सकता है। शेष अठारह प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका क्षयोपशम हो सकता है; परन्तु यह बात, ध्यान में रखनी चाहिये कि देश

घातिनी प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय, जैसे विपाकोदय होता है, वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय नहीं होता, अर्थात् इन अठारह प्रकृतियों का क्षयोपशम, सभी सम्भव है, जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसलिये यह सिद्धान्तमाना है कि 'विपाकोदयवती प्रकृतियों का क्षयोपशम, यदि होता है तो देशघातिनी ही का सर्वघातिनी का नहीं'।

अत एव उक्त अठारह प्रकृतियाँ, विपाकोदय के निरोध के योग्य मानी जाती हैं; क्योंकि उनके आचार्य गुणों का क्षयोपशमिक स्वरूप में व्यक्त होता माना गया है, जो विपाकोदय के निरोध के सिवाय घट नहीं सकता।

(२) उपशमः—क्षयोपशम की व्याख्या में, उपशम शब्द का जो अर्थ किया गया है, उससे औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ कुछ उदाहर है। अर्थात् क्षयोपशम के उपशम शब्द का अर्थ सिर्फ विपाकोदयसम्बन्धिता योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन होना है; पर औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है; क्योंकि क्षयोपशम में कर्म का क्षय भी जारी रहता है, जो कम से कम प्रदेशोदय के सिवाय हो ही नहीं सकता। परन्तु उपशम में यह बात नहीं, जब कर्म का उपशम होता है, तभी से उसका क्षय रुक ही जाता है, अतएव उसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसी से उपशम- अवस्था तभी मानी जाती है, अब कि अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त में उदय पाने के योग्य दलिकों को कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं और कुछ दलिक पीछे उदय पाने योग्य बना दिये जाते हैं, अर्थात् अन्तरकरण में वेश-दलिकों का अभाव होता है।

अतएव क्षयोपशम और उपशम की संक्षिप्त व्याख्या इतनी ही की जाती है कि क्षयोपशम के समय विपाकोदय या मन्द विपाकोदय होता है, पर उपशम के समय वह भी नहीं होता। यह नियम याद रखना चाहिये कि उपशम भी घातिकर्म का ही हो सकता है, सो भी सब घातिकर्म का नहीं किन्तु केवल मोहनीय कर्म का। अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार का उदय, यदि रोका जा सकता है तो मोहनीय कर्म का ही। इसके लिये देखिये, नन्दी, सू० ८ की टीका, पृ० ७७ कम्मपयडी, श्रीयशोविजयजी-कृत टीका, पृ० १३; पञ्च द्वा० १, शा० २६ की मलयगिरि-व्याख्या सम्यक्त्व के स्वरूप, उत्पत्ति और भेद-प्रभेदादि का सविस्तार विचार देखने के लिये देखिये, लोक प्र०-सर्ग ३, बलोक ५६६-७००।

परिशिष्ट "ट" ।

पृष्ठ ७४, पंक्ति २१ के "सम्भव" शब्दपर—

अठारह भाषणा में अचक्षुर्दर्शन परिगणित है; अतएव उसमें भी चौदह जीवस्थान समझने चाहिये । परन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुर्दर्शन में जो अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते हैं, सो क्या अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अचक्षुर्दर्शन मान कर या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन होता है; यह मान कर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाय तब तो ठीक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में ही चतुरिन्द्रियद्वारा सामान्य बोध मान करना जैसे:—वक्षुर्दर्शन में तीन अपर्याप्त जीवस्थान १७वीं गाथा में मत्तान्तर से बतलाये हुये है वैसे ही इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में चक्षुर्भिन्न इन्द्रिय द्वारा सामान्य बोध मान कर अचक्षुर्दर्शन में सात अपर्याप्त जीवस्थान घटाये जा सकते हैं ।

परन्तु श्रीजयसोमसूरि ने इस गाथा के अपने टिप्पण में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन मान कर उसमें अपर्याप्त जीवस्थान माने हैं । और सिद्धान्त के आधार से बतलाया है कि विग्रहगति और कर्मणयोग में अवधिदर्शन रहित जीव को अचक्षुर्दर्शन होता है । इस पक्ष प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय न होने से अचक्षुर्दर्शन कैसे मानना ? इसका उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है ।

(१) द्रव्येन्द्रिय होने पर द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रिय-जन्य उपयोग और द्रव्येन्द्रिय के अभाव में केवल भावेन्द्रिय-जन्य उपयोग, इस तरह दो प्रकार का उपयोग है । विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति होने के पहले, पहले प्रकार का उपयोग, नहीं हो सकता; पर दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है । ऐसा मानने में तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ६ की वृत्तिका—

“अथचेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्कस्यचिद्भवेत् यतः पृष्ठत उपसर्वम् सर्वं बुद्धयेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं पश्यतीति ।”

यह कथन प्रमाण है। सारांश, इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले उपयोगात्मक अचक्षुर्दर्शन मान कर समाधान किया जा सकता है।

(२) विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, सो शक्तिरूप अर्थात् क्षयोपशमरूप, उपयोगरूप नहीं। यह समाधान, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४६वीं गाथा की टीका के—

“अयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्यायामपि लब्धिसाक्षि-
स्याभ्युपगमात् ।”

इसउल्लेख के आधार पर दिया गया है।

प्रश्न—इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले जैसे उपयोगरूप या क्षयो-
पशमरूप अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, वैसे ही चक्षुर्दर्शन क्यों नहीं माना
जाता ?

उत्तर—चक्षुर्दर्शन, नेत्ररूप विशेष इन्द्रिय-जन्य दर्शन को कहते हैं।
ऐसा दर्शन उसी समय माना जाता है, जब कि द्रव्यनेत्र हो। अतः एव
चक्षुर्दर्शन को इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही माना है। अचक्षुर्दर्शन
किसी-एक इन्द्रिय-जन्य सामान्य उपयोग को नहीं कहते; किन्तु नेत्र मित्र
किसी द्रव्येन्द्रिय से होने वाले, द्रव्यमन से होने वाले या द्रव्येन्द्रिय तथा
द्रव्यमन के अभाव में क्षयोपशममात्र से होने वाले सामान्य उपयोग को
कहते हैं। इसी से अचक्षुर्दर्शन को इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और
पीछे, दोनों अवस्थाओं में माना है।

परिशिष्ट "ठ" ।

पृष्ठ ७८, पंक्ति ११ के 'अनाहारक' शब्दपर—

अनाहारक जीव दो प्रकार के होते हैं—छद्मस्थ और वीतराग । वीतराग में जो अशरीरी (मुक्त) हैं, वे सभी सदा अनाहारक ही हैं; परन्तु जो शरीर-धारी हैं, वे केवल समुद्रात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में ही अनाहारक होते हैं । छद्मस्थ जीव, अनाहारक तभी होते हैं जब वे विग्रहगति में वर्तमान हों ।

जन्मान्तर ग्रहण करने के लिये जीव को पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाना पड़ता है । दूसरा स्थान पहले स्थान से विश्वेणि-पतित (वक्र-रेखा) में हो, तब उसे वक्र-गति करती पड़ती है । वक्र-गति के सम्बन्ध में इस जगह तीन बातों पर विचार किया जाता है:—

(१) वक्र-गति में विग्रह (ध्रुवाव) की संख्या, (२) वक्र-गति का काल-परिमाण और (३) वक्र गति में अनाहारकत्व का काल-मान ।

(१) कोई उत्पत्ति-स्थान ऐसा होता है कि जिसको जीव एक विग्रह करके ही प्राप्त कर लेता है । किसी स्थान के लिये दो विग्रह करने पड़ते हैं और किसी के लिये तीन भी । नवीन उत्पत्ति-स्थान से कितना ही विश्वेणि-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विग्रह में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है ।

इसविषय में दिगम्बर-साहित्य में विचारभेद नजर नहीं आता; क्योंकि—

“विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।” —तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २८ ।

इस सू० की सर्वार्थसिद्धि टीका में श्रीपूज्यपादस्वामी ने अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति का ही उल्लेख किया है । तथा:—

“एकं द्वौ श्रीवाऽनाहारकः ।” —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र ३० ।

इस सूत्र के दृढे राजवार्तिक में भट्टारक श्री अकलङ्कदेव ने भी अधिक से अधिक त्रि-विग्रह-गति का ही समर्थन किया है । नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी गोम्भटसार-जीवकाण्ड की ६६६वीं गाथा में उक्त मत का ही निर्देश करते हैं ।

स्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इस विषय पर मतान्तर उल्लिखित पाया जाता है—

“विग्रहवती च संसारिणः चतुर्भ्यः ।” —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र २९ ।

“एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।” —तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ३० ।

स्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के भाष्य में भगवान् उमास्वातिने तथा उसकी टीका में श्रीसिद्धसेन-णि ने त्रि-विग्रह-गति का उल्लेख किया है । साथ ही उक्त भाष्य की टीका में चतुर्विग्रह-गति का मतान्तर भी दर्शाया है । इस मतान्तर का उल्लेख बृहत्संग्रहणी की ३२५ वीं गाथा में और श्रीभगवती-शतक ७, उद्देश १ की तथा शतक १४, उद्देश १ की

टीका में भी है। किन्तु इस मतान्तर का जहाँ-कहीं उल्लेख है, वहाँ सब जगह यही लिखा है कि चतुर्विग्रहगति का निर्देश किसी मूल सूत्र में नहीं है। इससे जान पड़ता है कि ऐसी गति करने वाले जीव ही बहुत कम हैं। उक्त सूत्रों के भाष्य में तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रि-विग्रह वाली गति का संभव ही नहीं है।

“अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुस्समयप-
राश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति।”

भाष्य के इस कथन से तथा दिग्म्बर-ग्रन्थों में अधिक से अधिक त्रि-विग्रह गति का ही निर्देश पाये जाने से और भगवती-टीका आदि में जहाँ-कहीं चतुर्विग्रहगति का मतान्तर है, वहाँ सब जगह उसकी अस्मिता दिखायी जाने के कारण अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति ही का पक्ष बहुमान्य समझना चाहिये।

(२) वक्र-गति के काल-परिमाण के सम्बन्ध में यह नियम है कि वक्र-गति का समय वि-ह की अपेक्षा एक अधिक ही होता है। अर्थात् जिस गति में एक विग्रह हो, उसका काल-मान दो समयों का, इस प्रकार द्वि-विग्रह गति का काल-मान तीन समयों का और त्रि-विग्रहगति का काल-मान चार समयों का है। इस नियम में श्वेताम्बर-दिग्म्बर का कोई मत-भेद नहीं। हाँ, ऊपर चतुर्विग्रहगति के मतान्तर का जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार उस गति का काल-मान पाँच समयों का खतलाया गया है।

(३) विग्रहगति में अनाहारकत्व के काल-मान का विचार व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से किया हुआ पाया जाता है। व्यवहारवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छूटने का समय, जो वक्र-गति का प्रथम समय है, उसमें पूर्व-शरीर-योग्य कुछ पुद्गल आहारद्वारा ग्रहण किये जाते हैं।—बृहत्संहिता गा० ३२६ तथा उसकी टीका; लोक० सर्ग ३, श्लोक, ११०७ से आगे। परन्तु निश्चयवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छूटने के समय में अर्थात् वक्र-गति के प्रथम समय में न तो पूर्व-शरीर का ही सम्बन्ध है और न नया शरीर बना है; इसलिये उस समय किसी प्रकार के आहार का संभव नहीं।—लोक० सर्ग ३, श्लोक १११५ से आगे। व्यवहारवादी तो या निश्चयवादी, दोनों इस बात को बराबर मानते हैं कि वक्र-गति का अन्तिम समय, जिसमें जीव नवीन स्थान में उत्पन्न होता है। उसमें अवश्य आहार ग्रहण होता है। व्यवहारतन्त्र के अनुसार अनाहारकत्व का काल-मान इस प्रकार समझना चाहिये:—

एक विग्रहवाली गति, जिसकी काल-मर्यादा दो समय की है, उसके दोनों समय में जीव आहारक ही होता है; क्योंकि पहले समय में पूर्व-

शरीर-योग्य लोमाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समय में नवीन शरीर-योग्य आहार। दो विग्रहवाली गति, जो तीन समय की है और तीन विग्रहवाली गति, जो चार समय की है, उसमें प्रथम तथा अन्तिम समय में अनाहारकत्व होने पर भी बीच के समय में अनाहारक-अवस्था पायी जाती है। अर्थात् द्वि-विग्रहगति के मध्य में एक समय तक और त्रि-विग्रह गति में प्रथम तथा अन्तिम समय को छोड़, बीच के दो समय पर्यन्त अनाहारक स्थिति रहती है। व्यवहारनय का यह मत कि विग्रह की अपेक्षा अनाहारकत्व का समय एक कम ही होता है, तत्त्वार्थ-अध्याय २ के ३१वें सूत्र में तथा उसके भाष्य और टीका में निदिष्ट है। साथ ही टीका में व्यवहारनय के अनुसार उपर्युक्त पाँच समय-परिमाण चतुर्विग्रहवति गति के मतान्तर को लेकर तीन समय का अनाहारकत्व भी बतलाया गया है। सारांश, व्यवहारनय की अपेक्षा से तीन समय का अनाहारकत्व, चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर से ही घट सकता है, अन्यथा नहीं। निश्चयदृष्टि के अनुसार यह बात नहीं है। उसके अनुसार तो जितने विग्रह उतने ही समय अनाहारकत्व के होते हैं। अत एव उस दृष्टि के अनुसार एक विग्रहवाली वक्रगति में एक समय, दो विग्रहवाली गति में दो समय और तीन विग्रहवाली गति में तीन समय अनाहारकत्व के समझने चाहिये। यह बात दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के ३०वें सूत्र तथा उसकी सर्वायसिद्धि और राजवास्तिक-टीका में है।

इवेताम्बर-ग्रन्थों में चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर का उल्लेख है, उसको लेकर निश्चयदृष्टि से विचार किया जाय तो अनाहारकत्व के चार समय भी कहे जा सकते हैं।

सारांश, इवेताम्बरीय तत्त्वार्थ-भाष्य आदि में एक या दो समय के अनाहारकत्व का जो उल्लेख है, वह व्यवहारदृष्टि से और दिगम्बरीय तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थों में जो एक, दो या तीन समय के अनाहारकत्व का उल्लेख है, वह निश्चयदृष्टि से। अत एव अनाहारकत्व के काल-मान के विषय में दोनों सम्प्रदाय में वास्तविक विरोध को अवकाश ही नहीं है।

प्रसङ्ग-वश यह बात जानने योग्य है कि पूर्व-शरीर का परित्याग, पर-भवकी आयु का उदय और गति (चाहे ऋजु हो या वक्र), ये तीनों एक समय में होते हैं। विग्रहगति के दूसरे समय में पर-भव की आयु के उदय का कथन है, सो स्थूल व्यवहारनय की अपेक्षा से—पूर्व-भव का अन्तिम समय, जिसमें जीव विग्रहगति के अभिमुख हो जाता है, उसको उपचार से विग्रहगति का प्रथम समय मानकर—समझना चाहिये।

—बृहत्संग्रहणा, गा० ३२५, मलयगिरि-टीका।

परिशिष्ट "ड" ।

पृष्ठ ८५, पंक्ति ११ के 'अवधिदर्शन' शब्द पर—

अवधिदर्शन और गुणस्थान का सम्बन्ध विचारने के समय मुख्यतया दो बातें जानने की हैं, (१) पक्ष-भेद और (२) उनका तात्पर्य ।

(१) पक्ष-भेद । प्रस्तुत विषय में मुख्य दो पक्ष हैं:— (क) कर्म-ग्रन्थिक और (ख) सैद्धान्तिक ।

[क] कर्मग्रन्थिक-पक्ष भी दो हैं । इनमें से पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है । यह पक्ष, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की २६वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान मानने वाले कर्मग्रन्थिकों को मान्य है । दूसरा पक्ष, तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है । यह पक्ष आगे की ४८वीं गाथा में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ७०वीं व ७१वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान माननेवाले कर्मग्रन्थिकों को मान्य है । ये दोनों पक्ष, गोम्मटसार जीवकान्द की ६९० और ७०४वीं गाथा में हैं । इनमें से प्रथम पक्ष, तत्त्वार्थ-अ० १ के ८वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में भी है । वह यह है:—

“अवधिदर्शने असंयतसम्पदविष्टादीनि क्षीणकषायान्तामि ।”

(ख) सैद्धान्तिक-पक्ष बिल्कुल भिन्न है । वह पहले आधि बारह गुण-स्थानों में अवधिदर्शन मानता है । जो भगवती-सूत्रसे मालूम होता है । इस पक्ष को श्रीमलवगिरिसूरि ने पञ्चसंग्रह-द्वारा १ की ३१वीं गाथा की टीका में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की २६वीं गाथा की टीका में स्पष्टता से दिखाया है ।

“ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भंते । किं नाणी अण्णाणी ? गोदमा ! नाणी वि अण्णाणी वि । जइ नाणी ते अरथेणइअं तिण्णाणी, अरथेणइअं चउणाणी । जे तिण्णाणी, ते आभिनिबोहियणाणी सुय-णाणी ओहिणाणी । जे चउणाणी ते आभिनिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी मज्जपज्जवणाणी । जे अण्णाणी ते पिदमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगणाणी ।”

—भगवती-शतक ८, उद्देश २ ।

(२) —उनका (उक्त पक्षों का) तात्पर्य:—

(क) पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले और पहले दो गुणस्थानों में अज्ञान मानने वाले, दोनों प्रकार के कर्मग्रन्थिक विद्वान अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते हैं, पर विभङ्गज्ञान से नहीं, वे कहते हैं कि—

विशेष अवधि-उपयोग से सामान्य अवधि-उपयोग भिन्न है; इसलिये जिस प्रकार अवधि-उपयोग वाले सम्प्रवृत्ती में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों अलग-अलग हैं, इसी प्रकार अवधिउपयोग वाले अज्ञानी में भी विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं सही, तथापि विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनों के पारस्परिक भेद की अविवक्षा-मात्र है। भेद विवक्षित न रखने का सबब दोनों का सादृश्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभङ्गज्ञान विषय का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता, वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होनेके कारण विषय का निश्चय नहीं कर सकता।

इस अभेद-विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे आदि नौ गुणस्थानों में और दूसरे मत के अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन समझना चाहिये।

(ख) सैद्धान्तिक विद्वान विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों के भेद की विवक्षा करते हैं, अभेद की नहीं। इसी कारण वे विभङ्गज्ञानों में अवधिदर्शन मानते हैं। उनके मत से केवल पहले गुणस्थान में विभङ्गज्ञान का संभव है, दूसरे आदि में नहीं। इसलिये वे दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान में, विभङ्गज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर पहले बारह गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानते हैं। अवधिज्ञानी के और विभङ्गज्ञानी के दर्शन में निराकारता-अंश समान ही है। इसलिये विभङ्गज्ञानी के दर्शन की 'विभङ्गदर्शन' ऐसी अलग संज्ञा न रखकर 'अवधिदर्शन' ही संज्ञा रखी है।

सारांश, कर्मग्रन्थिक-पक्ष, विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनों के भेद की विवक्षा नहीं करता और सैद्धान्तिक पक्ष करता है।

—लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लोक १०५७ से आगे।

इस मतभेदका उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थमें श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है, जिस की सूचना प्रज्ञापना-पद १८, वृत्ति पुं (कत्वकता) ५६६ पर है।

==

परिशिष्ट "ठ" ।

पृष्ठ ८६, पंक्ति २० के 'आहारक' शब्द पर—

[केवलज्ञानी के आहार पर विचार ।]

तेरहवें गुणस्थान के समय आहारकत्वका अङ्गीकार यहाँ के समान दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें है । —तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ८ की सर्वार्थसिद्धि ।

“आहारानुवादेन आहारकेषु भिन्नादृष्टिपात्रीनि समीगकेवल्यन्तानि”

इसी जगत् गोम्मटसार-टीकाकण्डवर् ६९, ५ और ६९५ में भाषा भी इसके लिये देखने योग्य है ।

उक्त गुणस्थानमें असातवेदनीयका उदय भी दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थों (दूसरा कर्मग्रन्थ, गा० २२; कर्मकाण्ड, गा० २७१) में माना हुआ है । इसी

तरह उस समय आहारसंज्ञा न होनेपर भी कर्मणशरीरनामकर्म के उदय से कर्मपुद्गलोंकी तरह औदारिकशरीरनामकर्मके उदय से औदारिकपुद्गलों का ग्रहण दिगम्बरीय ग्रन्थ (लब्धिसार गा० ६१४) में भी स्वीकृत है ।

आहारकत्वकी व्याख्या गोम्मटसार में इतनी अधिक स्पष्ट है कि जिससे केवलीकेद्वारा औदारिक, भाषा और मनोवर्णना के पुद्गल ग्रहण किये जाने के सम्बन्धमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता (जीव० गा० ६६२—६६४) ।

औदारिक पुद्गलोंका निरन्तर ग्रहण भी एक प्रकारका आहार है, जो 'लो मात्रार' कहलाता है । इस आहारके लिये जानेतक शरीरका निर्वाह और इसके अभावमें शरीरका अनिर्वाह अर्थात् योग-प्रवृत्ति पर्यन्त औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है । इस तरह केवलज्ञानीमें आहारकत्व, उसका कारण असातवेदनीयका उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, दोनों सम्प्रदायको समानरूपसे मान्य है । दोनों सम्प्रदाय की यह विचार-समता इतनी अधिक है कि इसकेसामने कबलाहारका प्रश्न विचारणीयोंकी दृष्टिमें आप ही आप हल हो जाता है ।

केवलीज्ञानी कबलाहारको ग्रहण नहीं करते, ऐसा माननेवाले भी उनकेद्वारा अन्य मूढ औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण किया जाना निर्विवाद मानते ही हैं । जिनके मतमें केवलज्ञानी कबलाहार ग्रहण करते हैं; उनके मत से वह स्थूल औदारिक पुद्गलके सिवाय और कुछ भी नहीं है । इस प्रकार कबलाहार माननेवाले-न माननेवाले उभयके मत में केवलज्ञानीकेद्वारा किसी-न-किसी प्रकारके औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किया जाना समान है । ऐसी दशामें कबलाहारके प्रश्नको विरोध का साधन बनाना अर्थ-हीन है ।

== ==

परिशिष्ट "त" ।

पृष्ठ ६६, पंक्ति २० के 'दृष्टिवाद' शब्दपर—

[स्त्रीको दृष्टिवाद नामक बाराहवाँ अङ्क पढ़नेका निषेध है, इसपर विचार ।]

[समानता:—]व्यवहार और शास्त्र, ये दोनों, शारीरिक और अध्यात्मिक-विकासमें स्त्रीको पुरुषकेसमान सिद्ध करते हैं । कुमारी ताराकाईका शारीरिक-बलमें श्री० राममूर्तिसेकम न होना, विदुषी ऐनी बीसेन्टका विचार व वक्तृत्व-शक्तिमेंअन्य किसी विचारक वक्ता-पुरुषसे कम न होना एवं विदुषी सरोजिनी नाइडूका कवित्व-शक्तिमें किसी प्रसिद्ध पुरुष-कविसे कम न होना, इस बात का प्रमाण है कि समान साधन और अवसर मिलनेपर स्त्री भी पुरुष-जितनी योग्यता प्राप्त कर सकती है । स्वैताम्बर-आचार्योंने स्त्रीको पुरुषके बराबर योग्य मानकर उसे कौशल्य व मोक्षकी अर्थात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकासकी अधिकारिणी सिद्ध किया है । इसके लिये देखिये, प्रज्ञापना-सू० ७, पृ० १८; नन्दी-सू० २१, पृ० १३०/१ ।

इस विषयमें मत-भेद रखनेवाले दिगम्बर-आचार्यों के विषयमें उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है । इसकेलिये देखिये, नन्दी-टीका, पृ० १३१/१-१३३/१; प्रज्ञापना-टीका, २०-२२/१; पृ० शास्त्रवातसिमुच्चय-टीका, पृ० ४२५-४३० ।

आलङ्कारिक पण्डित राजशेखरने मध्यस्थभावपूर्वक स्त्रीजातिको पुरुष जातिके तुल्य बतलाया है,—

“पुरुषवत् प्रोषितोऽपि कविमवेतुः । संस्कारो ह्यात्मनि समर्धति न स्त्र्येण पौरुषं वा विभागमपेक्षते । भूपन्ते ह्यपन्ते च राजपुत्रयो महामात्यबुहितरो भणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रतिबुद्धाः कवयश्च ।”

—काव्यमीमांसा-अध्याय १० ।

[विरोध:—]स्त्रीको दृष्टिवादके अध्ययनका जो निषेध किया है, इसमें दो तरहसे विरोध आता है:—(१)तर्क-दृष्टि से और(२) शास्त्रोक्त मर्यादासे ।

(१)—एक ओर स्त्रीको केवलज्ञान व मोक्ष तककी अधिकारिणी मानना और दूसरी ओर उसे दृष्टिवादके अध्ययनकेलिये—भुतज्ञान-विशेषकेलिये—अयोग्य बतलाना, ऐसा विरुद्ध जान पड़ता है, जैसे किसी को रत्न सौंपकर कहना कि तुम कीड़ी की रक्षा नहीं कर सकते ।

(२)—दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करनेसे शास्त्र-कथित कार्य-कारण भावकी मर्यादा भी बाधित हो जाती है। अतः—शुल्कध्यानके पहले दो पाद प्राप्त किये बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता; 'पूर्व'के ज्ञानके बिना शुल्कध्यानके प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होते और 'पूर्व', दृष्टिवादका एक हिस्सा है। यह मर्यादा शास्त्रमें निर्विवाद स्वीकृत है।

“शुल्के आद्ये पूर्वविधः ।” —तत्त्वार्थ-अ० ६, सू० ३६।

इस कारण दृष्टिवादके अध्ययनकी अनधिकारिणी स्त्री को केवलज्ञान की अधिकारिणी मान लेना स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है।

दृष्टिवादके अनाधिकारके कारणोंके विषय में दो पक्ष हैं:—

(क) पहला पक्ष, श्रीजितभद्रगणि क्षमाश्रमण आदिका है। इस पक्ष में स्त्रीमें तुच्छत्व, अभिमान, इन्द्रिय-चाञ्चल्य, मति-मान्य आदि मानसिक दोष दिखाकर उसको दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध दिया है। इसकेलिये देखिये, विशेष० भा०, ५५२वीं गाथा।

(ख) दूसरा पक्ष, श्रीहृन्निभद्रसूरि आदिका है। इस पक्षमें अशुद्धिरूप शारीरिक-दोष दिखाकर उसका निषेध किया है। यथा:—

कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः? तथाविधविग्रहे ततो बोधात् ।”

ललितविस्तारा, पृ०, १३१।

[नयदृष्टिसे विरोधका परिहार:—]दृष्टिवादके अनधिकारसे स्त्रीको केवलज्ञानके पानेमें जो कार्य-कारण-भावका विरोध दीखता है, वह वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि शास्त्र, स्त्रीमें दृष्टिवादके अर्थ-ज्ञानकी योग्यता मानता है; निषेध सिर्फ शाब्दिक-अध्ययनका है।

‘श्रेण्यपरिचतौ तु कासगर्भबद्धभावतो मादोर्जबद्ध एवं ।”

—ललितविस्तारा तथा इसकी श्रीमुनिचन्द्रसूरि-कृत पञ्जिका, पृ० १११।

तप, साधना आदिसे जब ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम तीव्र हो जाता है, तब स्त्री शाब्दिक-अध्ययनके सिवाय ही दृष्टिवादका सम्पूर्ण अर्थ-ज्ञान कर लेती है और शुल्कध्यानके दो पाद पाकर केवलज्ञानको भी पा लेती है—

“यदि च ‘शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगादसेयभावेऽतिपूज्यमेवमपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रमादयोगत्वा पूर्ववरस्येव बोधातरिकेसम्भावा-

दाक्षशुल्कध्यानद्वय प्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः, अध्य-
यनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात्, इति विभाष्यते, तदा निग्रन्थोना-
ग्रयेण द्वितयसंभवे दोषाभावात् । —शास्त्रवार्ता ०, पृ० ४२६ ।

यह नियम नहीं है कि गुरु-मुखसे शाब्दिक-अध्ययन बिना किये अर्थ-
ज्ञान न हो । अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो किसी से बिना पहले ही मनन
चिन्तन-द्वारा अपने अभीष्ट विषयका गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

अब रहा शाब्दिक-अध्ययनका निषेध, सो इसपर अनेक तर्क-चिन्तक
उत्पन्न होते हैं । यथा—जिसमें अर्थ-ज्ञानकी योग्यता मान ली जाय, उसको
सिर्फ शाब्दिक-अध्ययनके लिये अयोग्य बतलाना क्या संगत है? शब्द, अर्थ-
ज्ञानका साधनमात्र है । तब, भावना आदि अन्य साधनोंसे जो अर्थ-ज्ञान संपा-
दन कर सकता है, वह उस ज्ञान को शब्द द्वारा संपादन करनेकेलिये अयोग्य
है, यह कहना कहाँ तक संगत है? शाब्दिक-अध्ययनके निषेधकेलिङ्ग तुच्छत्व
अभिमान आदि जो मानसिक-दोष दिखाये जाते हैं, वे क्या पुरुषजातिमें
नहीं होते? यदि विशिष्ट पुरुषोंमें उक्त दोषों का अभाव होनेके कारण पुरुष
सामान्यकेलिये शाब्दिक-अध्ययनका निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष-तुल्य
विशिष्ट स्त्रियोंका संभव नहीं है? यदि असंभव होता तो स्त्रीमोक्षका वर्णन
क्यों किया जाता? शाब्दिक-अध्ययनकेलिये जो शारीरिक-दोषोंकी संभावना
की गयी है, वह भी क्या सब स्त्रियों को लागू पड़ती है? यदि कुछ स्त्रियों
को लागू पड़ती है तो क्या कुछ पुरुषों में भी शारीरिक-अशुद्धिकी संभावना
नहीं है? ऐसी दशामें पुरुषजातिको छोड़ स्त्रीजातिके लिये शाब्दिक-
अध्ययनका निषेध किस अभिप्रायसे किया है? इन तर्कोंके सम्बन्धमें संक्षेपमें
इतना ही कहना है कि मानसिक या शारीरिक-दोष दिखाकर शाब्दिक-
अध्ययनका जो निषेध किया गया है, वह प्रायिक ज्ञान पड़ता है, अर्थात्
विशिष्ट स्त्रियोंकेलिये अध्ययनका निषेध नहीं है । इसके समर्थनमें यह कहा
जा सकता है कि जब विशिष्ट स्त्रियाँ, दृष्टि-वादका अर्थ-ज्ञान, वीतराग-
भाव, केवलज्ञान और मोक्ष तक पानेमें समर्थ हो सकती हैं, तो फिर उनमें
मानसिक-दोषोंकी संभावना ही क्या है? तथा बृद्ध अप्रमत्त और परमपवित्र
आचारवाली स्त्रियोंमें शारीरिक-अशुद्धि कैसे बतलायी जा सकती है? जिनको
दृष्टिवादके अध्ययनकेलिये योग्य समझा जाता है, वे पुरुष भी, जैसे:—
मूलभद्र, दुर्बलिका पुण्यमित्र आदि तुच्छत्व, स्मृति-दोष आदि कारणोंसे
दृष्टिवादकी रक्षा न कर सके ।

“तेषां चित्तिर्यं भोगणीयं इदं विदितं दारिद्र्यमिति लीहृत्स्वं विदुस्त्वयं ।”

—आवश्यक वृत्ति, पृ० ६६८/१ ।

‘ततो आयरिणं दुर्बलियपुंसस्मिन्तो तस्य नायनायरिणो दिण्णो, ततो सो कइदि विवसे वायणं दारुण आयरियमुवट्ठितो भणइ-मम वायणं वेतस्स नासति, अं च सण्णायघरे नाणुप्पेहिमं, अतो मम अज्जरंतस्स नवमं पुब्बं नासिहित, ताहे आयरिया चित्तेति-अइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं सरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनहुं चेव ।”

आवश्यकवृत्ति, पृ० ३०८ ।

ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी स्त्रियोंको ही अध्ययनका निषेध क्यों किया गया? इस प्रश्नका उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है:—(१) समान सामग्री मिलनेपर भी पुरुषोंके मुकाबिलेमें स्त्रियोंका कम संख्यामें योग्य होना और (२) ऐतिहासिक-परिस्थिति ।

(१)—जिन पश्चिमीय देशोंमें स्त्रियोंको पढ़ने आदिकी सामग्री पुरुषों के समान प्राप्त होती है, वहांका इतिहास देखनेसे यही जान पड़ता है कि स्त्रियां पुरुषोंके तुल्य हो सकती हैं सही, पर योग्य व्यक्तियोंकी संख्या, स्त्री जाति की अपेक्षा पुरुष जाति में अधिक पायी जाती है ।

(२)—कुन्दकुन्द-आचार्य सरीखे प्रतिपादक दिगम्बर-आचार्योंने स्त्री जातिको शारीरिक और मानसिक-दोषके कारण दीक्षा तत्कालिये अयोग्य ठहराया ।

सिगम्मि य इरथीणं, थणंतरे माहिकवल्लदेसम्मि ।

जणिओ धुह्मो काओ, तासं कह होइ पव्वज्जा ॥”

षट्पाहुड-सूत्रपरहुड गा० २४-२५

और वैदिक विद्वानोंने शारीरिक-शुद्धि को अग्र-स्थान देकर स्त्री और शूद्र जातिको सामान्यतः वेदाध्ययन के लिये अनधिकारी बतलाया:—

“स्त्रीशूद्रौ नाधीयता”

इन विपक्षी सम्प्रदायोंका इतना असर पड़ा कि उससे प्रभावित होकर पुरुषजातिके समान स्त्रीजातिकी योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर-आचार्य उसे विदोष-अध्ययनकेलिये अयोग्य बतलाने लगे होंगे ।

ग्यारह अङ्ग आदि पढ़नेका अधिकार मानते हुए भी सिर्फ बारहवें अङ्गके निषेधका सबब यह भी जान पड़ता है कि दृष्टिवादका व्यवहारमें महत्त्व बना रहे। उस समय विशेषतया शारीरिक-शुद्धिपूर्वक पढ़नेमें वेद आदि ग्रन्थोंकी महत्ता समझी जाती थी। दृष्टिवाद, सत्र अङ्गोंमें प्रमाण था, इसलिये व्यवहारदृष्टिसे उसकी महत्ता रखनेकेलिये अन्य बड़े पढ़ीभी समाज का अनुकरण कर लेना स्वाभाविक है। इस कारण पारमार्थिक-दृष्टिसे स्त्रीको संपूर्णतया योग्य मानते हुए भी आचार्योंने व्यवहारकिदृष्टिसे शारीरिक-अशुद्धिका खयालकर उसको, शाब्दिक-अध्ययनभावकेलिये अयोग्य बतलाया होगा।

भगवान् गौतमबुद्धने स्त्रीजातिको भिक्षुपदकेलिये अयोग्य निर्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीरने तो प्रथमसे ही उसको पुरुषके समान भिक्षुपदकी अधिकारिणी निश्चित किया था। इसीसे जैनशासनमें चतुर्विध सङ्घ प्रथमसे ही स्थापित है और साधु तथा श्रावकोंकी अपेक्षा साध्वियों तथा श्राविकाओंकी संख्या आरम्भसे ही अधिक रही है परन्तु अपने प्रधान शिष्य 'आनन्द'के आग्रहसे बुद्ध भगवान्ने जब स्त्रियोंको भिक्षु पद दिया, तब उनकी संख्या धीरे-धीरे बहुत बढ़ी और कुछ शताब्दियोंके बाद अशिक्षा कुप्रबंध आदि कई कारणों से उनमें बहुत-कुछ आचार-भ्रंश हुआ, जिससे कि बौद्ध-सङ्घ एक तरह से दूषित समझा जाने लगा। सम्भव है, इस परिस्थितिका जैन-सम्प्रदायपर भी कुछ असर पड़ा हो, जिससे दिगम्बर-आचार्योंने तो स्त्रीको भिक्षुपदके लिये ही अयोग्य कर दिया हो और श्वेताम्बर आचार्योंने ऐसा न करके स्त्रीजातिका उच्च अधिकार कायम रखते हुए भी दुर्बलता, इन्द्रिय-चपलता आदि दोषोंको उस जातिमें विशेषरूपसे दिखाया हो; क्योंकि सहस्र-समाजोंके व्यवहारोंका एक दूसरेपर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

परिशिष्ट "थ" ।

पृष्ठ १०१, पंक्ति १२के 'भाषार्थ' पर—

इस जगह चक्षुर्दर्शनमें तेरह योग माने गये हैं, पर श्रीमलयगिरिजीने उसमें ग्यारह योग बतलाये हैं । कर्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये चार योग छोड़ दिये हैं ।

—पञ्च० द्वा० १ की १२वीं गाथाकी टीका ।

ग्यारह माननेका तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त-अवस्थामें चक्षुर्दर्शन न होनेमें उसमें कर्मण और औदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त-अवस्था-भावी योग नहीं होते, वैसे ही वैक्रियमिश्र या आहारकमिश्र-काययोग रहता है, तब तक अर्थात् वैक्रियशरीर या आहारकशरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुर्दर्शन नहीं होता, इसलिये उसमें वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग भी न माननेचाहिये।

इसपर यह साझा हो सकती है कि अपर्याप्त-अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जानेके बाद १७वीं गाथा में उल्लिखित मतान्तरके अनुसार यदि चक्षुर्दर्शन मान लिया जाय तो उसमें औदारिकमिश्रकाययोग, जो कि अपर्याप्त-अवस्था-भावी है, उसका अभाव कैसे माना जा सकता है?

इस साझाका समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चमंश्रहमें एक ऐसा मतान्तर है, जो कि अपर्याप्त-अवस्थामें शरीरपर्याप्ति पूर्ण न बन जाये तब तब मिश्रयोग मानना है, बन जाने के बाद नहीं मानता । पञ्च० द्वा० १ की ७वीं गाथा की टीका । इस मत के अनुसार अपर्याप्त-अवस्थामें जब चक्षुर्दर्शन होता है तब मिश्रयोग न होनेके कारण चक्षुर्दर्शन में औदारिक-मिश्रकाययोगका वर्जन विरुद्ध नहीं है ।

इस जगह मनःपर्यायज्ञानमें तेरह योग माने हुए हैं, जिनमें आहारक द्विकका समावेश है । पर मोम्मटसार-कर्मकाण्ड यह नहीं मानता; क्योंकि उसमें लिखा है कि परिहृरविशुद्धचारित्र्य और मनःपर्यायज्ञानके समय आहारकशरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्मका उदय नहीं होता —कर्मकाण्ड गा० ३२४ । जब तक आहारक-द्विकका उदय न हो, तब तक आहारकशरीर रच नहीं जा सकता और उसकी रचनाके सिवाय आहारकमिश्र और आहारक, ये दो योग अगम्य हैं। इससे सिद्ध है कि मोम्मटसार, मनःपर्यायज्ञानमें दो आहारकयोग नहीं मानता, इसी बातकी पुष्टि जीवकाण्डकी ७२८वीं गाथासे भी होती है । उसका मतलब इतना-ही है कि मनःपर्यायज्ञान, परिहृरविशुद्धसंयम प्रथमोशमसम्यक्त्व और आहारक-द्विक, इन भावोंमेंसे किसी एकके प्राप्त होनेपर शेष भाव प्राप्त नहीं होते ।

== == ==

परिशिष्ट "द" ।

पृ०-१०४, पंक्ति ६ के 'केवलिसमुद्धात' शब्द पर—

[केवलिसमुद्धात के सम्बन्धकी कुछ बातोंका विचारः—]

(क) पूर्वभावी क्रिया—केवलिसमुद्धात रचनेके पहले एक विशेष क्रिया की जाती है, जो शुभयोगरूप है, जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है और जिसका कार्य उदयावलिकामें कर्मदालिकोंका निक्षेप करना है । इस क्रिया-विशेषको 'आयोजिकाकरण' कहते हैं । मोक्षकी ओर आवर्जित (झुके हुए) आत्माकेद्वारा किये जानेके कारण इसको 'आवर्जितकरण' कहते हैं । और सब केवलज्ञानियोंके द्वारा अवश्य किये जानेके कारण इसको 'आवश्यककरण' भी कहते हैं । श्वेताम्बर-साहित्यमें आयोजिकाकरण आदि तीनों संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं ।—विशे० आ०, गा० ३०५०, ५१; तथा पञ्च-द्वा० १, गा० १६ की टीका ।

दिग्म्बर-साहित्यमें सिर्फ 'आवर्जितकरण' संज्ञा प्रसिद्ध है । लक्षण भी उसमें स्पष्ट है—

“हेट्टा बडस्संतो”—मुहूर्तभावज्जिवं ह्वे करणं ।

तं च समुग्धावस्य य, अहिमुहभावो जिणिवसस ।”

—लब्धिसार, गा० ३१७ ।

ख) केवलिसमुद्धातका प्रयोजन और विधान-समयः—

जब वेदनीय आदि अधातिवर्मकी स्थिति तथा दलिक, आयुकर्मकी स्थिति तथा दलिकसे अधिक हों तब उनको आपसमें बराबर करनेकेलिये केवलिसमुद्धात करना पड़ता है । इसका विधान, अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयु बाकी रहनेके समय होता है ।

(ग) स्वामी—केवलज्ञानी ही केवलिसमुद्धातका रचते हैं ।

(घ) काल-मान—केवलिसमुद्धातका काल-मान आठ समयका है ।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समयमें आत्माके प्रदेशोंको शरीरसे बाहर निकालकर फैला दिया जाता है । उस समय उनका आकार, दण्ड जैसा बनता है । आत्मप्रदेशोंका यह दण्ड, ऊँचाईमें लोकक ऊपरसे नीचे तक,

अर्थात् सौदह रज्जु-परिमाण होता है, परन्तु उसकी मोटाई सिर्फ शरीरके बराबर होती है। दूसरे समयमें उक्त दण्डको पूर्व-पश्चिम या उत्तर, दक्षिण फैलाकर उसका आकार, कपाट (किवाड़) जैसा बनाया जाता है। तीसरे समयमें कपाटकार आत्म-प्रदेशोंको मन्थाकार बनाया जाता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, दोनों तरफ फैलानेसे उनका आकार रई (मथनी) का सा बन जाता है। चौथे समयमें विदिशाओंके खाली भागोंको आत्म प्रदेशोंसे पूर्ण करके इनसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किया जाता है। पाँचवें समय में आत्माके लोक-व्यापी प्रदेशों को सहरण-क्रिया द्वारा फिर मन्थाकार बनाया जाता है। छठे समयमें मन्थाकारसे कपाटाकार बना लिया जाता है। सातवें समयमें आत्म-द्रव्य फिर दण्डरूप बनाये जाते हैं और आठवें समयमें उनको असली स्थितिमें — शरीरस्थ — किया जाता है।

(च) जैन-दृष्टिके अनुसार आत्म-व्यापकताकी सङ्गति:—उपनिषद् भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें आत्मा की व्यापकताका वर्णन किया है।

“विश्वतश्चक्षुषत विश्वतो मुखो विश्वतो बहुमत विश्वतस्स्य त् ।”

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-३, ११-१५

“सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिदिरीमुखं ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्तं तिष्ठति ॥” —भगवद्गीता, १३ १३।

जैन-दृष्टिके अनुसार यह वर्णन अर्थवाद है, अर्थात् आत्माकी महता व प्रशंसाका सूचक है। इस अर्थवादका आधार केवलितमुद्रातके चौथे समय में आत्माका लोक-व्यापी बनना है। यही बात उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने शास्त्रवार्त्तासमुच्चयके ३३८वें पृष्ठपर निर्दिष्ट की है।

जैसे वेदनीय आदि कर्मोंको शीघ्र भोगनेकेलिये समुद्रात-क्रिया मानी जाती है, वैसे ही पातञ्जल-योगदर्शनमें ‘बहुकायनिर्माणक्रिया’ मानी है, जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्त्ता योगी, सोपक्रम-कर्म शीघ्र भोगनेकेलिये करता है।

—पाद ३, सू० २२का भाष्य तथा वृत्ति; पाद ४, सूत्र ४का भाष्य तथा वृत्ति।



हरिशिष्ट "ध" ।

पृ० ११७, पंक्ति १६के 'काल' शब्दपर—

'काल'के सम्बन्धमें जैन और वैदिक, दोनों दर्शनोंमें करीब ढाई हजार वर्ष पहलेसे दो पक्ष चले आते हैं। श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें दोनों पक्ष वर्णित हैं। दिगम्बर-ग्रन्थोंमें एक ही पक्ष नजर आता है।

(१) पहला पक्ष, कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। वह मानता है कि जीव और अजीव-द्रव्यका पर्याय-प्रवाह ही 'काल' है। इस पक्ष के अनुसार जीवाजीव-द्रव्यका पर्याय-परिणमन ही उपचारसे काल माना जाता है। इसलिये वस्तुतः जीव और अजीवको ही काल-द्रव्य समझना चाहिये वह उनसे अलग तत्त्व नहीं है। यह पक्ष 'जीवार्थमात्र' आदि आशयों में है।

आगमके बादके ग्रन्थोंमें, जैसे:—तत्त्वार्थसूत्रमें वाचक उमास्वातिने द्वैतशिकामे श्री सिद्धसेन दिवाकरने, विशेषावश्यक-माध्यमें श्रीजितभद्रगणिसमाश्रमणने, धर्मसंग्रहणीमें श्रीहरिभद्रसूरिने, योगशास्त्रमें, श्रीहेमचन्द्रसूरिने द्रव्य-गुण-पर्यायके रासमें श्री उपाध्याय यशोविजयजीने, लोकप्रकाशमें श्रीविनयविजयजी ने और नयचक्रसार तथा आगमसारमें श्रीदेवचन्द्रजीने आगम-गत उक्त दोनों पक्षोंका उल्लेख किया है। दिगम्बर-सम्प्रदायमें सिर्फ दूसरे पक्षका स्वीकार है, जो सबसे पहिले कीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें मिलता है। इसके बाद पूज्यपादस्वामी, भट्टारक श्रीअकलङ्कदेव, विद्यानन्दस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और बनारसीदास आदिने भी उस एक ही पक्षका उल्लेख किया है।

पहले पक्षका तात्पर्य:—पहला पक्ष कहता है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो व्यवहार, काल-साध्य बतलाये जाते हैं या नवी-नता-पुनरावृत्ति, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ, काल-साध्य बतलायी जाती हैं, वे सब क्रिया-विशेष (पर्याय-विशेष) के ही संकेत हैं। जैसे:—जीव या अजीवका जो पर्याय, अविभाज्य है, अर्थात् बुद्धिसे भी जिकसा दूसरा हिसा नहीं हो सकता, उस आखिरी अतिसूक्ष्म पर्यायको 'समय'

कहते हैं । ऐसे असंख्यात पर्यायोंके पुञ्जको 'आवलिका' कहते हैं । अनेक आवलिकाओंको 'मुहूर्त' और तीस मुहूर्तको 'दिन-रात' कहते हैं । दो पर्यायों मेंसे जो पहले हुआ हो, वह 'पुराण' और जो पीछेसे हुआ हो, वह 'नवीन' कहलाता है दो जीवधारियोंमेंसे जो पीछेसे जनमा हो, वह 'कनिष्ठ' और जो पहिले जनमा हो, वह 'ज्येष्ठ' कहलाता है । इस प्रकार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि समय, आवलिका आदि सब व्यवहार ओर नवीनता आदि सब व्यवहार और नवीनता आदि सब अवस्थाएँ, विशेष-विशेष प्रकार के प्रयायोंके ही अर्थात् निविभाग पर्याय और उनके छोटे-बड़े बुद्धि-कल्पित समूहोंके ही संकेत हैं । पर्याय, यह जीव-अजीवकी क्रिया है, जो किसी तत्त्वान्तरकी प्रेरणाके सिवाय ही हुआ करती है । अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-आपे पर्यायरूपमें आप ही परिणत हुआ करते हैं । इसलिये वस्तुतः जीव-अजीवके पर्याय-पुञ्जको ही काल कहना चाहिये । काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है ।

दूसरे पक्षका तात्पर्य — जिस प्रकार जीव-पुद्गलमें गति-स्थिति करने का स्वभाव होनेपर भी उस कार्यकेलिये निमित्तकारणरूपसे 'धर्म-अस्तिकाय' तत्त्व माने जाते हैं । इसी प्रकार जीव अजीवमें पर्याय-परिणमनका स्वभाव होनेपर भी उसकेलिये निमित्तकारणरूपसे काल-द्रव्य मानना चाहिये । यदि निमित्तकारणरूपसे काल न माना जाय तो धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय माननेमें कोई युक्ति नहीं ।

दूसरे पक्ष में मत-भेदः—कालको स्वतन्त्र द्रव्य माननेवालोंमें भी उसके स्वरूपके सम्बन्ध में दो मत हैं ।

(१) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्रमें.—ज्योतिष-चक्रके गति-क्षेत्र में-वर्तमान है । वह मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण होकर भी सम्पूर्ण लोकके परिवर्तनोंका निमित्त बनता है । काल, अपना कार्य, ज्योतिष-चक्रकी गतिकी मददसे करता है । इसलिये मनुष्य-क्षेत्रसे बाहर कालद्रव्य न मानकर उसे मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण ही मानना युक्त है । यह मत धर्मसंग्रहणी आदि श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें है ।

(२) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्र-वर्ती नहीं है; किन्तु लोक-व्यापी है। वह लोक व्यापी होकर भी धर्म-अस्तिकायकी तरह स्कन्ध नहीं है; किन्तु अणुरूप है। इसके अणुओंकी संख्या लोकाकाशके प्रदेशों से बराबर है। वे अणु, गतिहीन होनेसे जहाँके तहाँ अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर स्थित रहते हैं इनका कोई स्कन्ध नहीं बनता। इस कारण इनमें तिर्यक-प्रचल (स्कन्ध होनेकी शक्ति नहीं है। इसी सबबसे कालद्रव्यको अस्तिकायमें नहीं गिना है। तिर्यक-प्रचल न होनेपर भी ऊर्ध्व-प्रचल है। इससे प्रत्येक काल-अणुमें लगातार पर्याय हुआ करते हैं। ये ही पर्याय, 'समय' कहलाते हैं। एक-एक काल-अणुके अनन्त समय-पर्याय समझने चाहिये। समय-पर्याय ही अन्य द्रव्योंके प्रयायोंका निमित्तकारण है। नवीनता-पुराणता जयेष्ठता-कनिष्ठता आदि सब अवस्थाएँ, काल-अणुके समय-प्रवाह की बदौलत ही समझनी चाहिये। पुद्गल-परमाणुको लोक-आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक मन्दगतिसे जानेमें जितनी देर होती है, उतनी देरमें काल अणुका एक समय-पर्याय व्यक्त होता है। अर्थात् समय-पर्याय और एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तककी परमाणुकी मन्द गति, इन दोनों का परिमाण बराबर है। यह मन्तव्य दिगम्बर-ग्रन्थोंमें है।

वस्तु-स्थिति क्या है:—निश्चय-दृष्टिसे देखा जाय-तो कालको अलग द्रव्य माननेकी को कोई जरूरत नहीं है। उसे जीवाजीवके पर्यायरूप मानने से ही सब कार्य व सब व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं। इसलिये यही पक्ष, तात्त्विक है, अन्य पक्ष, व्यावहारिक व औपचारिक हैं। कालको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण माननेका पक्ष स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है। और उसे अणुरूप माननेका पक्ष औपचारिक है, ऐसा स्वीकार न किया जाय तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य-क्षेत्रसे बाहर भी तत्त्व-पुराणत्व आदि माव होते हैं, तब फिर कालको मनुष्य-क्षेत्रमें ही कैसे माना जा सकता है? दूसरे यह माननेमें क्या युक्ति है कि काल, ज्योतिष-चक्रके संचारकी अपेक्षा रखता है? यदि अपेक्षा रखता भी हो तो क्या वह लोक-व्यापी होकर ज्योतिष-चक्रके संचारकी मदद नहीं ले सकता? इसलिये उसको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण माननेकी कल्पना, स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है—कालको अणुरूप माननेकी कल्पना औपचारिक है। प्रत्येक पुद्गल-परमाणुको ही उपचारसे

कालाणु रामझना चाहिये और कालाणुके अप्रदेशत्वके कथनकी सङ्गति इसी तरह कर लेनी चाहिये ।

ऐसा न मानकर कालाणुको स्वतन्त्र माननेमें प्रश्न यह होता है कि यदि काल स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो फिर वह धर्म-अस्तिकायकी तरह स्वन्धरूप क्यों नहीं माना जाता है ? इसके सिवाय एक यह भी प्रश्न है कि जीव-अजीवके पर्यायमें तो निमित्तकारण समय-पर्याय है । पर समय-पर्यायमें निमित्तकारण क्या है ? यदि वह स्वाभाविक होनेसे अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता तो फिर जीव-अजीवके पर्याय भी स्वाभाविक क्यों न माने जायें ? यदि समय-पर्यायके वास्ते अन्य निमित्तकी कल्पना की जाय तो अनवस्था आती है । इसलिये अणु-पक्षको औपचारिक मानना ही ठीक है।

वैदिकदर्शनमें कालका स्वरूप:—वैदिकदर्शनोंमें भी कालके सम्बन्धमें मुख्य दो पक्ष हैं ।

वैशेषिकदर्शन-अ० २, आ० २, सूत्र ६—१७ तथा न्यायदर्शन, कालको सर्व-व्यापी स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । सांख्य-अ० २, सूत्र १२ योग तथा वेदान्त आदि दर्शन-कालको स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर उसे प्रकृति-पुरुष (जड़-चेतन)का ही रूप मानते हैं । यह दूसरा पक्ष, निश्चय-दृष्टि-मूलक है और पहला पक्ष, व्यवहार-मूलक ।

जैनदर्शनमें जिसको 'समय' और दर्शनान्तरोमें जिसको 'क्षण' कहा है, उसका स्वरूप जाननेकेलिये तथा 'काल' नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, वह केवल लौकिक-दृष्टिवाचोंकी व्यवहार-निर्वाहके लिये क्षणानुक्रमके विषयमें की हुई कल्पनामात्र है । इस बातको स्पष्ट समझनेकेलिये योग-दर्शन; पा० ३ सू० ५२ का भाष्य देखना चाहिये । उक्त भाष्यमें कालसंबन्धी जो विचार है, वही निश्चय-दृष्टि-मूलक; अत एव तात्त्विक ज्ञान पड़ता है ।

विज्ञानकी सम्मति:—अज-कल विज्ञानकी गति सत्य दिशाकी ओर है । इसलिये काल-सम्बन्धी विचारोंको उस दृष्टिके अनुसार भी देखना चाहिये । वैज्ञानिक लोग भी कालको दिशा की तरह कार्पनिक मानते हैं, वास्तविक नहीं ।

अतः सब तरहसे विचार करनेपर यही निश्चय होता है कि कालको अलग स्वतन्त्र द्रव्य माननेमें बहुत प्रमाण नहीं है ।

===

(३)-गुणस्थानाधिकार ।

(१)-गुणस्थानों में जीवस्थान ।

सर्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अण्जज सन्निदुगं ।

संसे सञ्जी दुविहो, सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥ ४५ ॥

सर्वाणि जीवस्थानानि मिथ्यान्वे, सप्त सासादने पञ्चापर्याप्ताः संज्ञिद्विकम् ।
सम्भवत्वे संज्ञी द्विविधाः, शेषेषु संज्ञिपर्याप्ताः ॥ ४५ ॥

अर्थ— मिथ्यात्वगुणस्थान में सब जीवस्थान हैं । सासादन में पाँच अपर्याप्त । बाहर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) तथा दो संज्ञी (अपर्याप्त और पर्याप्त) कुल सात जीवस्थान हैं । अवरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में दो संज्ञी (अपर्याप्त और पर्याप्त) जीवस्थान हैं । उक्त तीन के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों में पर्याप्त संज्ञीजीवस्थान है ॥ ४५ ॥

१- गुणस्थान में जीवस्थान का जो विचार यहाँ है, गोम्मटगार में उससे भिन्न प्रकार का है । उसमें दूसरे, छठे और तेरहवें गुणस्थान में अपर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान माने गए हैं । — जीव०, गा० ६६८ ।

गोम्मटसार का यह वर्णन, अपेक्षाकृत है । कर्मकाण्ड की ११३वीं गाथा में अपर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि को दूसरे गुणस्थान का अधिकारी मानकर उनको जीवकाण्ड में पहले गुणस्थानभाव का अधिकारी कहा है; सो द्वितीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवों की अल्पता की अपेक्षा से । छठे गुणस्थान के अधिकारी को अपर्याप्त कहा है; सो आहारकमिश्रकाययोग की अपेक्षा से । — जीवकाण्ड, गा० १२६ ।

तेरहवें गुणस्थान के अधिकारी मयोणी केवली को अपर्याप्त कहा है, सो योग की अपूर्णता की अपेक्षा से । — जीवकाण्ड, गा० १२५ ।

भावार्थ—एकैन्द्रियादि सब प्रकार से संसारी जीव निश्वासी पाये जाते हैं; इसलिये पहले गुणस्थान में सब जीवस्थान कहे गये हैं।

दूसरे गुणस्थान में सात जीवस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें छह अपर्याप्त हैं, जो सभी करण-अपर्याप्त समझने चाहिये; क्योंकि लविष-अपर्याप्त जीव, पहले गुणस्थानवाले ही होते हैं।

चौथे गुणस्थान में अपर्याप्त संज्ञी कहे गये हैं, सो भी उक्त कारणसे करण-अपर्याप्त ही समझने चाहिये।

पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य किसी प्रकार के जीव में ऐसे परिणाम नहीं होते, जिनसे वे पहले, दूसरे और तीये की छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों को पा सकें। इसीलिये इन ग्यारह गुणस्थानों में केवल पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना गया है ॥ ४५ ॥



(२)-गुणस्थानों में योग ।

[दो माथाओं से]

मिश्रद्वुगजजड़ योगा,—हारवुगुणा अपुठवपणगे उ ।

म १ वड़ उरलं सविउं,—स्वमीसि सविउठवदूग देसे ॥ ४६ ॥

मिध्यात्वद्विकायते योगा, आहारकद्विकोना अपूर्वपञ्चके तु ।

मनोवच औदारिकं सर्वक्रिय मिश्रे सर्वक्रियादिकं देसे ॥ ४६ ॥

अर्थ—मिध्यात्व, सासादन और अचिरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानों में आहारक-द्विक को छोड़कर तेरह योग हैं । अपूर्वकरण से लेकर पाँच गुणस्थानों में चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक, ये नौ योग हैं । मिश्रगुणस्थान में उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, ये दस योग हैं । देशविरतगुणस्थान में उक्त नौ तथा वैक्रिय-द्विक, कुल ग्यारह योग हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तेरह योग इस प्रकार हैं:—कर्मण्योग, विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में; वैक्रियमिश्र और औदारिकमिश्र, ये दो योग उत्पत्ति के प्रथम समय के अनन्तर अपर्याप्त-अवस्था में और चार मन के, चार वचन के, एक औदारिक तथा एक वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्था में । आहारक और आहारकमिश्र, ये दो योग चारित्र-साधन होने के कारण उक्त तीन गुणस्थानों में नहीं होते ।

१—गुणस्थानों में योग-विषयक विचार जैसा यहाँ है, वैसा ही पंच-संग्रह द्वा० १, गा० १६—१७ तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ६६—६९ में है ।

गोम्मटसार में कुछ विचार-भेद हैं । उक्त नौ पाँचवें और सातवें गुण-स्थान में नौ और छठ गुणस्थान में ग्यारह योग माने हैं । —जी०, गा० ७०३ ।

आठवें से लेकर बरहवें तक मान गुणस्थानों पर बहुत धीरा नहीं है। क्योंकि ये गुणस्थान विग्रहगति और आर्वाच्य-भक्ष्य में नहीं पाये जाते। अतएव इनमें कर्मण और औदात्त-विशेष ही हो पाया नहीं होते तथा ये गुणस्थान अवयव-वर्णना-वाच्य हैं। अतएव इनमें प्रमाव-जन्म-वर्णन-प्रयोग न होये कि कारण वेदाद्वय और आहूत-रत द्विक में कार्य होनी नहीं चाहिये।

नौवें से दसवें तक में आता-कर्मण और औदात्त-विशेष-वाच्य जन्म और कर्मण गुण-वर्णन-रत विग्रहगति-वाच्य प्रयोग है।

गह्वर-मन्त्र-वाच्य-प्रयोग है। वेदाद्वय-वाच्य-विग्रहगति-वाच्य और विग्रहगति-वाच्य-प्रयोग है। अतएव इनमें विग्रहगति-वाच्य नहीं होते, किन्तु आर्वाच्य-वर्णन-प्रयोग होकर प्रमाव-जन्म-वर्णन-प्रयोग नहीं है।

गह्वर-मन्त्र-वाच्य-प्रयोग है। वेदाद्वय-वाच्य-विग्रहगति-वाच्य और विग्रहगति-वाच्य-प्रयोग है। अतएव इनमें विग्रहगति-वाच्य नहीं होते, किन्तु आर्वाच्य-वर्णन-प्रयोग होकर प्रमाव-जन्म-वर्णन-प्रयोग नहीं है।

गह्वर-मन्त्र-वाच्य-प्रयोग है। वेदाद्वय-वाच्य-विग्रहगति-वाच्य और विग्रहगति-वाच्य-प्रयोग है। अतएव इनमें विग्रहगति-वाच्य नहीं होते, किन्तु आर्वाच्य-वर्णन-प्रयोग होकर प्रमाव-जन्म-वर्णन-प्रयोग नहीं है।

गह्वर-मन्त्र-वाच्य-प्रयोग है। वेदाद्वय-वाच्य-विग्रहगति-वाच्य और विग्रहगति-वाच्य-प्रयोग है। अतएव इनमें विग्रहगति-वाच्य नहीं होते, किन्तु आर्वाच्य-वर्णन-प्रयोग होकर प्रमाव-जन्म-वर्णन-प्रयोग नहीं है।

सत्त-अवस्था-भावी है; इसलिये उसमें छठे गुणस्थान वाले तेरह योगों में से उक्त दो योगों को छोड़कर पचाह योग माने गये हैं। वैक्रियशरीर या आहारक शरीर बना लेने पर अप्रमत्त-अवस्था का भी संभव है; इसलिये अप्रमत्त-गुणस्थान के योगों में वैक्रियकाययोग और आहारककाययोग की गणना है।

सयोगिकेवली को केवलिसमुद्घात के समय कार्मण और औदारिकनिश्च, ये दो योग, अन्य सब समय में औदारिककाययोग, अनुसर-विमानवासी देव आवि के प्रदत्त का मन से उतर देने के समय दो मनोयोग और वेशता के देने समय दो वचन योग होते हैं। इसीसे तेरहवें गुणस्थान में सात योग माने गये हैं।

केवली भगवान् सब योगों का निरोध करके अयोगि-अवस्था प्राप्त करते हैं; इसीलिये चौदहवें गुणस्थान में योगों का अभाव है ॥४७॥



(३)—गुणस्थानों में उपयोग ।

तिअनाणवुदंसाहम, दुगे अजइ वेसि नाणवंसजिगं ।

ते मीसि सीसा समणा, जयाइ केवलद अंतदगे ॥४८॥

व्यज्ञानद्विदर्शमादिमद्विकेऽप्येते देशे ज्ञानदर्शनत्रिकम् ।

ते मिश्रे मिश्राः समनमो, यथादिषु केवलद्विकमस्तद्विके ॥४८॥

अर्थ—मिथ्यात्व और सासावन, इन दो गुणस्थानों में तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पाँच उपयोग हैं । अविरतसम्यग्दृष्टि, वेशविरति, इन दो गुणस्थानों में तीन ज्ञान, तीन दर्शन, ये छह उपयोग हैं । मिश्रगुणस्थान में भी तीन ज्ञान, तीन दर्शन ये छह उपयोग हैं, पर ज्ञान-मिश्रित, अज्ञान-मिश्रित होते हैं । प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीण-मोहनीय तक सात गुणस्थानों में उक्त छह और मनः पर्यायज्ञान, ये सात उपयोग हैं । सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, इन दो गुणस्थानों में केवलज्ञान और केवल दर्शन, ये दो उपयोग हैं ॥४८॥

भाषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व का अभाव है; इसीसे उनमें सम्यक्त्व के सहचारी पाँच ज्ञान, अवधिवर्जन और केवलदर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, शेष पाँच होते हैं ।

तीसरे और पाँचवें गुणस्थान में मिथ्यात्व न होने से तीन अज्ञान सर्वविरति न होने से मनः पर्यायज्ञान और घातिकर्म का अभाव न होने से केवल-द्विक, ये कुल छह उपयोग नहीं होते, शेष छह होते हैं ।

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह भा० १ की १६—२०वीं, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ७०—७१वीं और गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ७०४वीं गाथा में है ।

तोहरे गुणस्थान में भी तीन दान और तीन दर्शन, ये ही सङ्ग उपयोग हैं । पर इष्टि, विधित (अङ्गशुद्धा-उभयरूप) होने के कारण ज्ञान, अज्ञान-मिश्रित होता है ।

छठे से बारहवें तक सात गुणस्थानों में निष्प्रवृत्त न होने का कारण अज्ञान-त्रिक नहीं है और घातिकर्म का अर्थ न होने के कारण केवल-द्विक नहीं है । इस तरह पाँच छोड़कर शेष सात उपयोग उनमें समझने चाहिये ।

सेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में घातिकर्म न होने से छद्मस्थ-अवस्था-सादी वम उपयोग नहीं होते, सिर्फ केवलज्ञान और केवल-दर्शन, ये दो ही उपयोग होते हैं ॥४८॥

सिद्धान्त के कुछ मन्तव्य ।

सासनभावे नाणं, विउक्वगाहारमे उरलमिस्सं ।

नेगिदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥

सामादनभावे ज्ञातं, वैकुटिकाहारक ओदारिकमिश्रम् ।

नेकेन्द्रियेसु सासादतं, नेहाधिकृतं श्रुनमतमपि ॥४९॥

अर्थ—सासादन-अवस्था में सन्मज्ञान, वैक्रियशरीर तथा आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग और एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान का अभाव, ये तीन बातें यद्यपि सिद्धान्त सम्मत हैं तथापि इस ग्रन्थ में इनका अधिकार नहीं है ॥४९॥

भावार्थ—कुछ विषयों पर सिद्धान्त और कर्मग्रन्थ का मत-भेद चला आता है । इनमें से तीन विषय इस गाथा में ग्रन्थकार ने दिखाये हैं:—

(क) सिद्धान्त^१ में दूसरे गुणस्थान के समय मति, श्रुत आदि को ज्ञान माना है, अज्ञान नहीं। इससे उलटा कर्मग्रन्थ में अज्ञान माना है, अज्ञान नहीं। सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि दूसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव यद्यपि मिथ्यात्व के संमुख है, पर मिथ्यात्वी नहीं; उसमें सत्यवत्त्व का अंश होने से कुछ विद्युद्धि है; इसलिये उसके ज्ञान को ज्ञान मानना चाहिये। कर्मग्रन्थ का आशय यह है कि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वी न सही, पर वह मिथ्यात्व के अभिमुख है; इसलिये उसके परिणाम में मात्स्न्य अधिक होता है; इससे उसके ज्ञान को अज्ञान कहना चाहिये।

१--भगवती में द्वीन्द्रियों को ज्ञानी भी कहा है। इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि सासादन-अवस्था में ज्ञान मान करके ही सिद्धान्ती द्वीन्द्रियों को ज्ञानी कहते हैं; क्योंकि उनमें दूसरे से आगे सब गुणस्थानों का अभाव ही है। पञ्चेन्द्रियों को ज्ञानी कहा है, उसका समर्थन तो तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानों की अपेक्षा से भी किया जा सकता है, पर द्वीन्द्रियों में तीसरे आदि गुणस्थानों का अभाव होने के कारण सिर्फ सासादन गुणस्थान की अपेक्षा से ही ज्ञानित्व घटाया जा सकता है। यह बात प्रज्ञापना-टीका में स्पष्ट लिखी हुई है। उसमें कहा है कि द्वीन्द्रिय को दो ज्ञान कैसे घट सकते हैं? उत्तर--उसको अपर्याप्त-अवस्था में सासादनगुणस्थान होना है, इस अपेक्षा से दो ज्ञान घट सकते हैं।

बेइन्द्रियाणं भंते । कि नाणी अज्ञानी ? गोयमा ! नाणी वि अण्णानी वि । जे नाणी ते नियमा बुनाणी । तं जहा - आभिणिबोहि-यनाणी सुयजाणी । जे अण्णानी ते वि नियमा बुअजाणी । तं जहा - सइ अजाणी सुयअजाणी य ।” --भगवती शतकं ८ उ० २।

“बेइन्द्रियस्स दो नाणा कहं लभंति ? अण्णइ, सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लभंति ।” --प्रज्ञापना टीका।

दूसरे गुणस्थान के समय कर्मग्रन्थ के मतानुसार अज्ञान माना जाता है, सो २० तथा ४८वीं गाथा से स्पष्ट है। गौम्मटसार में कर्मग्रन्थिक ही मत है। इसकेलिये देखिये, जीवकाण्ड की ६८६ तथा ७०४ वीं गाथा।

(ख) सिद्धान्त^१ का मानना है कि लब्धि द्वारा वैक्रिय और आहारक-शरीर बनाते समय औदारिकमिश्र काययोग होता है; पर त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। इसके स्थान में कर्मग्रन्थ का मानना है कि उक्त दोनों शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं। सिद्धान्त का अन्वय यह है कि लब्धि से वैक्रिय या आहारक-शरीर बनाया जाता है, उस समय इन शरीरों के योग्य पुद्गल, औदारिक शरीर के द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये औदारिक शरीर की प्रधानता होने के कारण उक्त दोनों शरीर बनाते समय औदारिक मिश्रकाययोग का व्यवहार करना चाहिये। परन्तु परिस्थान के समय औदारिक शरीर की प्रधानता नहीं रहती। उस समय वैक्रिय या आहारक शरीर का ही व्यापार मुख्य होने के कारण वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्र का व्यवहार करना चाहिये। कर्मग्रन्थिक-मत का तात्पर्य इतना ही है कि चाहे व्यापार किसी शरीर का प्रधान हो, पर औदारिक शरीर जन्म-सिद्ध है और वैक्रिय या आहारक-शरीर लब्धि-जन्य है; इसलिये निशिष्ट लब्धि-जन्य शरीर की प्रधानता को ध्यान में रखकर आरम्भ और

१ — यह मत प्रशापना के इस उल्लेख से स्पष्ट है:—

ओरासियसरीरकायपयोगे ओरासियसीसरीरपयोगे लेउब्धि-
यसरीरकायपयोगे आहारकसरीरकायपयोगे आहारकसीसरीरकाय-
पयोगे ।” पद० १६ तथा उसकी टीका, पृ० ३१७

कर्मग्रन्थ का मत तो ४६ और ४७वीं गाथा में पाँचवें और छठे गुणस्थान में क्रम से ग्यारह और तेरह योग दिखाये हैं, इसीसे स्पष्ट है।

गोस्मटसार का मतकर्मग्रन्थ के समान ही जान पड़ता है; क्योंकि उसमें पाँचवें और छठे किसी गुणस्थान में औदारिकमिश्रकाययोग नहीं माना है। देखिये. जीवकाण्ड की ७०३री गाथा।

परिस्थान, दोनों समय संक्रियमिथ और आहारकमिथ का व्यवहार करना चाहिये, औदारिकमिथ का नहीं।

(ग)--सिद्धान्ती, एकेन्द्रियों में सासादनगुणस्थान को नहीं मानते, पर कर्मग्रन्थिक मानते हैं।

उक्त विषयों के विचार अन्य विषयों में भी उन्हीं जहाँ दत्त-भेद है--

(१)--सिद्धान्ती, अवधिबर्जन को पहले बारह गुणस्थानों में मानते हैं, पर कर्मग्रन्थिक उसे चौथे से बारहवें तक नौ गुणस्थानों में, (२) सिद्धान्त में ग्रन्थि-भेद के अनन्तर आयोपशमिकसम्यक्तव का होना माना गया है, किन्तु कर्मग्रन्थ में औपशमिकसम्यक्तव का होना ॥४६॥



१--भगवती, प्रज्ञापना और जीवाभिगमसूत्र में एकेन्द्रियों को अज्ञानी ही कहा है। इससे सिद्ध है कि उनमें सासादन-भाव सिद्धान्त-सम्मत नहीं है। यदि सम्मत होता तो द्वीन्द्रिय आदि की तरह एकेन्द्रियों को भी ज्ञानी कहते।

‘एगिदियाणं भंते । किं भाणी अण्णाणो ? गोयमा ! नो नणी, नियमा अण्णाणी ।’

—भगवती-श० ८, उ० २।

एकेन्द्रिय से सासादन-भाव मानने का कर्मग्रन्थिक-मत पञ्चसंग्रह में निर्दिष्ट है। यथा:—

‘इगिविगिलेसु जुयलं’ इत्यादि।

—द्वा० १, गा० २८।

दिगम्बर-संप्रदाय में सिद्धान्तिक और कर्मग्रन्थिक दोनों मत संयुक्तीत हैं। कर्मकाण्ड की ११३ से ११५ तक की गाथा देखने से एकेन्द्रियों में सासादन-भाव का स्वीकार स्पष्ट मालूम होता है। तत्त्वार्थ, अ० १ के ८वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में तथा जीवकाण्ड की ६७७वीं गाथा में सिद्धान्तिक मत है।

(४-५)—गुणस्थानों में लेश्या तथा बन्ध-हेतु ।

छसु सव्वा तेजतिगं. इति छसु सुक्का अधोगि अत्तेसा ।

बन्धस्स मिच्छ अविरइ, -कसायजो गति चउ हेउ ॥५०॥

षट्सु सर्वास्तेजस्विकर्मकस्मिन् षट्सु शुक्लाऽयोगिनोऽलेष्याः ।

बन्धस्य मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा इति चत्वारो हेतवः ॥५०॥

अर्थ—पहले छह गुणस्थानों में छह लेश्याएँ हैं । एक (सातवें

गुणस्थान में लेश्या का लेश्या में गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में दो मत चले आते हैं । पहला मत पहले चार गुणस्थानों में छह लेश्याएँ और दूसरा मत पहले छह गुणस्थानों में छह लेश्याएँ मानता है । पहला मत पञ्चसंग्रह-द्वा० १ गा० ३०; प्राचीन बन्धस्वामित्व, गा० ४०; नवीन बन्धस्वामित्व, गा० २५; सर्वार्थसिद्धि, पृ० २४ और गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गा० ७०३ रीके भावार्थ में है । दूसरा मत प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ७३ में तथा यहाँ है । दोनों मत अपेक्षाकृत हैं, अतः इनमें कुछभी विरोध नहीं है ।

पहले मत का आशय यह है कि छहों प्रकार की द्रव्यलेश्यावालों को चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है, पर पाँचवाँ या छठा गुणस्थान सिर्फ तीन शुभ द्रव्यलेश्यावालों की । इसलिये गुणस्थान प्राप्ति के समय वर्तमान द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान पर्यन्त छह लेश्याएँ माननी चाहिये और पाँचवे और छठे में तीन ही ।

दूसरे मत का आशय यह है कि यद्यपि छहों लेश्याओं के समय चौथा गुणस्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओं के समय पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होता है; परन्तु प्राप्त होने के बाद चौथे, पाँचवे और छठे, तीनों गुणस्थानवालों में छहों द्रव्यलेश्याएँ पायी जाती हैं । इसलिये गुणस्थान-प्राप्ति के उत्तर-काल में वर्तमान द्रव्यलेश्याओं की अपेक्षा से छठे गुणस्थान पर्यन्त छह लेश्याएँ मानी जाती है ।

इस जगह यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि चौथा, पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होने के समय भावलेश्या ती शुभ ही होती है, अशुभ नहीं, पर प्राप्त होने के बाद भावलेश्या भी अशुभ हो सकती है ।

“सम्मत्तसुयं सव्वा सु-लहइ, सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।

पुणवपडिक्कण्णो पुण, अण्णयरोए उ लेसाए ।”

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० ८२२ ।

गुणस्थान में) तेजः, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ हैं। आठवें से लेकर तेरहवें तक छह गुणस्थानों में केवल शुक्ललेश्या है। चौदहवें गुणस्थान में कोई भी लेश्या नहीं है।

बन्ध-हेतु—कर्म-बन्ध के चार हेतु हैं।—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ कथाय और ४ योग ॥ ५० ॥

भावार्थ—प्रत्येक लेश्या, असंख्यात-लोकस्थान-प्रत्येक गुणस्थान-प्रत्येकस्थान (संलक्ष-मिश्रित परिणाम) रूप है; इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, आदि उतने ही भेद समझने चाहिये। अत एव कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं को छठे गुणस्थान में अतिमन्दतम और पहले गुणस्थान में अतितीव्रतम मानकर छह गुणस्थानों तक उनका सम्बन्ध कहा गया है। सातवें गुणस्थान में आतं तथा रौद्र-ध्यान न होने के कारण परिणाम इतने विद्युत् रहते हैं, जिससे उस गुणस्थान में अशुभ लेश्याएँ सर्वथा गहा होतीं; किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। पहले गुणस्थान में तेजः और पद्म-लेश्या को अतिमन्दतम और सातवें गुणस्थान में अति-

इसका विवेचन श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने भाष्य की २७४१ से-४२ तक की गाथाओं में, श्रीहरिभद्रसूरि ने अपनी टीका में और भलधारी श्रीहमचन्द्रसूरि ने भाष्यवृत्ति में विस्तारपूर्वक किया है। इस विषय के लिये लोकप्रकाश के ३२२ से ३२३ तक के श्लोक द्रष्टव्य हैं।

चौथा गुणस्थान प्राप्त होने के समय द्रव्यलेश्या शुभ और अशुभ, दोनों मानी जाती है और भावलेश्या शुभ ही। इसलिये यह शङ्का होती है कि क्या अशुभ द्रव्यलेश्यावालों को भी शुभ भावलेश्या होती है?

इसका समाधान यह है कि द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है कि दोनों समान ही होनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि मनुष्य तिथिन्व, जिनकी द्रव्यलेश्या अस्थिर होती है, उनमें तो जैसी द्रव्यलेश्या वैसी ही भावलेश्या होती है। पर देव-नारक, जिनकी द्रव्यलेश्या अवस्थित (स्थिर) मानी गयी है, उनके विषय में इससे उल्टा है। अर्थात् नारकों में अशुभ द्रव्यलेश्या के होते हुए भी भावलेश्या शुभ हो सकती है। इसी प्रकार शुभ द्रव्यलेश्यावाले देवों में भावलेश्या अशुभ भी हो सकती है। इस बात को खुलासे से समझने के लिये प्रज्ञापना का १७ वाँ पद तथा उसकी टीका देखनी चाहिये।

तीव्रतम, इसी प्रकार सुलक्ष्णेश्या को भी पहले गुणस्थान में अति-मन्त्रतम और तेरहवें में अतितीव्रतम मानकर उपर्युक्त रीति से गुण-स्थानों में उनका सम्बन्ध बतलाया गया है :

चार बन्ध-हेतु—(१) 'मिथ्यात्व', आत्मा का वह परिणाम है, जो

१—ये ही चार बन्ध-हेतु पञ्चसग्रह—द्वा० ४ की १ ली गाथा तथा कर्मकाण्ड की ७८६वीं गाथा में है। यद्यपि तत्त्वार्थ के ८वें अध्याय के १ ले सूत्र में उक्त चार हेतुओं के अतिरिक्त प्रमाद को भी बन्ध-हेतु माना है, परन्तु उसका समावेश अविरति, कषाय आदि हेतुओं में हो जाता है। जैसे:—विषय सेवनरूप प्रमाद, अविरति और लब्धि प्रयोगरूप प्रमाद, योग है। वस्तुतः कषाय और योग, ये दो ही बन्ध-हेतु समझने चाहिये; मिथ्यात्व और अविरति, कषाय के ही अन्तर्गत हैं। इसी अभिप्राय से पाँचवें कर्मग्रन्थ की गाथा में दो ही बन्ध-हेतु माने गये हैं।

इस जगह कर्म-बन्ध के सामान्य हेतु दिखाये हैं, सामान्यश्रयदृष्टि से; अत एव उन्हें अन्तरङ्ग हेतु समझना चाहिये। पहले कर्मग्रन्थ की ४४ से ६१ तक गाथाओं में; तत्त्वार्थ के ६ठे अध्याय के ११ से २६ तक के सूत्र में तथा कर्मकाण्ड की ८०० से ८१० तक की गाथाओं में हर एक कर्म के असग-असग बन्ध-हेतु कहे हुए हैं, सो व्यवहारदृष्टि से; अत एव उन्हें बहिरङ्ग हेतु समझना चाहिये।

शङ्का—प्रत्येक समय में वायु के सिवाय सात कर्मों का बाँधा जाना प्रज्ञापना के २४वें पद में कहा गया है; इसलिये ज्ञान, ज्ञानी आदि पर प्रद्वेष या उनका निहृव करने समय भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय की तरह अन्य कर्मों का बन्ध होता ही है। इस अवस्था में 'तत्त्वदोषनिहृव' आदि तत्त्वार्थ के ६ठे अध्याय के ११ से २६ तक के सूत्रों में कहे हुए आस्रव, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आदि कर्म के विशेष हेतु कैसे जा सकते हैं?

समाधान—तत्त्वदोषनिहृव आदि आस्रवों को प्रत्येक कर्म का जो विशेष हेतु कहा है, सो अनुभागबन्ध की अपेक्षा से, प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा से नहीं। अर्थात् किसी भी आस्रव के सेवन के समय प्रकृतिबन्ध सब प्रकार का होता है। अनुभागबन्ध में फर्क है। जैसे: ज्ञान, ज्ञानी, ज्ञानोपकरण आदि पर प्रद्वेष करने के समय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय की तरह अन्य प्रकृतिओं का बन्ध होता है, पर उस समय अनुभागबन्ध विशेषरूप से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्म का ही होता है। सारांश, विशेष हेतुओं का विभाग अनुभागबन्ध की अपेक्षा से किया गया है, प्रकृति-बन्ध की अपेक्षा से नहीं। —तत्त्वार्थ-अ० ६, सू० २७ की सवार्थ-सिद्धि।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होता है और जिससे कषाय, संशय आदि दोष पैदा होते हैं । (२) 'अविरति'- वह परिणाम है, जो अप्रत्याक्षयानामवरणकषाय के उदय से होता है और जो चारित्र को रोकता है । (३) 'कषाय', वह परिणाम है, जो चारित्र मोहनीय के उदय से होता है और जिससे अमा, विनय, सरलता, संतोष, गम्भीरता आदि गुण प्रगट होने नहीं पाते या बहुत-कम प्रमाण में प्रकट होते हैं । (४) 'योग', आत्म-प्रवेशों के परस्पर (बाध-व्यत्यय-) को कहते हैं, जो मन, वचन या शरीर के योग्य पुण्यों के आलम्बन से होता है ॥५०॥
बन्ध-हेतुओं के उत्तरमेव तथा गुणस्थानों में मूल बन्ध हेतु' ।

[दो गाथाओं से ।]

अभिगृहीतमभिगृहीतम्-चित्तिवेशिकरुद्विषयस्यैव ।

पञ्चमिष्यं चार अविरत, मणरकणानियमु छजियवहो ॥५१॥

आभिग्रहि कमनाभिग्रहिकामनिवेशिकसांशयिकमनाभोगम् ।

पञ्चमिथ्यात्वनि द्वादशाविरतयो, मनःकरणानियमः षड्जीववधः ॥५१॥

अर्प-मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं:—१ आभिग्रहिक, २ अनाभिग्रहिक
३ आभिनिवेशिक, ४ सांशयिक और अनाभोग ।

अविरति के चारह भेद हैं । जैसे:—मन और पाँच इन्द्रियाँ, इन छह को नियम में न रखना, ये छह तथा पृथ्वीकाय आदि छह कार्यों का बध करना, ये छह ॥५१॥

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह-टा० ४ की २ से ४ तक की गाथाओं में तथा गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की ७८६ से ७८८ तक की गाथाओं में है । गोम्मटसार में मिथ्यात्व के १ एकान्त, २ विपरित, ३ वैतथ्यिक ४ सांशयिक और ५ अज्ञान ये पाँच प्रकार हैं ।

अविरति के लिये जीवकाण्ड की २६ तथा ४७७वीं गाथा और कषाय व योग के लिये क्रमशः उसकी कषाय व योगमार्गणा देखनी चाहिये । तत्त्वार्थ के ८वें अध्याय के १ले सूत्र के भाष्य में मिथ्यात्व के अभिगृहीत और अनभिगृहीत, ये दो ही भेद हैं ।

भावार्थ—(१) तत्त्वकी परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धांत का पक्षपात करके अन्य पक्ष का खण्डन करना 'अभिग्रहिकमिथ्यात्व' है। (२) गुण-दोष की परीक्षा बिना किये ही सब पक्षों को बराबर समझना 'अनाभिग्रहिकमिथ्यात्व' है। (३) अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्व' है। (४) ऐसा वेद होगा या अन्य

१—सम्यक्त्व की कदापि अपरीक्षित सिद्धान्त का पक्षपात नहीं करता अतः एव जो व्यक्ति तत्त्व-परीक्षापूर्वक किसी-एक पक्ष को मानकर अन्य पक्ष का खण्डन करता है; वह 'अभिग्रहिक' नहीं है। जो कुलाचार मात्र से अपने को जैन (सम्यक्त्व) मानकर तत्त्व की परीक्षा नहीं करता, वह नाम से 'जैन' परन्तु वास्तुतः 'अभिग्रहिक मिथ्यात्व' है। माण्डूष्य मुनि आदि की तरह तत्त्व-परीक्षा करने में स्वयं असमर्थ लोग यदि गीताथं (यथार्थ-परीक्षक) के आश्रित हों तो उन्हें 'अभिग्रहिक-मिथ्यात्व' नहीं समझना क्योंकि गीताथं (यथार्थ-परीक्षक) के आश्रित रहने से मिथ्या पक्षपात का संभव नहीं रहता। धर्म संग्रह पृ० ६०

२—यह मन्द बुद्धि वाले व परीक्षा करने में असमर्थ साधारण लोगों में पाया जाता है ऐसे लोग अकसर कहा करते हैं कि सब धर्म बराबर हैं

३—सिर्फ उपयोग न रहने के कारण या मार्ग-दर्शक की गलती के कारण, जिसकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, वह 'अभिनिवेशिक मिथ्यात्व' नहीं है; क्योंकि यथार्थ-वक्ता मिलने पर उसका श्रद्धा सात्त्विक बन जाती है, अर्थात् यथार्थ-वक्ता मिलने पर भी श्रद्धा का विपरीत नहीं रहता दुरभिनिवेश है। यद्यपि श्रीसिद्धसेन दिखाकर, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाधमण आदि आचार्यों ने अपने-अपने पक्ष का समर्थन करके बहुत-कुछ कहा है तथापि उन्हें 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्व' नहीं कह सकते; क्योंकि उन्होंने अविच्छिन्न प्रावचनिक परंपरा के आधार पर शास्त्र-तात्पर्य को अपने-अपने पक्ष के अनुकूल समझकर अपने-अपने पक्ष का समर्थन किया है, पक्षपात से नहीं। इसके विपरीत जमालि गोष्ठामाहिल आदि ने शास्त्र-तात्पर्य को स्व-पक्ष के प्रतिकूल जानते हुए भी निज-पक्ष का समर्थन किया; इसलिये वे 'आभिनिवेशिक' कहे जाते हैं।

प्रकार का, वही जगह गुरु और धर्म के विरुद्ध में संदेह-शील बने रहना 'सांशयिकमिथ्यात्व' है। (५) विचार व विशेष ज्ञान का अभाव अर्थात् मोह को प्रगाढ़तम अवस्था 'अगाधोगमिथ्यात्व' है। इन पाँच में से अभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक, ये दो मिथ्यात्व, गुरु हैं और शेष तीन लघु; क्योंकि ये दोनों विपर्यास रूप न होने से तीव्र केल्शके कारण हैं और शेष तीन विपर्यास रूप होने से तीव्र केल्शके कारण नहीं हैं।

मन को अपने विषय में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन-अविरति है। इसी प्रकार रवचा, जिह्वा आदि पाँच इन्द्रियों की अविरति को भी समझ लेना चाहिये। पृथ्वी कायिक जीवों की हिंसा करना पृथ्वीकाय-अविरति है। शेष पाँच कार्यों की अविरति को इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। ये बारह अविरतियाँ मुख्य हैं। मृषा-वाच-अविरति, अदत्तदान-अविरति आदि सब अविरतियों का समावेश इन बारह में ही हो जाता है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का औद्यमिक-परिणाम ही मुख्यतया मिथ्यात्व कहलाता है। परन्तु इस जगह उससे होने वाली आभिग्रहिक आदि बाह्य प्रवृत्तियों को मिथ्यात्व कहा है। सो कार्य-कारण के भेद की विवक्षा न करके। इसी तरह अविरति, एक प्रकार का काका-

१—सूक्ष्म विषयों का संशय उच्च-कोटि के साधुओं में भी पाया जाता है, पर वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, क्योंकि अन्ततः—

“समेव सञ्च जीसकं, जं जिर्णेह पचेइयं ।”

इत्यादि भावना से जागम को प्रमाण मानकर ऐसे संशयों का निवर्तन किया जाता है। इसलिये जो संशय, आगम-प्रामाण्य के द्वारा भी विवृत नहीं होता, वह अन्ततः अनाचार का उत्पादक होने के कारण मिथ्यात्व रूप है।

—धर्म संग्रह पृ० ५१ ।

२—यह, एकेन्द्रिय आदि क्षुद्रतम जन्तुओं में और मूढ प्राणियों में होता है।

—धर्मसंग्रह, पृ० ५२ ।

यिक परिणाम ही है, परन्तु कारण से कार्य को निम्न न मानकर इस अगह मनोऽसंयम आदि को अविरति कहा है। देखा जाता है कि मन आदि का असंयम या जीव हिंसा ये सब कषाय-बन्ध ही हैं ॥५१॥

नव सोल कसाया पन,—र जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।

इगचउपणतिगुणेषु, चउतिदुइगपञ्चओ बंधो ॥५२॥

नव षोडश कसायाः पञ्चदश योगा इत्युत्तरास्तु सप्तपञ्चाशत् ।

एकचतुष्पञ्चत्रिगुणेषु, चतुस्त्रिहो कप्रत्ययो बन्धः ॥५२॥

अर्थ—कषाय के नौ और सोलह, कुल पच्चीस भेद हैं। योग के पन्ध्रह भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

एक (पहले) गुणस्थान में चारों हेतुओं से बन्ध होता है। दूसरे से पाँचवें तक चार गुणस्थानों में तीन हेतुओं से छठे से बसवें तक पाँच गुणस्थानों में दो हेतुओं से और ग्यारहवें से तेरहवें तक तीन गुणस्थानों में एक हेतु से बन्ध होता है ॥५२॥

भावार्थ—हास्य, रति आदि नौ नोकषाय और अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि सोलह कषाय हैं, जो पहले कर्मग्रन्थ में कहे जा चुके हैं। कषाय के सहचारी तथा उत्तेजक होने के कारण हास्य आदि नौ, कहलाते 'नोकषाय' हैं पर हैं वे कषाय ही।

पन्ध्रह योगों का विस्तारपूर्वक वर्णन पहिले २४वीं राधा में हो चुका है। पच्चीस कषाय, पन्ध्रह योग और पूर्व राधा में कहे हुए पाँच मिथ्यात्व तथा बारह अविरतिपा, ये सब मिलाकर सत्तावन बन्ध-हेतु हुए।

गुणस्थानों में मूल बन्ध-हेतु।

पहले गुणस्थान के समय मिथ्यात्व आदि चारों हेतु पाये जाते हैं, इसलिये उस समय होने वाले कर्म बन्ध में वे चारों कारण हैं।

दूसरे आदि चार गुणस्थानों में मिथ्यात्वोदय के सिवाय अन्य सब हेतु रहते हैं; इससे उस समय होने वाले कर्म-बन्ध में तीन कारण माने जाते हैं। छठे आदि पाँच गुणस्थानों में मिथ्यात्व की तरह अविरति भी नहीं है; इसलिये उस समय होने वाले कर्म-बन्ध में कषाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में कषाय भी नहीं होता; इस कारण उस समय होने वाले बन्ध में सिर्फ योग ही कारण माना जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है; अतः एक उसमें बन्ध का एक भी कारण नहीं रहता ॥५२॥

एक सौ बीस प्रकृतियों के यथासंभव मूल बन्ध हेतु^१ ।

चतुर्मिथ्यामिथ्याऽविरतिप्रत्ययिकाः—पञ्चद्विंश सायसोलपणतीसा ।

जोग विष्णु तिरस्चद्विंश—हारगजिणचज्ज सेसाओ ॥५३॥

चतुर्मिथ्यामिथ्याऽविरतिप्रत्ययिकाः सातषोडशपञ्चविंशतः ।

योगान् विना त्रिप्रत्ययिका आहारकजिनवजंशेषाः ॥५३॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओं से होता है। तरक-त्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्वमात्र से होता है। तिर्यञ्च-त्रिक आदि पैंतीस प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व और अविरति, इन दो हेतुओं से होता है। तीर्थङ्कर और आहारक-द्विक को छोड़कर शेष सब (ज्ञानावरणीय आदि पैंसठ) प्रकृतियों का बन्ध, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय, इन तीन हेतुओं से होता है ॥५३॥

भावार्थ—बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। इनमें से सात-वेदनीय का बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओं से होने वाला) कहा गया है। सो इस अपेक्षा से कि वह पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से, छठे आदि चार गुणस्थानों में

कषाय से और ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में योग से होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानों में उसके सब मिलाकर चार हेतु होते हैं।

नरक-त्रिक, जाति-चतुष्क, स्थायर-चतुष्क, दृढसंस्थान, आत-पनामकर्म, सेवार्त्तसंहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व-हेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ मिलीं पहले गुणस्थान में बाँधी जाती हैं।

तिर्यञ्च-त्रिक, स्त्यानद्धि-त्रिक, दुर्भग-त्रिक, अनन्तानुबन्धचतुष्क, मध्यम संस्थान-चतुष्क, मध्यम संहनन-चतुष्क, तीक्ष्णोत्र, उद्योतनामकर्म, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद, सञ्चर्यभनाराचसंहनन, मनुष्य-त्रिक, अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क और औदारिक-द्विक, इन पैंतीस प्रकृतियों का बन्ध द्वि-हेतुक है; क्योंकि ये प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से और दूसरे आदि यथासंभव अगले गुणस्थानों में अविरति बाँधी जाती हैं।

सातवेदनीय, नरक-त्रिक आदि उक्त सोलह, तिर्यञ्च-त्रिक आदि उक्त पैंतीस तथा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-त्रिक, इन पचपन प्रकृतियों को एक सौ घोस में से छटा देने पर पैंसठ शेष बचती हैं। इन पैंसठ प्रकृतियों का बन्ध त्रि-हेतुक इस अपेक्षा से समझना चाहिये कि वह पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से और छठे आदि चार गुणस्थानों में कषाय से होता है।

यद्यपि मिथ्यात्व के समय अविरति आदि अगले तीन हेतु, अविरति के समय कषाय आदि अगले दो हेतु और कषाय के समय योग-रूप हेतु अवश्य पाया जाता है। तथापि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व-की, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरतिकी और छठे आदि चार गुणस्थानों में कषाय की प्रधानता तथा अन्य हेतुओं की अग्रधानता है, इस कारण इन गुणस्थानों में क्रमशः केवल मिथ्यात्व, अविरति व कषाय को बन्ध-हेतु कहा है।

इस जगह तीर्थङ्करनामकर्म के बन्ध का कारण सिर्फ सम्यक्त्व और आहारक-द्विक के बन्ध का कारण सिर्फ संयम विवक्षित है; इसलिये इन तीन प्रकृतियों की गणना कषाय-हेतुक प्रकृतियों से नहीं की है ॥५३॥

गुणस्थानों में उत्तर बन्ध-हेतुओं का सामान्य तथा विशेष वर्णन ।

[पाँच गाथाओं से]

एणपन्न पन्न तियच्छहि-अच्चत्त गुणच्चत्त छच्चउदुगवीसा ।

सोलस वस नव नव स-स हेउणो न उ अजोणिभि ॥५४॥

१—पञ्चसंग्रह-द्वार ४ की १६वीं गाथा में—

‘सेसा उ कसाएहि ।’

इस पद से तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियों को कषाय-हेतुक माना है तथा अग्राही की २०वीं गाथा में सम्यक्त्व को तीर्थङ्करनामकर्म का और संयम का आहारक-द्विक का विशेष हेतु कहा है। तत्त्वार्थ-अ० ६वें के १ ले सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में भी इन तीन प्रकृतियों को कषाय-हेतुक माना है। परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरि ने इन तीन प्रकृतियों के बन्ध को कषाय-हेतुक नहीं कहा। उनका तात्पर्य सिर्फ विशेष हेतु दिखाने का जान पड़ता है, कषाय के निषेध का नहीं; क्योंकि सब कर्म के प्रकृति और प्रदेश-बन्ध में योग की तथा स्थिति और अन्तर्भाग-बन्ध में कषाय की कारणता निर्विवाद सिद्ध है। इसका विशेष विचार, पञ्चसंग्रह-द्वार ४ की २०वीं गाथा की श्रीमलयगिरि-टीका में देखने योग्य है।

२—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वार ४ की २१वीं गाथा में तथा गोम्मट-सार कर्मकाण्ड की ७८६ और ७८७वीं गाथा में है।

उत्तर बन्ध-हेतु के सामान्य और विशेष, ये दो भेद हैं। किसी एक गुणस्थान में वर्तमान संपूर्ण जीवों में युगपत् पाये जाने वाले बन्ध-हेतु, ‘सामान्य’ और एक जीव में युगपत् पाये जाने वाले बन्ध-हेतु ‘विशेष’ कहलाते हैं। प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ७७वीं गाथा में और इस जगह सामान्य-उत्तर बन्ध-हेतु का वर्णन है; परन्तु पञ्चसंग्रह और गोम्मटसार में सामान्य और विशेष, दोनों प्रकार के बन्ध-हेतुओं का। पञ्चसंग्रह की टीका में यह विषय बहुत स्पष्टता से समझाया है। विशेष उत्तर बन्ध-हेतु का वर्णन अतिविस्तृत और गम्भीर है।

— पञ्चपञ्चाशत् पञ्चाशत् त्रिकण्डविकचत्वारिंशदेकोनचत्वारिंशत् षट्चतु-
द्विंशतिः ।

षोडश दश नव नव सप्त हेतवो नत्वयोगिनि ॥ ५४ ॥

अर्थ—पहले गुणस्थान में पचपन बन्ध-हेतु हैं, दूसरे में पचास, तीसरे में तेतालीस, चौथे में छयालीस, पाँचवें में उन्तालीस, छठे में छब्बीस, सातवें में बीस, आठवें में बारह, नौवें में सोलह, दसवें में दस, ग्यारहवें और बारहवें में नौ तथा तेरहवें में सात बन्ध-हेतु हैं, चौदहवें गुणस्थान में बन्ध-हेतु नहीं हैं ॥ ५४ ॥

पणपन्नमिच्छि हारग, - दुगुण सासाणि पन्नमिच्छि विणा ।

मिस्सदुगकमअणविणु, तिचत्त मीसे अह छच्चत्ता ॥ ५५ ॥

सवुमिस्सकम अजए, अविरडकम्भुरलमीसविकसाये ।

मुत्तुगुणचत्त बेसे, छब्बीस साहरद्द पमत्ते ॥ ५६ ॥

अविरड्दगारतिकसा, - यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।

चउब्बीस अपुठ्वे पुण, दुवीस अविउट्ठिवधाहारा ॥ ५७ ॥

पञ्चपञ्चाशन्मिथ्यात्व आहारकद्विकोनाः सासादने पञ्चमिथ्यात्वानि विना ।

मिश्रद्विककर्मणाऽनान्विना, त्रिचत्वारिंशन्मिश्रेऽप्य षट्चत्वारिंशत् ॥ ५५ ॥

सद्विमिश्रकर्मा अयतेऽविरतिकमौदारिकमिथीद्वितीयकपायान् ।

मुक्त्वैकोनचत्वारिंशद्देशे, षट्द्विंशतिः साहारकाद्विकाः प्रमत्ते ॥ ५६ ॥

अविरत्येकादशकतृतीयकपायवर्जा अप्रमत्ते मिश्रद्विकरहिता ।

चतुर्विंशतिरपूर्वे पुनर्द्वाविंशतिरर्धक्रियाहाराः ॥ ५७ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में आहारक-द्विक को छोड़कर पचपन बन्ध-हेतु हैं । सासादनगुणस्थान में पाँच मिथ्यात्व के सिवाय पचास बन्ध-हेतु हैं । मिश्रदृष्टिगुणस्थान में औदारिकमिश्र, प्रक्रियमिश्र,

कर्मण और अनस्तानुबन्धि-चतुष्क, इन सात को छोड़कर तेतालीस बन्ध-हेतु हैं ।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में पूर्वोक्त तेतालीस तथा कर्मण, औदारिकमिथ और वैक्रियमिथ, ये तीन, कुल छयालीस बन्ध-हेतु हैं । देशविरतिगुण स्थान में कर्मण, औदारिकमिथ, त्रस-अविरति और अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क, इन सात के सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध-हेतु हैं । प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ग्यारह अविरतियाँ, प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क, इन पन्द्रह को छोड़कर उक्त उन्तालीस में से चौबीस तथा आहारक-द्विक, कुल छब्बीस बन्ध-हेतु हैं ।

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में पूर्वोक्त छब्बीस में से मिथ-द्विक (वैक्रिय-मिथ और आहारकमिथ) के सिवाय शेष चौब्बीस बन्ध हेतु हैं । अपूर्वकरणगुणस्थान में वैक्रियकाययोग और आहारककाययोग को छोड़कर बाईस हेतु हैं ॥५५॥ ॥५६॥ ॥५७॥

सावार्थ—५१ और ५२वीं गाथा में सत्तावन उत्तर बन्ध-हेतु कहे गये हैं । इनमें से आहारक-द्विकके सिवाय शेष पचपन बन्ध-हेतु पहले गुणस्थान में पाये जाते हैं । आहारक-द्विक संयम-सापेक्ष है और इस गुणस्थान में संयम का अभाव है, इसलिये इसमें आहारक-द्विक नहीं होता ।

दूसरे गुणस्थान में पौखों मिथ्यात्व नहीं हैं, इसी से उनको छोड़कर शेष पचास हेतु कहे गये हैं । तीसरे गुणस्थान में अनस्तानुबन्धि-चतुष्क नहीं है, क्योंकि उसका उदय दूसरे गुणस्थान तक ही है तथा इस गुणस्थान के समय मृत्यु न होने के कारण अपर्याप्त-अवस्था-भावी कर्मण, औदारिकमिथ और वैक्रियमिथ, ये तीन योग भी नहीं होते । इस प्रकार तीसरे गुणस्थान में सात बन्ध-हेतु घट जाने से उक्त पचास में से शेष तेतालीस हेतु हैं ।

चौथा गुणस्थान अपर्याप्त-अवस्था में भी पाया जाता है; इसलिये इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण, औदारिकमिथ और वैक्रिय-मिथ, इन तीन योगों का सम्भव है। तीसरे गुणस्थान सम्बन्धी उन्तालीस और ये तीन योग, कुल छयालीस जन्य-हेतु चौथे गुणस्थान में समझने चाहिये। अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क चौथे गुणस्थान तक ही उदयमान रहता है, आगे नहीं। इस कारण वह पाँचवें गुणस्थान में नहीं पाया जाता। पाँचवाँ गुणस्थान देशविरति रूप होने से इसमें व्रत-हिंसा रूप व्रत-अविरति नहीं है तथा यह गुणस्थान केवल पर्याप्त-अवस्था-भावी है; इस कारण इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिक मिथ, ये दो योग भी नहीं होते। इस तरह चौथे गुणस्थान सम्बन्धी छयालीस हेतुओं में से उक्त सात के सिवाय शेष उन्तालीस जन्य-हेतु पाँचवें गुणस्थान में हैं। इन उन्तालीस हेतुओं में शैक्रियमिथ काययोग शामिल है, पर वह अपर्याप्त-अवस्था-भावी नहीं, किन्तु शैक्रियमिथ-जन्य, जो पर्याप्त अवस्था में ही होता है। पाँचवें गुणस्थान के समय संकल्प-जन्य व्रत-हिंसा का सम्भव ही नहीं है। आरम्भ-जन्य व्रत-हिंसा का संभव है सही, पर बहुत कम; इसलिये आरम्भ-जन्य अति-अल्प व्रत-हिंसा की विवक्षा न करके उन्तालीस हेतुओं में व्रत-अविरति की गणना नहीं की है।

छठा गुणस्थान सर्वविरतिरूप है; इसलिये इसमें शेष ग्यारह अविरतिर्गो नहीं होती। इसमें प्रत्याख्यानावरण काय-चतुष्क, जिसका उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त ही रहता है, नहीं होता। इस तरह पाँचवें गुणस्थान-सम्बन्धी उन्तालीस हेतुओं में से पन्नाह छटा बने पर शेष बीस रहते हैं। ये बीसवीं तथा आहारक-द्विक, कुल छबीस हेतु छठे गुणस्थान में हैं। इस गुणस्थान में चतुर्विंशपूर्व-धारी मुनि आहारकलब्धि के प्रयोग द्वारा आहारकशरीर रखते हैं इसीसे छबीस हेतुओं में आहारक-द्विक परिगणित है।

वैक्रियशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय वैक्रियमिथ तथा आहारकशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय आहारकमिथ-योग होता है, पर उस समय प्रमत्त-भाव होनेके कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता। इस कारण इस गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें ये दो योग नहीं गिने गये हैं।

वैक्रियशरीरवालेको वैक्रियकाययोग और आहारकशरीरवालेको आहारककाययोग होता है। ये दो शरीरवाले अधिकसे अधिक सातवें गुणस्थानके ही अधिकारी हैं; आगेके गुणस्थानोंके नहीं। इस कारण आठवें गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें इन दो योगोंको नहीं गिना है ॥४५, ४६, ४७॥

अष्टहास सोल वायरि, सुष्टुमे दस धेयसंजलणति विष्ठा ।
स्त्रीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुष्पुत्त समजोगा ॥५८॥

अष्टहासः षोडश बादरे, सूक्ते दश वेदसंज्वलनप्रिकाहिना ।

स्त्रीणोपशान्तेऽलोभाः, सयोगिनि पूर्वोक्तास्तसयोगाः ॥५८॥

अर्थ—अनिष्टसिद्धादरसंपरायगुणस्थानमें द्वास्त्य-यदूकके सिवाय पूर्वोक्त बाईसमेंसे शेष सोलह हेतु हैं। सूदमसंपरायगुणस्थानमें तीन वेद और तीन संज्वलन (लोभको छोड़कर)के सिवाय दस हेतु हैं। उपशान्तमोह तथा स्त्रीणमोह-गुणस्थानोंमें संज्वलनलोभके सिवाय भी हेतु तथा सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सात हेतु हैं; जो सभी योगरूप हैं ॥५८॥

भावार्थ—द्वास्त्य-यदूकका उदय आठवेंसे आगेके गुणस्थानोंमें नहीं होता; इसलिये उसे छोड़कर आठवें गुणस्थानके बाईस हेतुओंमेंसे शेष सोलह हेतु नौवें गुणस्थानमें समझने चाहिये।

तीन वेद तथा संज्वलन-क्रोध, मान और माया, इन छहका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है; इस कारण इन्हें छोड़कर शेष दस हेतु दसवें गुणस्थानमें कहे गये हैं।

संज्वलनलोभका उदय वसुधै गुणस्थान तक हो रहता है; इसलिये इसके सिवाय उक्त वसुधैसे शेष नौ हेतु ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें पाये जाते हैं। नौ हेतु ये हैं:—चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग।

नेरहवें गुणस्थानमें सात हेतु हैं:—सत्य और असत्यामृषमनोयोग, सत्य और असत्यामृषवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग तथा कर्मणकाययोग।

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है; इसलिये इसमें बन्ध-हेतु सर्वथा नहीं है ॥ ५८ ॥



(६)—गुणस्थानोंमें बन्ध ।

अप्रमत्तता सत्त, - दृ मीसअपुब्बभायरा सत्त ।

बन्धइ वस्सुहुमो ए, - गमुवरिमा बन्धगाऽजोगी ॥५६॥

अप्रमत्तान्तास्ससाद्यान् मिभापूर्ववादरास्सत्त ।

बन्धाति षट् च सूदम एकमुपरित्ता अबन्धकोऽयोगी ॥५७॥

अर्थ—अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ प्रकृतिश्रोंका बन्ध होता है । मित्र, अपूर्णकरण और अनिष्टुतिबादर-गुणस्थानमें सात प्रकृतिश्रोंका, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें छह प्रकृतिश्रोंका और उपशान्तमोह आदि तीन गुणस्थानोंमें एक प्रकृतिका बन्ध होता है । अयोगिकेवलीगुणस्थानमें बन्ध नहीं होता ॥५६॥

भावार्थ—तीसरेके सिवाय पहिलेसे लेकर सातवें तकके छह गुणस्थानोंमें मूल कर्मप्रकृतियाँ सात या आठ बाँधी जाती हैं । आयु बाँधनेके समय आठका और उसे न बाँधनेके समय सातका बन्ध समझना चाहिये ।

तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें आयुका बन्ध न होनेके कारण सातका ही बन्ध होता है । आठवें और नौवें गुणस्थानमें परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उनमें आयु-बन्ध-योग्य परिणाम ही नहीं रहते और तीसरे गुणस्थानका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें आयुका बन्ध नहीं होता ।

दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयका बन्ध न होनेके कारण छहका बन्ध माना जाता है । परिणाम अतिविशुद्ध हो जानेसे आयु-

१—यहाँमें दसवीं गाथा तकका विषय, पञ्चसंग्रहके ५वें श्रावकी २री, ३री और ५वीं गाथामें है ।

का बन्ध और आदरकपायोदय न होनेसे मोहनीयका बन्ध उसमें वर्जित है ।

भ्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें केवल सातवेदनीयका बन्ध होता है; क्योंकि उनमें कथायोदय सर्वथा न होनेसे अन्य प्रकृतिओंका बन्ध असंभव है ।

सारांश यह है कि तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें सातका ही बन्धस्थान; पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमें सातका तथा आठका बन्धस्थान; दसवेंमें छहका बन्धस्थान और भ्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें एकका बन्धस्थान होता है ॥५६॥



(७-८)—गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय ।

आसुद्धमं संतुदये, अष्ट वि मोह विणु सत्त खीणंमि ।
चउ चरिमदुगे अष्ट उ, संते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

आसुद्धमं संतुदयेऽपि मोहं विना सत्त खीणे ।

चत्वारि चरमद्विकेऽष्ट तु, सत्तुपशान्ते सतोदये ॥६०॥

अर्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मकी सत्ता तथा आठ कर्मका उदय है । क्षीणमोहगुणस्थानमें सत्ता और उदय, दोनों सात कर्मोंके हैं । सयोगिकेवली और अयोगिकेवली-गुणस्थानमें सत्ता और उदय चार कर्मोंके हैं । उपशान्तमोहगुणस्थानमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है ॥६०॥

भावार्थ—पहले दस गुणस्थानोंमें सत्ता-गत तथा उदयमान आठ कर्म पाये जाते हैं । ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सत्ता-गत रहता है, पर उदयमान नहीं; इसलिये उसमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है । बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, इसलिये सत्ता और उदय दोनों सात कर्मके हैं । तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सत्ता-गत और उदयमान चार अशक्तिकर्म ही हैं ।

सारांश यह है कि सत्तास्थान पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें आठका, बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है तथा उदय स्थान पहले दस गुणस्थानोंमें आठका, ग्यारहवें और बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है ॥६०॥



(९)—गुणस्थानोंमें उदीरणा ।

[दो गाथाओंसे ।]

उद्हरन्ति प्रमत्तान्ता, सगट् भीसद् वेयञ्चाउ विणा ।

छग अपमत्ताइ तञ्चो, छ पंच सुहुमो पणुबसंतो ॥६१॥

उदीरयन्ति प्रमत्तान्ताः, सताष्टानि मिश्रोऽष्ट वेदायुषी विना ।

पट्कमप्रमत्तादयस्ततः, पट् पञ्च सूक्ष्मः पञ्चोपशान्तः ॥६१॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है । मिश्रगुणस्थानमें आठ कर्मकी, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबाधर, इन तीन गुणस्थानोंमें वेदनीय तथा आयुके सिवाय छह कर्मकी; सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें छह या पाँच कर्मकी और उपशान्तमोहगुणस्थानमें पाँच कर्मकी उदीरणा होती है ॥६१॥

भाषार्थ—उदीरणाका विचार समझनेके लिये यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये कि जो कर्म उदयमान हो उसीकी उदीरणा होती है, अनुदयमानकी नहीं । उदयमान कर्म आधलिका-प्रमाण शेष रहता है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है ।

तोसरेको छोड़ प्रथमसे छठे तकके पहले पाँच गुणस्थानोंमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है । आयुकी उदीरणा न होनेके समय सात कर्मकी और होनेके समय आठ कर्मकी समझनी चाहिये । उस नियमके अनुसार आयुकी उदीरणा उस समय रुक जाती है, जिस समय वर्तमान भवकी आयु आधलिका-प्रमाण शेष रहती है । यद्यपि वर्तमान-भवीय आयुके आधलिकामात्र बाकी रहनेके समय पर-भवीय आयुकी स्थिति आधलिकासे अधिक होती है तथापि अनु-

न्यमान होनेके कारण उसकी उद्दीरणा उक्त नियमके अनुसार नहीं होती ।

तीसरे गुणस्थानमें आठ कर्मकी ही उद्दीरणा मानी जाती है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मृत्यु नहीं होती । इस कारण आयुकी अन्तिम आवलिकामें, जब कि उद्दीरणा रुक जाती है, इस गुणस्थानका संभव ही नहीं है ।

सातवें, आठवें और दौधें गुणस्थानमें छह कर्मकी उद्दीरणा होती है, आयु और वेदनीय कर्मकी नहीं । इसका कारण यह है कि इन दो कर्मोंकी उद्दीरणाकेलिये जैसे अध्यवसाय आवश्यक हैं, उक्त तीन गुणस्थानोंमें अतिविशुद्धि होनेके कारण जैसे अध्यवसाय नहीं होते ।

दसवें गुणस्थानमें छह अथवा पाँच कर्मकी उद्दीरणा होती है । आयु और वेदनीयकी उद्दीरणा न होनेके समय छह कर्मकी तथा उक्त दो कर्म और मोहनीयकी उद्दीरणा न होनेके समय पाँचकी समझना चाहिये । मोहनीयकी उद्दीरणा दशम गुणस्थानकी अन्तिम आवलिकामें रुक जाती है । सो इसलिये कि उस समय उसकी स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें आयु, वेदनीय और मोहनीयकी उद्दीरणा न होनेके कारण पाँचकी उद्दीरणा होती है । इस गुणस्थानमें उदयमान न होनेके कारण मोहनीयकी उद्दीरणा निषिद्ध है ॥६१॥



(१०)—गुणस्थानोंमें अल्प-बहुत्व ।

[दो गायामंत्रोंसे ।]

पण दो स्त्रीण दु जोगी, -गुदीरगु अजोगि थोव उचसंता ।
संखगुण स्त्रीण सुहुमा, -नियट्टीअपुव्व सम अहिया ॥६२॥

पञ्च द्वे क्षीणो द्वे योग्यनुदोरकोऽयोगी स्तोका उपशान्ताः ।

संख्यगुणाः स्त्रीणाः सूक्ष्माऽनिवृत्त्यपूर्वाः समा आर्धकाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—क्षीणमोहगुणस्थानमें पाँच या दो कर्मकी उद्दीरणा है और सयोगिकेवलोगुणस्थानमें सिर्फ दो कर्मकी । अयोगिकेवलोगुणस्थानमें उद्दीरणाका प्रमाण है ।

उपशान्तमोहगुणस्थान-वर्ती जीव सबसे थोड़े हैं । क्षीणमोहगुणस्थान-वर्ती जीव उनसे संख्यातगुण हैं । सूक्ष्मसंपराय, अनिवृत्तिबाधर और अपूर्वकरण, इन तीन गुणस्थानोंमें धनमान जीव क्षीणमोहगुणस्थानवालोंसे विशेषाधिक हैं, पर आपसमें तुल्य हैं ॥६॥

भाषा—बारहवें गुणस्थानमें अन्तिम आधालिकाको छोड़कर अन्य सब समयमें आयु, वेदनीय और मोहनीयके सिवाय पाँच कर्मकी उद्दीरणा होती रहती है । अन्तिम आधालिकामें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकी स्थिति आधालिका-प्रमाण शेष रहती है । इसलिये उस समय उनकी उद्दीरणा रुक जाती है । शेष दो (नाम और गोत्र) की उद्दीरणा रहती है ।

तेरहवें गुणस्थानमें चार अधालिकर्म ही शेष रहते हैं । इनमेंसे आयु और वेदनीयकी उद्दीरणा तो पहलेसे ही रुकी हुई है । इसी कारण इस गुणस्थानमें दो कर्मकी उद्दीरणा आनी गई है ।

१—यह विषय, पञ्चमं प्रश्न-द्वार २को ८० और ८१ वा गायामंत्रों में गोमयसार-जीवकों ६२से ६२= तककी गायामंत्रोंमें कुछ भिन्नरूपसे है ।

औरदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है। योगके सिवाय उदीरणा नहीं हो सकती, इस कारण इसमें उदीरणाका अभाव है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थानमें आठवींका उदीरणास्थान, पहली, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठेमें सातका तथा आठका, सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थानकी एक आवलिका बाकी रहे तब तक छहका, दसवेंकी अन्तिम आवलिकासे बारहवें गुणस्थानकी खरम आवलिका शेष रहे तब तक पाँचका और बारहवेंकी खरम आवलिकासे तेरहवें गुणस्थानके अन्त तक दोका उदीरणास्थान पाया जाता है।

अल्प बहुत्व ।

ग्यारहवें गुणस्थानवाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंसे अल्प हैं, क्योंकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विधक्षित समयमें उस अवस्थाको पानेवाले) चौअन और पूर्वप्रतिपन्न (किसी विधक्षित समयके पहिलेसे उस अवस्थाको पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये आते हैं। बारहवें गुणस्थानवाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व (दो सौसे नौ सौ तक) पाये जाते हैं, इसलिये ये ग्यारहवें गुणस्थानवालोंसे संख्यातगुण कहे गये हैं। उपशमश्रेणिके प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौअन और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणिके प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व माने गये हैं। उभय-श्रेणिवाले सभी आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं। इसलिये इन तीनों गुणस्थानवाले जीव आपसमें समान हैं; किन्तु बारहवें गुणस्थानवालोंकी अपेक्षा विशेषाधिक हैं ॥६२॥

जोगिअपमस्तइयरे, संखगुणा देससासणामिसा ।

अधिरय अजोगिमिक्खा, असंख चउरो दुवे यंता ॥६३॥

योग्यप्रमत्ततराः, संख्यगुणा देशसासादनमिथाः ।

अविरता अयोगिमिथ्यात्वानि असंख्यानस्त्वानो द्वावनन्तो ॥ ६१ ॥

अर्थ—सयोगिकेबली, अपमत्त और प्रमत्तगुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे संख्यातगुण हैं। देशविरति, सासादन, मिथ्र और अविरत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे असंख्यातगुण हैं। अयोगिकेबली और मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे अनन्त-गुण हैं ॥६३॥

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थानवाले आठवें गुणस्थानवालोंसे संख्यात-गुण इसलिये कहे गये हैं कि ये जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ होते हैं। सातवें गुणस्थानवाले दो हजार करोड़ पाये जाते हैं; इसलिये ये सयोगिकेबलियोंसे संख्यातगुण हैं। छठे गुणस्थानवाले नौ हजार करोड़ तक हो जाते हैं; इसी कारण इन्हें सातवें गुणस्थान-वालोंसे संख्यातगुण माना है। असंख्यात गर्भज-तिर्यञ्च भी देश-विरति पा लेते हैं, इसलिये गौचरवें गुणस्थानवाले छठे गुणस्थानवालों से असंख्यातगुण हो जाते हैं। दूसरे गुणस्थानवाले देशविरतिवालोंसे असंख्यातगुण कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि देशविरति, तिर्यञ्च-मनुष्य दो गतिमें ही होती है, पर सासादनसम्यक्त्व चारों गतिमें। सासादनसम्यक्त्व और मिथ्रदृष्टि ये दोनों यद्यपि चारों गतिमें होते हैं परन्तु सासादनसम्यक्त्वकी अपेक्षा मिथ्रदृष्टिका काल-मान असंख्यातगुण अधिक है; इस कारण मिथ्रदृष्टिवाले सासा-दनसम्यक्त्वियोंकी अपेक्षा असंख्यातगुण होते हैं। चौथा गुणस्थान चारों गतिमें सदा ही पाया जाता है और उसका काल-मान भी बहुत अधिक है, अत एव चौथे गुणस्थानवाले तीसरे गुणस्थानवालोंसे असंख्यातगुण होते हैं। यद्यपि अवस्थ अयोगी, क्षणकभेषिवालोंके बराबर अर्थात् शत-पृथक्त्व-प्रमाण ही हैं तथापि अवस्थ अयोगी

(सिद्ध) अनन्त हैं, इसीसे अयोगिकेवली जीव व्योमे गुणस्थानवालों-से अनन्तगुण कहे गये हैं। साधारण धनस्पतिकायिक जीव सिद्धों-से भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं; इसीसे मिथ्यादृष्टि-वाले बीदहर्षे गुणस्थानवालोंसे अनन्तगुण हैं।

पहला, बीधा, पौखर्वाँ, छटा, सातर्वाँ और तेरहर्वाँ, ये छह गुण-स्थान लोकमें स्थायी ही पाये जाते हैं, शेष सात गुणस्थान कभी नहीं भी पाये जाते; पाये जाते हैं तब भी उनमें वर्तमान जीवोंकी संख्या कभी अधन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है। ऊपर कहा हुआ अल्प-बहुत्व उत्कृष्ट संख्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये, अधन्य संख्याकी अपेक्षासे नहीं; क्योंकि अधन्य संख्याके समय जीवोंका प्रमाण उपर्युक्त अल्प-बहुत्वके विपरीत भी हो जाता है। उदाहरणार्थ, कभी ग्यारहवें गुणस्थानवाले बारहवें गुणस्थानवालोंसे अधिक भी हो जाते हैं। सारांश, उपर्युक्त अल्प-बहुत्व सब गुणस्थानोंमें जीवोंके उत्कृष्ट-संख्यक पाये जानेके समय ही घट सकता है ॥६३॥

छह भाव और उनके भेद ।

[पाँच शाखाओंसे ।]

उपशमक्षयमिभोदयपरिणामा कुनवट्टारइगवीसा ।
तिय भेय संनिवाइय, संमं चरणं पढमभावे ॥ ६४ ॥

उपशमक्षयमिभोदयपरिणामा द्वित्रयाष्टादशैकविंशतयः ।

भयो भेदास्तानिपातिकः, सम्यक्त्वं चरणं प्रथमभावे ॥ ६५ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (कायोपशमिक), औषधिक और परिणामिक, ये पाँच मूल भाव हैं । इनके क्रमशः दो, नौ, अठारह, इकतीस और तीस भेद हैं । छह भाव सांनिपातिक हैं । पहले (औपशमिक-) भावके सम्यक्त्व और क्षारित्र्य, ये दो भेद हैं ॥ ६४ ॥

भावार्थ—भाव, पर्यायको कहते हैं । अजीवका पर्याय अजीवका भाव और जीवका पर्याय जीवका भाव है । इस गायामें जीवके भाव दिखाये हैं । ये मूल भाव पाँच हैं ।

१—औपशमिक-भाव वह है, जो उपशमसे होता है । प्रदेश और विपाक, दोनों प्रकारके कर्मोदयका रुक जाना उपशम है ।

२—क्षायिक-भाव वह है, जो कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है ।

१—यथाविचार, अनुयोगदात्रके ११३ से १२७ तकके पृष्ठमें; तत्त्वार्थ-भा० २के १से ७ तकके पृष्ठमें तथा सूत्रकौशिक-शिवकी १००वीं गायामें तथा उसकी टीकामें है । एषसंप्रदा० ६०० की २६वीं गायामें तथा ६०० की २६वीं गायकी टीका तथा सूत्रमार्थविचार-सारोदाहरीकी ५१से ५७ तककी गायामें भी इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है ।

सौम्यस्मार कर्मकाण्डमें ६१ विषयका 'भावचूलिका' नामक एक सात प्रकरण है । भावोंके भेद-प्रभेदके सम्बन्धमें उसकी ८५२ से ८५६ तककी गायामें दृष्टव्य है । अग्रे उसमें कई तरहके भव-वृत्त दिखाये हैं ।

३—ज्ञायोपशमिक-भाव ज्ञायोपशमसे प्रगट होता है। कर्मके उद-
यावलि-प्रविष्ट मन्द रसस्पर्धकका ज्ञाय और अनुदयमान रसस्पर्-
धककी सर्वघातिनी विपाक-शक्तिका निरोध या देशघातिरूपमें परि-
णमन व तीव्र शक्तिका मन्द शक्तिरूपमें परिणमन (उपशम), ज्ञायो-
पशम है।

४—औपशमिक-भाव कर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय है।

५—पारिणामिक-भाव स्वभावसे ही स्वरूपमें परिणत होते
रहना है।

एक-एक भावको 'मूलभाव' और दो या दोसे अधिक मिले हुए
भावोंको 'सामिपातिक-भाव' समझना चाहिये।

भावोंके उत्तर भेदः—औपशमिक-भावके सम्यक्त्व और चारित्र्य
ये दो ही भेद हैं। (१) अनन्तानुबन्धि-चतुष्कके ज्ञायोपशम या उपशम
और दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमसे जो तत्त्व-वचि-व्यञ्जक आत्म-
परिणाम प्रगट होता है, वह 'औपशमिकसम्यक्त्व' है। (२) चारित्र्य-
मोहनीयकी पञ्चीस प्रकृतियोंके उपशमसे व्यक्त होनेवाला स्थिर-
तात्मक परिणाम 'औपशमिकचारित्र्य' है। यही म्यारहवें गुण-
स्यानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाक्यातचारित्र्य' है। औपशमिक-भाव
सादि-सान्त है ॥६४॥

वीर केवलजुयलं, संमं दाणाहलद्धि पण चरणं ।

तइण सेसुचओगा, पण लद्धी सम्मविरहदुगं ॥ ६५ ॥

द्वितीये केवलजुयलं, सम्यग् दानादिलब्धयः पञ्च चरणम् ।

तृतीये शेषोपयोगाः, पञ्च लब्धयः सम्यग्भिरतिष्ठिकम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—पुस्तरे (ज्ञायिक-)भावके केवल-द्विक, सम्यक्त्व, दान आदि
पाँच लब्धियाँ और चारित्र्य, ये नौ भेद हैं। तीसरे (ज्ञायोपशमिक-)

भावके केवल-द्विकको छोड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरति-द्विक, ये अठारह भेद हैं ॥६५॥

भावार्थ—ज्ञायिक-भावके नौ भेद हैं। इसमेंसे केवलकाल और केवलदर्शन, ये दो भाव क्रमसे केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय-कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट होते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और धीर्य, ये पाँच लब्धियाँ क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और धीर्यान्तराय-कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट होती हैं। सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धिक-अनुष्क और दर्शनमोहनीयके सर्वथा क्षय हो जानेसे व्यक्त होता है। चारित्र, चारित्रमोहनीयकर्मकी सब प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है। यही बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाख्यातचारित्र' है। सभी ज्ञायिक-भाव कर्म-क्षय-अन्य होनेके कारण 'सावि' और कर्मसे फिर आवृत्त न हो सकनेके कारण अनन्त हैं।

ज्ञायोपशमिक-भावके अठारह भेद हैं। जैसे—बारह उपयोग-गौमेंसे केवल-द्विकको छोड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और देशविरति तथा सर्वविरति-चारित्र। मति-ज्ञान-मति-अज्ञान, मतिज्ञानावरणीयके ज्ञयोपशमसे; भुतज्ञान-भुत-अज्ञान, भुतज्ञानावरणीयकर्मके ज्ञयोपशमसे; अवधिज्ञान-विमज्ज्ञान, अवधिज्ञानावरणीयकर्मके ज्ञयोपशमसे; मनःपर्यायज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञानावरणीयकर्मके ज्ञयोपशमसे और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अयधिदर्शन, क्रमसे चक्षुर्दर्शनावरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय और अयधिदर्शनावरणीयकर्मके ज्ञयोपशमसे प्रगट होते हैं। दान आदि पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदि पाँच प्रकारके अन्तरायकर्मके ज्ञयोपशमसे होती हैं। अनन्तानुबन्धिकपाय और दर्शनमोहनीयके ज्ञयोपशमसे सम्यक्त्व होता है। अप्रत्याख्यानावरणीयकपायके ज्ञयोपशमसे देशविरतिका आविर्भाव होता है और प्रत्याख्यानवर-

शौचकषायके क्षयोपशमसे सर्वविरतिका । मति-अज्ञान आदि क्षायो-
पशमिक-भाव अभवके अनादि-अनन्त और विभक्तज्ञान सादि-साम्त
है । मतिज्ञान आदि भाव भवके सादि-साम्त और दान आदि
लब्धियाँ तथा अक्षुर्दर्शन अनादि-साम्त हैं ॥ ६५ ॥

अज्ञानमसिद्धत्वा,—संजमलेसाकसायगइवेया ।

मिच्छं तुरिए भव्वा,—भवत्सजियस्स परिणामे ॥ ६६ ॥

अज्ञानमसिद्धत्वाऽसंजमलयाकषायगतियेदाः ।

मिष्यात्वं तुर्यं भव्याऽभव्यत्वजीवत्वानि परिणामे ॥ ६६ ॥

अर्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असंजम, लेश्या, कषाय, गति, वेद
और मिथ्यात्व, ये भेद चौथे (औद्यिक) भावके हैं । भव्यत्व, अभव्यत्व
और जीवत्व, ये पारिणामिक-भाव हैं ॥ ६६ ॥

भावार्थ—औद्यिक-भावके इकीस भेद हैं । जैसे:—अज्ञान, असि-
द्धत्व, असंजम, छह लेश्याएँ, चार कषाय, चार गतियाँ, तीन वेद और
मिथ्यात्व । अज्ञानका मतलब ज्ञानका अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों-
से है । ज्ञानका अभाव ज्ञानावरणीयकर्मके उदयका और मिथ्याज्ञान
मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका फल है । इसलिये दोनों प्रकारका
अज्ञान औद्यिक है । असिद्धत्व, संसारावस्थाको कहते हैं । यह, आठ

१—निद्रा, सुष, दुःख, वास्य, शरीर आदि असंख्यात भाव, जो भिन्न-भिन्न कर्मके उदयसे
होते हैं, वे सभी औद्यिक हैं, तथापि इस जगह श्रीजम्भारसि आदि पूर्वाचार्योंके कथनका अनु-
सरण करके स्थूल दृष्टिसे इक्षीय औद्यिक-भाव बतलाये हैं ।

२—मति-अज्ञान, अत-अज्ञान और विभक्तज्ञानको पिछली गायामें क्षायोपशमिक और
यहाँ औद्यिक कहा है । क्षायोपशमिक इस अपेक्षासे कहा है कि ये उपयोग मतिज्ञानावरणीय
आदि कर्मके क्षयोपशम-जन्य हैं और औद्यिक इस अपेक्षासे कहा है कि इनकी अवयवार्थाका
कारण मिथ्यात्वमोहनीयकर्मका उदय है ।

कर्मके उदयका फल है। असंयम, विरतिका अभाव है। यह अप्रत्या-
यमानावरणीयकषायके उदयका परिणाम है। मत-भेदसे लेश्याके तीन
स्वरूप हैं:- (१) काषायिक-परिणाम, (२) कर्म-परिणति और (३) योग-
परिणाम। ये तीनों औदयिक ही हैं; क्योंकि काषायिक-परिणाम कषायके
उदयका, कर्म-परिणति कर्मके उदयका और योग-परिणाम शरीरनाम-
कर्मके उदयका फल है। कषाय, कषायमोहनीयकर्मके उदयसे होता
है। गतियाँ गतिनामकर्मके उदय-जन्म हैं। द्रव्य और भाव दोनों
प्रकारका वेद औदयिक है। आकृतिकरूप द्रव्यवेद अक्षुोपाकनामकर्मके
उदयसे और अभिलाषारूप भाववेद वेदमोहनीयके उदयसे होता है।
मिथ्यात्व, अधिवेदपूर्ण गाढतम मोह है, जो मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके
उदयका परिणाम है। औदयिक-भाव अभव्यके अनादि-अनन्त और
मव्यके बहुधा अनादि-सान्त है।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन पारिणामिक-भाव हैं।
प्राण धारण करना जीवत्व है। यह भाव संसारी और सिद्ध सब जीवोंमें
मौजूद होनेके कारण भव्यत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षा व्यापक
(अधिक-देश-स्थायी) है। भव्यत्व सिर्फ भव्य जीवोंमें और अभव्यत्व
सिर्फ अभव्य जीवोंमें है। पारिणामिक-भाव अनादि-अनन्त है।

पाँच भावोंके सब मिलाकर त्रेपन भेद होते हैं:- औपशमिकके
दो, सायिकके नौ, सायोपशमिकके अठारह, औदयिकके इकोस और
पारिणामिकके तीन ॥६६॥

चउ चउगईसु मींसग, -परिणामुदएहि चउ सखइएहि ।
उवसमजुएहि वा चउ, केबलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खगपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेठाए ।
इय पनर संनिवाइय, -भेया बीसं असंभविणो ॥ ६८ ॥

चत्वारश्चतुर्गतिषु मिश्रकपरिणामोदयैश्चत्वारः सन्नायकैः ।

उपशमयुतैर्वा चत्वारः, केवली परिणामोदयश्चाधिके ॥

अथपरिणामे सिद्धा, नराणां पञ्चयोग उपशमश्रेण्याम् ।

इति पञ्चदश सांनिपातिकभेदा विंशतिरसंभविनः ॥ ६८ ॥

अर्थ—आयोपशमिक, पारिणामिक और औदयिक, इन तीन भावोंका त्रिक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव चार गतिमें पाये जानेके कारण चार प्रकारका है। उक्त तीन और एक क्षायिक, इन चार भावोंका चतुः-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव तथा उक्त तीन और एक औपशमिक, इन चारका चतुः-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव चार गतिमें होता है। इसलिये वे दो सांनिपातिक-भाव भी चार-का प्रकारके हैं। पारिणामिक, औदयिक और क्षायिकका त्रिक-संयोग-रूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ शरीरधारी केवलजन्तुको होता है। क्षायिक और पारिणामिकका द्विक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ सिद्ध जीवोंमें पाया जाता है। पाँचों भावका पञ्च-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव, उपशमश्रेणियांसे मनुष्योंमें ही होता है। उक्त रीतिसे छह सांनिपातिक-भावोंके पंद्रह भेद होते हैं। शेष बीस सांनिपातिक-भाव असंभवी अर्थात् शून्य हैं ॥ ६७॥६८॥

भाषार्थ—औपशमिक आदि पाँच भावोंमेंसे दो, तीन, चार या पाँच भावोंके मिलनेपर सांनिपातिक-भाव होता है। दो भावोंके मेलसे होनेवाला सांनिपातिक 'द्विक-संयोग', तीन भावोंके मेलसे होनेवाला 'त्रिक-संयोग', चार भावोंके मेलसे होनेवाला 'चतुस्संयोग' और पाँच भावोंके मेलसे होनेवाला 'पञ्च-संयोग' कहलाता है।

द्विक-संयोगके दस भेदः—

१—औपशमिक + क्षायिक ।

२—औपशमिक + आयोपशमिक ।

- ३—औपशमिक + औदयिक ।
- ४—औपशमिक + पारिणामिक ।
- ५—क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
- ६—क्षायिक + औदयिक ।
- ७—क्षायिक + पारिणामिक ।
- ८—क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- ९—क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- १०—औदयिक + पारिणामिक ।

त्रिक-संयोगके दस भेदः—

- १—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
- २—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक ।
- ३—औपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक ।
- ४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- ५—औपशमिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ६—औपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- ७—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- ८—क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ९—क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- १०—क्षायोपशमिक + पारिणामिक + औदयिक ।

चतुः-संयोगके पाँच भेदः—

- १—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- २—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ३—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- ४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- ५—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।

पञ्च-संयोगका एक भेद: —

१-औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक
सब मिलाकर सानिपातिक-भावके छुम्बीस भेद हुए। इनमेंसे ओ
छह भेद जीवोंमें पाये जाते हैं, उन्हींको इन दो गाथाओंमें दिखाया है।
त्रिक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे दसवाँ भेद, जो क्षायोपशमिक,
पारिणामिक और औदयिकके मेलसे बना है, वह चारों गतिमें पाया
जाता है। सो इस प्रकार:—चारों गतिके जीवोंमें क्षायोपशमिक-भाव
भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औद-
यिक-भाव कर्माय आदिरूप है। इस तरह इस त्रिक-संयोगके गति-
रूप स्थान-भेदसे चार भेद हुए।

चतुः-संयोगके उक्त पाँच भेदोंमेंसे पाँचवाँ भेद चारों गतिमें
पाया जाता है: इसलिये इसके भी स्थान-भेदसे चार भेद होते हैं।
चारों गतिमें क्षायिक-भाव क्षायिकसम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक-भाव
भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और
औदयिक-भाव कर्माय आदिरूप है।

चतुः-संयोगके पाँच भेदोंमेंसे चौथा भेद चारों गतिमें पाया
जाता है। चारों गतिमें औपशमिक-भाव सम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक-
भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और
औदयिक-भाव कर्माय आदिरूप समझना चाहिये। इस चतुः-संयोग
सानिपातिकके भी गतिरूप स्थान-भेदसे चार भेद हुए।

त्रिक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे नौवाँ भेद सिर्फ भवस्थ केव-
लियोंमें होता है: इसलिये वह एक ही प्रकारका है। केवलियोंमें
पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप, औदयिक-भाव गति आदिरूप
और क्षायिक-भाव केवलज्ञान आदिरूप है।

द्विक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे सातवाँ भेद सिर्फ सिद्ध जीवों-
में पाये जानके कारण एक ही प्रकारका है। सिद्धोंमें पारिणामिक-

भाव जीवत्व आदिरूप और सायिक-भाव केवलज्ञान आदिरूप है । पञ्च-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ उपशमधेयिवाले मनुष्योंमें होता है । इस कारण वह एक ही प्रकारका है; उपशमधेयिवाले मनुष्योंमें सायिक-भाव सम्बन्धरूप, सांनिपातिक-भाव कर्तव्यरूप, सायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औद्यिक-भाव लेखा आदिरूप है ।

इस प्रकार जो छह सांनिपातिक-भाव संभववाले हैं, इनके ऊपर शिखे अनुसार ज्ञान-भेदसे सब मिलाकर पन्द्रह भेद होते हैं ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

कर्मके और धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्योंके भाव ।

मोहेव समो मीसो, चडचाइसु अट्टकंममु च सेसा ।

धम्माइ पारिणामिय, भावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥

मोह एव समो मिथअतुर्धातिष्वहकर्मसु च शेषाः ।

धर्मादि पारिणामिकभावे स्कन्धा उदयेऽपि ॥ ६९ ॥

अर्थ—औपशमिक-भाव मोहनीयकर्मके ही होता है । मिथ (सायोपशमिक) भाव चार धातिकर्मोंके ही होता है । शेष तीन (सायिक, पारिणामिक और औद्यिक) भाव आठों कर्मके होते हैं ।

धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्यके पारिणामिक-भाव हैं; किन्तु पुद्गल-स्कन्धके औद्यिक और पारिणामिक, ये दो भाव हैं ॥ ६९ ॥

भावार्थ—कर्मके सम्बन्धमें औपशमिक आदि भावोंका मतलब

१—कर्मके भाव, पञ्चसंग्रह-ज्ञान वेकी २५वीं गाथामें वर्णित है ।

२—औपशमिक शब्दके दो अर्थ हैं—

(१) कर्मकी उपशम आदि अवस्थाएँ ही औपशमिक आदि भाव हैं । यह, अर्थ कर्मके भावोंमें लागू पड़ता है ।

(२) कर्मकी उपशम आदि अवस्थाओंसे होनेवाले पचास औपशमिक आदि भाव हैं । यह अर्थ, जोवके भावोंमें लागू पड़ता है, जो ६४ और ६६वीं गाथामें बतलाये हैं ।

बसकी अवस्था-विशेषोंसे है। जैसे:—कर्मकी उपशम-अवस्था उसका औपशमिक-भाव, क्षयोपशम-अवस्था क्षयोपशमिक-भाव, क्लेश-अवस्था क्षायिक-भाव, उदय-अवस्था औदयिक-भाव और परिणमन-अवस्था पारिणामिक-भाव है।

उपशम-अवस्था मोहनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मोंकी नहीं होती; इसलिये औपशमिक-भाव मोहनीयकर्मका ही कहा गया है। क्षयोपशम चार घातिकर्मका ही होता है; इस कारण क्षयोपशमिक-भाव घातिकर्मका ही माना गया है। विशेषता इतनी है कि केवलज्ञाना-धरणीय और केवलदर्शनाधरणीय, इन दो घातिकर्म-प्रकृतिओंके विपाकोदयका निरोधन होनेके कारण इनका क्षयोपशम नहीं होता। क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक, ये तीन भाव आठों कर्मके हैं; क्योंकि क्षय, परिणमन और उदय, ये तीन अवस्थाएँ आठों कर्मकी होती हैं। सारांश यह है कि मोहनीयकर्मके पाँचों भाव, मोहनीयके सिवाय तीन घातिकर्मके चार भाव और चार अघातिकर्मके तीन भाव हैं।

अजीवद्रव्यके भाव ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय, ये पाँच अजीवद्रव्य हैं। पुद्गलास्तिकायके सिवाय शेष चार अजीवद्रव्योंके पारिणामिक-भाव ही होता है। धर्मास्तिकाय, जीव-पुद्गलोंकी गतिमें सहायक बननेरूप अपने कार्यमें अनावि-कालसे परिणत हुआ करता है। अधर्मास्तिकाय, स्थितिमें सहा-

१—पारिणामिक शब्दका 'स्वरूप-परिणमन', यह एक ही अर्थ है, जो सब द्रव्योंमें लागू पड़ता है। जैसे:—कर्मका जीव-प्रदेशोंके साथ विशिष्ट सम्बन्ध होना या द्रव्य, चैत्र, काल और भाव आदि भिन्न-भिन्न निमित्त पाकर अनेकरूपमें संक्रान्त (परिवर्तित) होते रहना कर्मका पारिणामिक-भाव है। जीवका परिणमन जीवस्वरूपमें, भव्यस्वरूपमें या अभव्यस्वरूपमें स्वतः बने रहना है। इसी तरह धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंमें सम्बन्ध होना चाहिये।

बननेरूप कार्यमें; आकाशास्तिकाय, अवकाश देनेरूप कार्यमें और काल, समय-पर्यायरूप स्व-कार्यमें अनादि कालसे परिणमन कर रहा करता है। पुद्गलद्रव्यके पारिणामिक और औद्द्यिक, ये दो भाव हैं। परमाणु-पुद्गलका तो केवल पारिणामिक-भाव है; पर स्कन्धरूप पुद्गलके पारिणामिक और औद्द्यिक, ये दो भाव हैं। स्कन्धोंमें भी द्यगुणादि सादि स्कन्ध पारिणामिक-भाववाले ही हैं, लेकिन औदारिक आदि शरीररूप स्कन्ध पारिणामिक-औद्द्यिक दो भाववाले हैं। क्योंकि ये स्व-स्व-रूपमें परिणत होते रहनेके कारण पारिणामिक-भाववाले और औदारिक आदि शरीरनामकर्मके उदय-जन्म होनेके कारण औद्द्यिक-भाववाले हैं।

पुद्गलद्रव्यके दो भाव कहे हुए हैं, सो कर्म-पुद्गलसे भिन्न पुद्गलके समझने चाहिये। कर्म-पुद्गलके तो औपशमिक आदि पाँचों भाव हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं ॥६६॥

(११)—गुणस्थानोंमें मूल भाव ।

(एक जीवकी अपेक्षासे ।)

संसाहचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते ।
चउ खीणापुन्व तिगि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥

सम्पदादिचतुर्षु त्रयश्चत्वारो, भावाश्चत्वारः पञ्चोपशमकोपशान्ते ।

चत्वारः क्षीणाऽपूर्वे त्रयः, दोषगुणस्थानक एकजीवि ॥ ७० ॥

अर्थ—एक जीवकी सम्पददृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव होते हैं। उपशमक (नौषे और दसवें) और उपशान्त (ग्यारहवें) गुणस्थानमें चार या पाँच भाव होते हैं। क्षीणमोह तथा अपूर्व-

करण-गुणस्थानमें चार भाव होते हैं और शेष सब गुणस्थानोंमें तीन भाव ॥७०॥

भावार्थ—चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें, इन चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव हैं। तीन भाव ये हैं:—(१) औद्यिकः—मनुष्य आदि गति; (२) पारिणामिकः—जीवत्व आदि और (३) क्षायोपशमिकः—भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि। ये तीन भाव क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-के समय पाये जाते हैं। परन्तु जब क्षायिक या औपशमिक-सम्यक्त्व हो, तब इन दोमेंसे कोई-एक सम्यक्त्व तथा उक्त तीन, इस प्रकार चार भाव समझने चाहिये।

नौवें, दसवें और बारहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें चार या पाँच भाव पाये जाते हैं। चार भाव उस समय, जब कि औपशमिक-सम्यक्त्वी जीव उपशमभ्रेणिवाला हो। चार भावमें तीन तो उक्त ही और चौथा औपशमिक-सम्यक्त्व व क्षारित्र। पाँचमें उक्त तीन, चौथा क्षायिकसम्यक्त्व और पाँचवाँ औपशमिकक्षारित्र।

आठवें और बारहवें, इन दो गुणस्थानोंमें चार भाव होते हैं। आठवेंमें उक्त तीन और औपशमिक और क्षायिक, इन दोमेंसे कोई-एक सम्यक्त्व, ये चार भाव समझने चाहिये। बारहवेंमें उक्त तीन और चौथा क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकक्षारित्र, ये चार भाव।

शेष पाँच (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें और चौदहवें) गुणस्थानोंमें तीन भाव हैं। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें औद्यिकः—मनुष्य आदि गति; पारिणामिकः—जीवत्व आदि और क्षायोपशमिकः—भावेन्द्रिय आदि, ये तीन भाव हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें औद्यिकः—मनुष्यत्व; पारिणामिकः—जीवत्व और क्षायिकः—ज्ञान आदि, ये तीन भाव हैं ॥७०॥

(१२)—संख्याका विचार ।

[लोकद गाथाओंसे ।]

संख्याके भेद-प्रभेद ।

संख्येयमेकमसंख्यं, परित्रयुक्तनिजपदयुतं त्रिविधं ।

एवमन्तं वि तिहा, जहसमज्जुक्ता सख्ये ॥ ७१ ॥

संख्येयमेकमसंख्यं, परित्रयुक्तनिजपदयुतं त्रिविधम् ।

एवमनन्तमपि त्रया, जघन्यमध्येत्कुष्ठानि सर्वाणि ॥ ७१ ॥

अर्थ—संख्यात एक है। असंख्यातके तीन भेद हैं—(१) परीक्ष, (२) युक्त और (३) निजपदयुक्त अर्थात् असंख्यातासंख्यात। इसी तरह अनन्तके भी तीन भेद हैं। इन सबके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं ॥७१॥

भावार्थ—शास्त्रमें संख्या तीन प्रकारकी प्रस्तावित है—(१) संख्यात, (२) असंख्यात और (३) अनन्त। संख्यातका एक प्रकार, असंख्यात-के तीन और अनन्तके तीन, इस तरह संख्याके कुल सात भेद हैं। प्रत्येक भेदके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट-रूपसे तीन-तीन भेद करने-

१—संख्या-विषयक विचार, अनुयोग-द्वारके २३४ से लेकर २४१वें पृष्ठ तक है। और लोकप्रकाश-संग १के १२२ से लेकर २२२वें श्लोक तकमें है। अनुयोगद्वार सूत्रमें सैद्धा-
निक-मत है। उसकी टीकामें मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिने कर्मग्रन्थिक-मतका भी उल्लेख किया है। लोकप्रकाशमें दोनों मत संगृहीत हैं।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति-विरचिता त्रिलोकसारकी १३से लेकर ५१ तककी गाथाओंमें संख्याका विचार है। उसमें पद्योंके स्थानमें 'कुण्ड' शब्द प्रयुक्त है; वर्यव भी कुछ जुदे ढंगसे है। उसका वर्णन कर्मग्रन्थिक-मतसे मिलता है।

'असंख्यात' शब्द बौद्ध-साहित्यमें है, जिसका अर्थ '१'के ऊपर एक ही बालीस ग्रन्थ जितनी संख्या है। इसकेसिधे देखिये, विपकसं पाली-अंगरेजी कोषका ५२वें पृष्ठ।

पर इकीस भेद होते हैं। सो इस प्रकार:—(१) अधन्य संख्यात, (२) मध्यम संख्यात और (३) उत्कृष्ट संख्यात, (४) अधन्य परीक्षा-संख्यात, (५) मध्यम परीक्षासंख्यात और (६) उत्कृष्ट परीक्षासंख्यात, (७) अधन्य युक्तासंख्यात, (८) मध्यम युक्तासंख्यात और (९) उत्कृष्ट युक्तासंख्यात, (१०) अधन्य असंख्यातासंख्यात, (११) मध्यम असंख्यातासंख्यात और (१२) उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात, (१३) अधन्य परीक्षानन्त, (१४) मध्यम परीक्षानन्त और (१५) उत्कृष्ट परीक्षानन्त, (१६) अधन्य युक्तानन्त, (१७) मध्यम युक्तानन्त और (१८) उत्कृष्ट युक्तानन्त, (१९) अधन्य अनन्तानन्त, (२०) मध्यम अनन्तानन्त और (२१) उत्कृष्ट अनन्तानन्त ॥७१॥

संख्यातके तीन भेदोंका स्वरूप ।

उह संखिजं दुचिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुभं ।
जंभूदीच चाम्पाण्य, पण्डितारूपवत्ताइ इमं ॥ ७२ ॥

उह संख्येयं द्वावेवाऽतः परं मध्यमन्तु यावद्गुरुकम् ।

जम्बूद्वीपप्रमाणकस्तुष्यप्ररूपणवेदम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—दोकी ही संख्या लघु (अधन्य) संख्यात है। इससे आगे तीनसे लेकर उत्कृष्ट संख्यात तककी सब संख्याएँ मध्यम संख्यात है। उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप जम्बूद्वीप-प्रमाण पत्थोंके निरूपणसे आना जाता है ॥७२॥

भावार्थ—संख्याका मतलब भेद (पार्थक्य)से है अर्थात् जिसमें भेद प्रतीत हो, वही संख्या है। एकमें भेद प्रतीत नहीं होता, इसलिये सबसे कम होनेपर भी एकको अधन्य संख्यात नहीं कहा है। पार्थक्यकी प्रतीति दो आदिमें होती है; इसलिये वे ही संख्याएँ हैं। इनमेंसे दोकी संख्या अधन्य संख्यात और तीनसे लेकर उत्कृष्ट

संख्यात तक बीघकी सब संख्याएँ मध्यम संख्यात हैं। शास्त्रमें उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप जाननेके लिये पत्थोंकी कल्पना है, जो अगली गाथाओंमें दिखायी हैं ॥७२॥

पत्थोंके नाम तथा प्रमाण ।

**पल्लववाट्टियसला, ग-पडिसलागामहासलागवला ।
जोथणसहभोगाहा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥७३॥**

पत्था अनवस्थितशलाकापतशलाकामहाशलाकाख्याः ।

योजनसहस्रागमादाः, सवेदिमान्ताः ससिखभृताः ॥ ७१ ॥

अर्थ—चार पत्थके नाम क्रमशः अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हैं। चारों पत्थ गहराईमें एक हजार योजन और ऊँचाईमें जम्बूद्वीपकी पञ्चवर वेदिका पर्यन्त अर्थात् साढ़े आठ योजन प्रमाण समझने चाहिये। इन्हें शिखा पर्यन्त सरसोंसे पूर्ण करनेका विधान है ॥ ७३ ॥

भावार्थ—शास्त्रमें सत् और असत् दो प्रकारकी कल्पना होती है। जो कार्यमें परिणत हो जा सके, वह 'सत्कल्पना', और जो किसी वस्तुका स्वरूप समझनेमें उपयोगीमात्र, पर कार्यमें परिणत न की जा सके, वह 'असत्कल्पना'। पत्थोंका विचार असत्कल्पना है, इसका प्रयोजन उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप समझानामात्र है।

शास्त्रमें पत्थ चार कहे गये हैं:—(१) अनवस्थित, (२) शलाका, (३) प्रतिशलाका और (४) महाशलाका। इनकी लम्बाई-चौड़ाई जम्बूद्वीपके बराबर—एक-एक लाख योजनकी, गहराई एक हजार योजनकी और ऊँचाई पञ्चवर वेदिका-प्रमाण अर्थात् साढ़े आठ योजनकी कही हुई है। पत्थकी गहराई तथा ऊँचाई मेड़की समतल भूमिसे समझना चाहिये। सारांश, ये कल्पित पत्थ तक्षसे शिखा तकमें १००=३ योजन लिये जाते हैं।

अनवस्थितपल्लव अनेक बनते हैं। इन सबकी लम्बाई-चौड़ाई एकसी नहीं है। पहला अनवस्थित (मूलानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई लाख योजनकी और आगेके सब अनवस्थित (उत्तरानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई अधिकाधिक है। जैसे:—जम्बूद्वीप-प्रमाण मूलानवस्थित पल्लवको सरसोंसे भर देना और जम्बूद्वीपसे लेकर आगेके हर एक द्वीपमें तथा समुद्रमें उन सरसोंमेंसे एक-एकको डालने जाना। इस प्रकार डालते-डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें मूलानवस्थित पल्लव खाली हो जाय, जम्बूद्वीप (मूल-स्थान)से उस द्वीप या उस समुद्र तककी लम्बाई-चौड़ाईवाला तथा पल्लव बना लिया जाय। यही पहला उत्तरानवस्थित है।

इस पल्लवमें भी तीस कर सरसों भरना और इन सरसोंमेंसे एक-एकको आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें डालते जाना। डालते-डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें इस पहले उत्तरानवस्थित-पल्लवके सब सर्प-समाप्ति हो जायँ, मूल स्थान (जम्बूद्वीप)से उस सर्प-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त लम्बा-चौड़ा पल्लव फिरसे बना लेना, यह दूसरा उत्तरानवस्थितपल्लव है।

इसे भी सर्पोंसे भर देना और आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें एक-एक सर्पको डालते जाना। ऐसा करनेसे दूसरे उत्तरानवस्थितपल्लवके सर्पोंकी समाप्ति जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें हो जाय, मूल स्थानसे उस सर्प-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पल्लव फिरसे बनाना, यह तीसरा उत्तरानवस्थितपल्लव है। इसको भी सर्पोंसे भरना तथा आगेके द्वीप, समुद्रमें एक-एक सर्प डालकर खाली करना। फिर मूल स्थानसे सर्प-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पल्लव बना लेना और उसे भी सर्पोंसे भरना तथा उक्त विधिके अनुसार खाली करना। इस प्रकार जितने उत्तरानवस्थितपल्लव बनाये जाते हैं,

वे सभी प्रमाणमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा बड़े-बड़े हो होते आते हैं। परिभाषाकी अनिश्चितताके कारण इन पत्थरोंका नाम 'अनवस्थित' रखा गया है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनवस्थितपत्थर लम्बाई-चौड़ाईमें अनियत होनेपर भी ऊँचाईमें नियत ही अर्थात् १०० इंच योजन मान लिये जाते हैं।

अनवस्थितपत्थरोंको कहाँ तक बनाना ? इसका खुलासा आगेकी गाथाओंसे हो जायगा।

प्रत्येक अनवस्थितपत्थरके खाली हो जानेपर एक-एक सर्वप शलाकापत्थरमें डाल दिया जाता है। अर्थात् शलाका पत्थरमें डाले गये सर्वपोंकी संख्यासे यही जाना जाता है कि इतनी दफा वस्तरानवस्थितपत्थर खाली हुए।

हर एक शलाकापत्थरके खाली होनेके समय एक-एक सर्वप प्रतिशलाकापत्थरमें डाला जाता है। प्रतिशलाकापत्थरके सर्वपोंकी संख्यासे यह विदित होता है कि इतनी बार शलाकापत्थर भरा गया और खाली हुआ।

प्रतिशलाकापत्थरके एक-एक बार भर जाने और खाली हो जानेपर एक-एक सर्वप महाशलाकापत्थरमें डाल दिया जाता है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इतनी दफा प्रतिशलाकापत्थर भरा गया और खाली किया गया ॥ ७३ ॥

पत्थरोंके भरने आदिकी विधि ।

तादीबुदहिमु इकि, कसरिसबं खिचि य निट्टिए पढमे ।
पढमं व तदन्तं चिय, पुण भरिए तंमि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सखागपणे, गु सरिसवो इय सखागखण्णेणं ।
पुणो वीयो य तणो, पुठ्ठिं पि व तंमि उद्धरिए ॥७५॥

क्षीणे शलाका पल्ये, एवं शर्षपेऽपि क्षीयित्वां गच्छेत् ॥
तेहिं तद्वयं तेहिय, तुरिं जा किर फुडा चउरो ॥७५॥

तामद्वीपोदधिष्वेकैकसर्षपं क्षिप्यवा निष्ठिते प्रथमे ।

प्रथममिव तदन्तमेव पुनर्भूते तस्मिन्तथा क्षीये ॥ ७४ ॥

क्षिप्यते शलाकापल्ये एकसर्षप इति शलाकापल्येन ।

पूर्णा द्वितीयश्च ततः पूर्वमिव तस्मिन्नुद्भूते ॥ ७५ ॥

क्षीणे शलाका तृतीये एवं प्रथमैर्द्वितीयां भर ।

तैस्तृतीयां तैश्च तुर्यं यावच्छिखरं सुकृताश्चत्वारः ॥ ७६ ॥

अर्थ—पूर्णा अनवस्थितपल्यमेंसे एक-एक सर्षप द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये, जिस द्वीप या समुद्रमें सर्षप समाप्त हो जाय, उस द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण नया अनवस्थितपल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भरना चाहिये ।

इनमेंसे एक-एक सर्षप द्वीप-समुद्रमें डालनेपर जब अनवस्थित-पल्य खाली हो जाय, तब शलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये । इस तरह एक-एक सर्षप डालनेसे जब दूसरा शलाकापल्य भर जाय, तब उसे पूर्वकी तरह उठाना चाहिये ।

उठाकर उसमेंसे एक-एक सर्षप निकालकर उसे-खाली करना और प्रतिशलाकामें एक सर्षप डालना चाहिये । इस प्रकार अन-वस्थितसे शलाकाको और अनवस्थित-शलाका दोनोंसे तीसरे (प्रतिशलाका)को और पहले तीन पल्यसे चौथे (महाशलाका) पल्यको भर देना चाहिये । इस तरह चारों पल्योंको परिपूर्ण भर देना चाहिये ॥७४-७६॥

भाषार्थ—सबसे पहिले लक्ष-योजन-प्रमाण मूल अनवस्थित-पल्यको सर्षपोंसे भरना और उन सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको

जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप तथा समुद्रमें डालना चाहिये, इस रीतिसे एक-एक सर्पध डालनेसे जिस द्वीप या समुद्रमें मूल अनवस्थितपल्लव बिलकुल खाली हो जाय, जम्बूद्वीपसे (मूल स्थानसे) उस सर्पध-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक लम्बा-चौड़ा नया पल्लव बना लेना चाहिये, जो ऊँचाईमें पहले पल्लवके बराबर ही हो । फिर इस उत्तरानवस्थितपल्लवको सर्पधोंसे भर देना और एक-एक सर्पधको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये । इस प्रकार एक-एक सर्पध निकालनेसे जब यह पल्लव भी खाली हो जाय, तब इस प्रथम उत्तरानवस्थितपल्लवके खाली हो जानेका सूचक एक सर्पध शलाका नामके पल्लवमें डालना । जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें प्रथम उत्तरानवस्थित खाली हो जाय, मूल स्थान (जम्बूद्वीपसे) उस द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्लव फिर बनाना तथा उसे सर्पधोंसे भरकर आगेके द्वीप-समुद्रमें एक-एक सर्पध डालना चाहिये । उसके बिलकुल खाली हो जानेपर समाप्ति-सूचक एक सर्पध शलाकापल्लवमें फिरसे डालना चाहिये । इस तरह जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें अन्तिम सर्पध डाला गया हो, मूल स्थानसे उस सर्पध-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण एक-एक अनवस्थितपल्लव बनाते जाना और उसे सर्पधोंसे भर कर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना और एक-एक अनवस्थितपल्लवके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्पध शलाकापल्लवमें डालते जाना । ऐसा करनेसे जब शलाकापल्लव सर्पधोंसे पूर्ण हो जाय, तब मूल स्थानसे अन्तिम सर्पधवाले स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्लव बनाकर उसे सर्पधोंसे भर देना चाहिये । इससे अब तकमें अनवस्थितपल्लव और शलाकापल्लव सर्पधोंसे भर गये । इन दोनोंसे शलाकापल्लवको उठाना और उसके सर्पधोंमेंसे एक-एक सर्पधको उक्त विधिके अनुसार आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये । एक-

एक सर्पप निकालनेसे जब शलाकापल्य बिलकुल खाली हो जाय, तब शलाकापल्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्पप प्रतिशलाकापल्यमें डालना चाहिये । अब तकमें अनवस्थितपल्य सर्पपोंसे भर पड़ा है, शलाकापल्य खाली हो चुका है और प्रतिशलाकापल्यमें एक सर्पप पड़ा हुआ है ।

इसके पश्चात् अनवस्थितपल्यके एक-एक सर्पपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालकर उसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेका सूचक एक सर्पप पूर्वकी तरह शलाकापल्यमें, जो खाली हो गया है, डालना चाहिये । इस प्रकार मूल स्थानसे अन्तिम सर्पपवाले स्थान तक विस्तीर्ण नया-नया अनवस्थितपल्य बनाने जाना चाहिये और उसे सर्पपोंसे भरकर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना चाहिये । तथा प्रत्येक अनवस्थितपल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्पप शलाकापल्यमें डालते जाना चाहिये । ऐसा करनेसे जब शलाकापल्य सर्पपोंसे फिरसे भर जाय, तब जिस स्थानमें अन्तिम सर्पप पड़ा हो, मूल स्थानसे उस स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्यको बनाकर उसे भी सर्पपोंसे भर देना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित और शलाका, ये दो पल्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाकापल्यमें एक सर्पप है ।

शलाकापल्यको पूर्व-विधि के अनुसार फिरसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेपर एक सर्पप प्रतिशलाकापल्यमें रखना चाहिये । अब तक अनवस्थितपल्य भरा हुआ है, शलाकापल्य खाली है और प्रतिशलाकापल्यमें दो सर्पप पड़े हुए हैं ।

इसके आगे फिर भी पूर्वोक्त विधिके अनुसार अनवस्थितपल्यको खाली करना और एक-एक सर्पपको शलाकापल्यमें डालना चाहिये । इस प्रकार शलाकापल्यको बार-बार भर कर उक्त विधिके

अनुसार खाली करते जाना तथा खाली हो जानेकर सूचक एक-एक सर्प प्रतिशलाकापल्यमें डालते जाना चाहिये । अब एक-एक सर्पके डालनेसे प्रतिशलाकापल्य भी पूर्ण हो जाय, तब एक प्रक्रियाके अनुसार अनवस्थितपल्यद्वारा शलाकापल्यको भरना और पीछे अनवस्थितपल्यको भी भर रखना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका, ये तीन पल्य भर गये हैं । इनमेंसे प्रतिशलाकाको उठाकर उसके सर्पोंमेंसे एक-एक सर्पको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये । प्रतिशलाकापल्यके खाली हो चुकनेपर एक सर्प जो प्रतिशलाकापल्यकी समाप्तिका सूचक है, उसको महाशलाकापल्यमें डालना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित तथा शलाका-पल्य भरे पड़े हैं, प्रतिशलाकापल्य खाली है और महाशलाकापल्यमें एक सर्प पड़ा हुआ है ।

इसके अनन्तर शलाकापल्यको खाली कर एक सर्प प्रतिशलाकापल्यमें डालना और अनवस्थितपल्यको खाली कर शलाकापल्यमें एक सर्प डालना चाहिये । इस प्रकार नया-नया अनवस्थितपल्य बनाकर उसे सर्पोंसे भरकर तथा उक्त विधिके अनुसार उसे खालीकर एक-एक सर्पद्वारा शलाकापल्यको भरना चाहिये । हर एक शलाकापल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्प प्रतिशलाकापल्यमें डालना चाहिये । प्रतिशलाकापल्य भर जानेके बाद अनवस्थितद्वारा शलाकापल्य भर लेना और अन्तमें अनवस्थितपल्य भी भर देना चाहिये । अब तकमें पहले तीन पल्य भर गये हैं और चौथेमें एक सर्प है । फिर प्रतिशलाकापल्यको उक्त रीतिसे खाली करना और महाशलाकापल्यमें एक सर्प डालना चाहिये । अब तकमें पहले दो पल्य पूर्ण हैं । प्रतिशलाकापल्य खाली है और महाशलाकापल्यमें दो सर्प हैं । इस तरह प्रतिशलाकाद्वारा महाशलाकाको भर देना चाहिये ।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पत्थ के खाली हो जाने के समय डाले गये एक-एक सर्वप से क्रमशः चौथा, तीसरा और दूसरा पत्थ जब भर जाय तब अनवस्थितपत्थ, जो कि मूल स्थान से अन्तिम सर्वपवाले द्वीप या समुद्र तक लम्बा-चौड़ा बनाया जाता है, उसको भी सर्वपों से भर देना चाहिये । इस क्रम से चारों पत्थ सर्वपों से ठसा-ठसा भरे जाते हैं ॥ ७४-७६ ॥

सर्वप-परिपूर्ण पत्थों का उपयोग ।

पटुमतिपन्लुद्धरिया, वीरदहो पत्तलचउसरिसवा य ।

सठवो वि एसरासी, रुवूणो परमसंखिज्जं ॥ ७७ ॥

प्रथमात्रिपत्थोद्धृता, द्वीपोदधयः पत्थचतुःसर्वपापव ।

सत्रोप्पेकगशी, रूपान् परमसंख्येयम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—जितने द्वीप-समुद्रों में एक-एक सर्वप डालने से पहले तीन पत्थ खाली हो गये हैं वे सब द्वीप-समुद्र और परिपूर्ण चार पत्थों के सर्वप, इन दोनों की संख्या मिलाने से जो संख्या है, एक कम वही संख्या उत्कृष्ट संख्यात है ॥ ७७ ॥

सागर्थ—अनवस्थित, जलाका और प्रतिशलाका पत्थ को बार-बार सर्वपों से भर कर उनको खाली करने की जो विधि ऊपर दिखलाई गई है, उसके अनुसार जितने द्वीपों में तथा जितने समुद्रों में एक-एक सर्वप पड़ा हुआ है, उन सब द्वीपों की तथा सब समुद्रों की संख्या में चारों पत्थ के भरे हुए सर्वपों की संख्या मिला देने से जो संख्या होती है, एक कम वही संख्या उत्कृष्ट संख्यात है ।

उत्कृष्ट संख्यात और जघन्य संख्यात, इन दो के बीच को सब संख्यात को मध्यम संख्यात समझना चाहिये । शास्त्र में जहाँ-कहीं संख्यात शब्द का व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम संख्यात से ही मतलब है ॥ ७७ ॥

असंख्यात और अनन्त का स्वरूप ।

[दो गाथाओं से ।]

रूपज्वरं तु परित्ता-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।

जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥७८॥

रूपयुतं तु परीतासंख्यं जघन्य राशेरभ्यासे ।

युक्तासंख्येयं जघु, आवलिकासमयपरिमाणम् ॥७९॥

अर्थ—उत्कृष्ट संख्या में रूप (इतनी संख्या) गिराने से जघन्य परीतासंख्यात होता है । जघन्य परीतासंख्यात का अभ्यास करने से जघन्य युक्तासंख्यात होता है । जघन्य युक्तासंख्यात ही एक आवलिका के समयों का परिणाम है ॥७८॥

भावार्थ—उत्कृष्ट संख्यात में एक संख्या मिलाने से जघन्य परीतासंख्यात होता है । अर्थात् एक-एक सर्वष डाले हुए द्वीप-समुद्रों की और चार पक्षों सर्वषों की मिली हुई संपूर्ण संख्या ही जघन्य परीतासंख्यात है ।

जघन्य परीतासंख्यात का अभ्यास करने पर जो संख्या

१—दिगम्बर-शास्त्रों में भी 'रूप' शब्द एक संख्या के अर्थ में प्रयुक्त है । जैसे—जीवकाण्ड की १०७ तथा ११०वीं गाथा आदि तथा प्रवचन-सार-श्याधिकार की ७४वीं गाथा की टीका ।

२—जिस संख्या का अभ्यास करना हो, उसके अङ्ग को उतनी दफा लिखकर परस्पर गुणना अर्थात् प्रथम अङ्ग को दूसरे के साथ गुणना और जो गुणन-फल आवे, उसको तीसरे अङ्ग के साथ गुणना, इस रीति गुणन-फल को अगले अङ्ग के साथ । इस प्रकार पूर्व-पूर्व गुणन-फल को अगले अगले अङ्ग के साथ गुणना, अन्त में जो गुणन-फल प्राप्त हो, वही विवक्षित संख्या का अभ्यास है । उदाहरणार्थ—५ का अभ्यास ५१२५ है । इसकी विधि इस प्रकार है—५ को पाँच दफा लिखना—५, ५, ५, ५, ५ । पहले ५ को दूसरे ५ के साथ गुणने से ०५ हुए, ०५ को तीसरे ५ के साथ गुणने से १२५, १२५ को चौथे ५ के साथ गुणने से ६२५, ६२५ को पाँचवें ५ के साथ गुणने से ३१२५ हुए । —अनुयोगद्वार-टीका, पृ० २३६ ।

आती है, वह जघन्य युक्तासंख्यात है । शास्त्र में आवलिका के समर्थों-
को असंख्यात कहा है, सो जघन्य युक्तासंख्यात समझना चाहिये ।
एक कम जघन्य युक्तासंख्यात को उत्कृष्ट परीक्षासंख्यात तथा
जघन्य परीक्षासंख्यात और उत्कृष्ट परीक्षासंख्यात के बीच की सब
संख्याओं को मध्यम परीक्षासंख्यात जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

वित्तिचउपंचमगुणो, कमा सगासंख पदमचउसत्ता ।

णंता ते रुवजुया, मज्झा रुवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमगुणने क्रमात् सप्तशतस्य त्रयसप्तद्विंशतस्य च ।

अनन्तास्ते रूपयुता मध्या रूपोता गुरवः पञ्चात् ॥७९॥

अर्थ—दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें मूल भेद का अभ्यास
करने पर अनुक्रम से सातवीं असंख्यात और पहला, चौथा और
सातवाँ अनन्त होते हैं । एक संख्या मिलाने पर ये ही संख्याएँ
मध्यम संख्या और एक संख्या कम करने पर पीछे की उत्कृष्ट संख्या
होती है ॥ ७९ ॥

भावार्थ—पिछली गाथा में असंख्यात के चार भेदों का स्वरूप
बतलाया गया है । अब उसके शेष भेदों का तथा अनन्त के सब
भेदों का स्वरूप लिखा जाता है ।

असंख्यात और अनन्त के मूल-भेद तीन-तीन हैं, जो मिलने से
छह होते हैं । जैसे:—(१) परीक्षासंख्यात, (२) युक्तासंख्यात और
(३) असंख्यातासंख्यात; (४) परीक्षानन्त, (५) युक्तानन्त
और (६) अनन्तानन्त । असंख्यात के तीनों भेद के जघन्य, मध्यम
और उत्कृष्ट भेद करने से नी और इस तरह अनन्त के भी नी उतर-
भेद होते हैं, जो ७९ वीं गाथा में दिखाये हुए हैं ।

उक्त छह मूल भेदों में से दूसरे का अर्थात् युक्तासंख्यात का अभ्यास करने से नौ उत्तर-भेदों में से सातवाँ असंख्यात अर्थात् जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात में से एक घटाने पर पीछे का उत्कृष्ट भेद अर्थात् उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की सब संख्याएँ मध्यम युक्तासंख्यात हैं।

उक्त छह मूल भेदों में से तीसरे का अर्थात् असंख्यातासंख्यात का अभ्यास करने से अनन्त के नौ उत्तर भेदों में से प्रथम अनन्त अर्थात् जघन्य परीक्षानन्त होता है। जघन्य परीक्षानन्त में से एक संख्या घटाने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के बीच की सब संख्याएँ मध्यम असंख्यातासंख्यात हैं।

चौथे मूल भेद का अर्थात् परीक्षानन्त का अभ्यास करने से अनन्त का चौथा उत्तर भेद अर्थात् जघन्य युक्तानन्त होता है। एक कम जघन्य युक्तानन्त उत्कृष्ट परीक्षानन्त है। जघन्य परीक्षानन्त तथा उत्कृष्ट परीक्षानन्त के बीच की सब संख्याएँ मध्यम परीक्षानन्त हैं।

पाँचवें मूल भेद का अर्थात् युक्तानन्त का अभ्यास करने से अनन्त का सातवाँ उत्तर भेद अर्थात् जघन्य अन्तानन्त होता है। इसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। जघन्य युक्तानन्त और उत्कृष्ट युक्तानन्त के बीच की सब संख्याएँ मध्यम युक्तानन्त हैं। जघन्य अन्तानन्त के आगे की सब संख्याएँ मध्यम अन्तानन्त ही हैं; क्योंकि सिद्धान्त^१ मत के अनुसार उत्कृष्ट अन्तानन्त नहीं माना जाता ॥ ७६ ॥

असंख्यात तथा अनन्त के भेदों के विषय में
कार्मग्रन्थिक मत ।

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखसंखं, लहु रूपजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥
रूवूणमाइमं गुह तिवग्गिउं तं इमे वस वखेवे ।
लोगाकासएसा धम्माधम्मगेज्जियवेसा ॥ ८१ ॥
ठिइ बंधज्जवसाया, अणुभागा जोगच्छेयपरिभागा ।
दुष्ह य समाण समया पत्तेयनिगोएए खिवसु ॥ ८२ ॥
पुनरपि तंमिति वग्गिय, पारत्तणंत लहु तस्स रासीणं ।
अब्भासे लहु जुत्ता, णंतं अभवज्जियपमाणं ॥ ८३ ॥
तव्वगोपुण जायइ, णंताणंत लहु तं च तिकखुत्तो ।
वग्गसु तह चि न तं हो, इणंत खेवे खिवसु छ इमे ॥ ८४ ॥
सिद्धा तिगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला खेव ।
सव्वमलोगनहं पुण, तियग्गिउं केवलदुगंमि ॥ ८५ ॥
खित्ते णंताणंतं, हवेइ जिहं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहुमत्थाविचारो, तिहिओ वेविबसूराहि ॥ ८६ ॥

इति सूत्रोक्तमन्ये वर्गितं सङ्ख्यवर्तुर्थकमसंख्यम् ।

भक्त्यसंख्यासंख्यं लघु रूपयुतं तु तन्मध्यम् ॥ ८० ॥

रूपानमादिर्मं गुह त्रिवर्गीयित्वा तदिमान् दश क्षेत्रान् ।

लोकत्रयप्रदेशा धर्माधर्मिकजीवप्रदेशाः ॥ ८१ ॥

स्थि बन्धाव्यवसाया अनुभागा योगच्छेदपरिभागाः ।

द्वयोश्च समयोः समयाः प्रत्येकनिगोदकाः क्षिप ॥ ८२ ॥

पुनरपि तास्मिन्निर्वर्गिते परीतानन्तं सधु तस्य राशीनाम् ।

अब्भासे लघु युतानन्तमभ्यजीव प्रमाणम् ॥ ८३ ॥

१—ये ही दश क्षेत्र त्रिलोकसारकी ४२ से ४४ तक की गायामोंमें निदिष्ट हैं ।

२—ये ही छह क्षेत्र त्रिलोकसारकी ४६वीं गायामें वर्णित हैं ।

तद्वर्गे पुनर्जायतेऽनन्तामस्तं लघु तच्च त्रिकृत्वः ।

वर्गमस्य तथापि न तच्छ्रवणनन्तक्षेपान् क्षिप षड्विमान् ॥८५॥

मिद्धा निगोदजीवा वनस्पतिः कालपुद्गलाश्चैव ।

सर्वमलोकनभः पुनस्त्रिवर्गयित्वा केवलद्विकं ॥८५॥

क्षिप्तेऽनन्तानन्तं भवति ज्येष्ठं तु व्यवहरति मध्यम् ।

इति सूक्ष्मव्यवहारो लिखितो देवेन्द्रसूरिभिः ॥८६॥

अर्थ—पीछे भूजानुसारी मत कहा गया है । अब अन्य आचार्यों का मत कहा जाता है । चतुर्थ असंख्यात अर्थात् जघन्य युक्ता संख्यात का एक बार वर्ग करने से जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है । जघन्य असंख्यातासंख्यात में एक संख्या मिलाने से मध्यम असंख्यातासंख्यात होता है ॥८०॥

जघन्य असंख्यातासंख्यात में से एक संख्या घटा दी जाय तो पीछे का गुरु अर्थात् उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है । जघन्य असंख्यातासंख्यात का तीन बार वर्ग कर नीचे लिखी इस असंख्यात

१—किसी संख्या का तीन बार वर्ग करना हो तो उस संख्या का वर्ग करना, वर्ग-जन्म संख्या का वर्ग करना और वर्ग-जन्म संख्या का भी वर्ग करना । उदाहरणार्थ—५ का तीन बार वर्ग करना हो तो ५ का वर्ग २५, २५ का वर्ग ६२५, ६२५ का वर्ग ३९०६२५; यह पाँच का तीन बार वर्ग हुआ ।

२—लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव, इन चारों के प्रदेश असंख्यात-असंख्यात आपस में तुल्य हैं ।

ज्ञानावरणीय आदि प्रत्येक कर्म की स्थिति के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त समय-भेद से असंख्यात भेद है । जैसे—ज्ञानावरणीय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम-प्रमाण है । अन्तर्मुहूर्त से एक समय अधिक, दो समय अधिक, तीन समय अधिक, इस तरह एक-एक समय बढ़ते, बढ़ते एक समय कम तीस कोटा-कोटी सागरोपम तक की सब स्थितियाँ मध्यम हैं । अन्तर्मुहूर्त और तीस

संख्यायें उसमें मिलाना । (१) लोकाकाश के प्रदेश, (२) धर्मास्ति-

सागरोपम के बीच में असंख्यात समयों का अन्तर है; इसलिये अचन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक-एक प्रकार की होने पर भी उसमें मध्यम स्थितियाँ मिलाने से ज्ञानावरणीय की स्थिति के असंख्यात भेद होते हैं । अन्य कर्मों की स्थिति के विषय में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये । हर एक स्थिति के बन्ध में कारणभूत अध्यवसायों की संख्या असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर कही हुई है ।

“पद्मिष्ठिसंखलोगसमा ।” — भा० ५५, देवेन्द्रसूरि-कृत पञ्चम कर्मग्रन्थ ।

इस जगह सब स्थिति-बन्धों के कारणभूत अध्यवसायों की संख्या विवक्षित है ।

अनुभाग अर्थात् रसका कारण काषायिक परिणाम है । काषायिक परिणाम अर्थात् अध्यवसायके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर मन्दतम आदि रूप से असंख्यात भेद हैं । एक-एक काषायिक परिणाम से एक-एक अनुभाग-स्थान का बन्ध होता है क्योंकि एक काषायिक परिणाम से गृहीत कर्म परमाणुओं के रस-स्पर्शकों की ही साक्ष में अनुभाग बन्ध-कहा है । देखिये कम्मपयसी की ३१वीं गाय्या श्रीयशोविजयजी-कृत टीका । इसलिये काषायिक परिणाम-जन्य अनुभाग स्थान भी काषायिक परिणाम के तुल्य अर्थात् असंख्यात ही है । प्रसंगतः यह बात जाननी चाहिये कि प्रत्येक स्थिति-बन्ध में असंख्यात अनुभाग-स्थान होते हैं; क्योंकि जितने अध्यवसाय उतने ही अनुभाग-स्थान होते हैं और प्रत्येक स्थिति-बन्ध में कारणभूत अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाशप्रदेश-प्रमाण हैं ।

योग के निविभाग अंश असंख्यात है । जिस अंश का विभाग केवलज्ञान से भी न किया जा सके, उसको निविभाग अंश कहते हैं । इस जगह निगोद से संज्ञी पर्यन्त सब जीवों के योग, सम्बन्धी निविभाग अंशों की संख्या इष्ट है ।

जिस शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह ‘प्रत्येक शरीर’ है । प्रत्येक शरीर असंख्यात है; क्योंकि पृथ्वीकायिक से लेकर अस्कायिक पर्यन्त सब प्रकार के प्रत्येक जीव मिलाने से असंख्यात ही है ।

जिस एक शरीर के धारण करने वाले अनन्त जीव हों वह, ‘निगोद शरीर’ । ऐसे निगोदशरीर असंख्यात ही है ।

का दके प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, (४) एक जीव के प्रदेश, (५) स्थिति-बन्ध-जनक अध्यवसाय-स्थान, (६) अनुभाग-विशेष, (७) योग के निविभान अंश (८) अवर्त्तपिणी और उद्वर्त्तपिणी, इन दो काल के समय, (९) प्रत्येक शरीर और (१०) निगोबशरीर ॥८१॥८२॥

उक्त वस संख्याएँ मिलाकर फिर उसका तीन बार वर्ग करना । वर्ग करने से जघन्य परीक्षानन्त होता है । जघन्य परीक्षानन्त का अभ्यास करने से जघन्य युक्तानन्त होता है । यहो अभ्यस्त जीवों का परिमाण है ॥८३॥

उसका अर्थात् जघन्य युक्तानन्त का वर्ग करने से जघन्य अनन्तानन्त होता है । जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्ग करना लेकिन इतने से ही वह उत्कष्ट अनन्तानन्त नहीं बनता । इसलिये तीन बार वर्ग करके उसमें नीचे लिखी छह अनन्त संख्याएँ मिलाना ॥८४॥

(१) सिद्ध (२) निगोब के जीव, (३) अन्तर्मास्तिकायिक जीव, (४) तीनों काल के समय (५) संपूर्ण पुद्गल-परमाणु और (६) सभ्य आकाश के प्रदेश, इन छह की अनन्त संख्याओं को मिलाकर फिर से तीन बार वर्ग करना और उसमें केवल-वृक्के पर्यायों की संख्या को मिलाना । शास्त्र में अनन्तानन्त का व्यवहार किया जाता है, सो मध्यम अनन्तानन्त का जघन्य, या उत्कष्ट का नहीं । इस सूक्ष्मार्थ विचार नामक प्रकरण को श्री देवेन्द्र भूरि ने लिखा है ॥८५॥८६॥

भावार्थ—या० ७१ से ७६ तक में संख्या का वर्णन किया है, सो सैद्धान्तिक मत के अनुसार । अब कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार वर्णन किया जाता है । संख्या के इक्कीस भेदों में से पहले सात भेदों के स्वरूप के विषय में सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक आचार्यों का कोई मत-भेद नहीं है; अतः आदि सब भेदों के स्वरूप के विषय में मत-भेद है ।

१—मूलके 'अलोक' पदसे लोक अलोक दोनों प्रकार का आकाश विवक्षित है ।

२—ज्ञेयपर्याय अनन्त होने से ज्ञानपर्याय भी अनन्त है ।

कर्मग्रन्थिक आचार्यों का मत है कि जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने से जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है । जघन्य असंख्यातासंख्यात का तीन बार वर्ग करना और उसमें लोकाकाश-प्रवेश आदि की उपयुक्त वस असंख्यात संख्याएँ मिलाना । मिलाकर फिर तीन बार वर्ग करना । वर्ग करने से जो संख्या होती है, वह जघन्य परीत्तानन्त है ।

जघन्य परीत्तानन्त का अभ्यास करने से जघन्य युक्तानन्त होता है । शास्त्र में अमन्य जीव अनन्त कहे गये हैं, सो जघन्य युक्तानन्त समझना चाहिये ।

जघन्य युक्तानन्त का एक बार वर्ग करने से जघन्य अनन्तानन्त होता है । जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्गकर उसमें सिद्ध आदि की उपयुक्त छह संख्याएँ मिलाना चाहिये । फिर उसका तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के संपूर्ण पर्यायों की संख्या को मिलाना चाहिये । मिलाने से जो संख्या होती है, वह 'उत्कृष्ट अनन्तानन्त' है ।

मध्यम या उत्कृष्ट संख्या का स्वरूप जानने की रीति में सैद्धांतिक और कर्मग्रन्थिकों में मत-भेद नहीं है, पर ७६ वीं तथा ८०वीं गाथा में बतलाये हुए दोनों मत के अनुसार जघन्य असंख्यातासंख्यात का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है । अर्थात् सैद्धांतिकमत से जघन्य युक्तासंख्यात का अभ्यास करने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात बनता है और कर्मग्रन्थिकमत से जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात बनता है; इसलिये मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात आदि आगे की सब मध्यम और उत्कृष्ट संख्याओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न बन जाता है । जघन्य असंख्यातासंख्यात में से एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है । जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की सब

संख्याएँ मध्यम संख्यासंख्यात हैं। इसी प्रकार आगे भी किसी जघन्य संख्या में से एक घटाने पर उसके पीछे की उत्कृष्ट संख्या बनती है और जघन्य में एक, दो आदि की संख्या मिलाने से उसके सजा-सीय उत्कृष्ट तक की बीच की संख्याएँ मध्यम होती हैं।

सभी जघन्य और सभी उत्कृष्ट संख्याएँ एक-एक प्रकार की हैं; परन्तु मध्यम संख्याएँ एक प्रकार की नहीं हैं। मध्यम संख्यात के संख्यात भेद, मध्यम असंख्यात के असंख्यात भेद और मध्यम अनन्त के अनन्त भेद हैं; क्योंकि जघन्य या उत्कृष्ट संख्या का मतलब किसी एक निश्चित संख्या से हो है, पर मध्यम के विषय में यह बात नहीं। जघन्य और उत्कृष्ट संख्यात के बीच संख्यात इकाइयाँ हैं, जघन्य और उत्कृष्टअसंख्यात के बीच असंख्यात इकाइयाँ हैं, एवं जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त के बीच अनन्त इकाइयाँ हैं, जो क्रमशः 'मध्यम संख्यात', 'मध्यम असंख्यात' और 'मध्यम अनन्त' कह-लाती हैं।

शास्त्र में जहाँ-कहाँ अनन्तानन्त का व्यवहार किया गया है, वहाँ सब जगह मध्यम अनन्तानन्त से ही मतलब है।

(उपसंगार) इस प्रकरण का नाम "सूक्ष्मार्थ विचार" रखा है; क्योंकि इसमें अनेक सूक्ष्म विषयों पर विचार प्रगट किये गये हैं ॥८७-८६॥

तृतीयाधिकारके परिशिष्ट ।

परिशिष्ट “प”

पृष्ठ १७६, पंक्ति १० के ‘मूल बन्ध-हेतु’ पर—

यह विषय, पञ्चसंग्रह दा० ४ की १६ और २० वीं शाय्या में है, किन्तु उसके वर्णनमें यहाँ की अपेक्षा कुछ भेद है । उसमें १६ प्रकृतियों के बन्धको मिथ्यात्व- हेतुक, पैंतीस प्रकृतियों के बन्ध को अविरति, हेतुक, अरसठ प्रकृतियों के बन्धको कषाय-हेतुक और सातवेदनीय के बन्धको योग-हेतुक कहा है । यह केवल अन्वय-व्यतिरेक, उभय-मूलक काय-कारण-भावको को लेकर किया गया है जैसे—मिथ्यात्व के सञ्ज्ञाव में सोलहका बन्ध और उसके अभाव में सोलह के बन्धका अभाव होता है, इसलिये सोलह के बन्धका अन्वय-व्यतिरेक मिथ्यात्वके साथ घट सकता है । इसी प्रकार पैंतीसके बन्धका अविरतिक साथ, अरसठके बन्धका कषाय के साथ और सातवेदनीय के बन्ध का योग के साथ अन्वय-व्यतिरेक समझना चाहिये ।

परन्तु इस जगह केवल अन्वय-मूलक कार्य-कारण-भावको लेकर बन्ध का वर्णन किया है, व्यतिरेक को विवक्षा नहीं की है; इसी से यहाँ का वर्णन पञ्चसंग्रह के वर्णन से भिन्न मालूम पड़ता है । अन्वयः—जैसे, मिथ्यात्वके समय, अविरतिके समय, कषायके समय और योगके समय सातवेदनीय का बन्ध अवश्य होता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के समय सोलह का बन्ध, मिथ्यात्व के समय तथा अविरति के समय पैंतीस का बन्ध और मिथ्यात्व के समय, अविरति के समय तथा कषाय के समय सेष प्रकृतियों का बन्ध अवश्य होता है । इस अन्वयमात्र को ध्यान में रखकर श्रीद्वेन्दसूरि ने एक, सोलह, पैंतीस और अरसठ के बन्ध को क्रमशः चतुर्हेतुक, एक-हेतुक, द्वि हेतुक और त्रि हेतुक कहा है । उक्त चारों बन्धों का व्यतिरेक तं पञ्चसंग्रह के वर्णनानुसार केवल एक एक हेतु के साथ घट सकता है । पञ्चसंग्रह और यहाँ की वर्णन-शैली में भेद है, तात्पर्य में नहीं ।

तत्त्वार्थ अ० ८ सू० १ में बन्ध के हेतु पाँच कहे हुए हैं, उसके अनु-
सार अ० ६ सू० १ की सर्वार्थसिद्धि में उत्तर प्रकृतियों के और बन्ध हेतु
के कार्य-कारण-भाव का विचार किया है। उसमें सोलह के बन्ध को
मिथ्यात्व-हेतुक, उन्तालीस के बन्ध को अविति-हेतुक, छह के बन्ध को
प्रमाद-हेतुक, अष्टावन के बन्ध को कषाय-हेतुक और एक के बन्ध को योग
हेतुक बतलाया है। अविरति को अनन्तानुबन्धकषाय-जन्य, अप्रत्यानावरण
कषाय जन्य और प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य, ये तीन भेद किये हैं। प्रथम
अविरतिको पच्चीस के बन्धका, दूसरे को इस के सत्त्वद्वय और तीसरी को
चार के बन्धका का कारण दिखाकर कुल उन्तालीस के बन्ध को अविरति
हेतुक कहा है। पंचसंग्रह में जिन अरसठ प्रकृतियों के बन्ध को कषाय हेतुक
माना है उनमें से चार के बन्ध को प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य अविरति
हेतुक और छह के बन्ध को प्रमाद-हेतुक सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है;
इसलिये उसमें कषाय-हेतुक बन्धवाली अष्टावन प्रकृतियाँ ही कही हुई हैं।



परिशिष्ट "फ" ।

पृष्ठ २०६, पंक्ति १४के 'मूल भाव' पर—

गुणस्थानोंमें एक-जीवाश्रित भावोंकी संख्या जैसी इस गाथा में है, वैसी ही पञ्चसंग्रहके द्वार २को ६४वीं गाथामें है; परन्तु इस गाथा की टीका और ट्ठामें तथा पञ्चसंग्रहकी उक्त गाथा की टीका में थोड़ासा व्याख्या-भेद है ।

टीका-ट्ठामें 'उपशमक' 'उपशान्त' दो पदोंसे नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ, ये तीन गुणस्थान ग्रहण किये गये हैं और 'अपूर्व' पदसे आठवाँ गुणस्थानमात्र । नीचे आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशमश्रेणि-वाले औपशमिक-सम्बन्धीको या क्षयिकसम्बन्धीको चारित्र औपशमिक माना है । आठवें गुणस्थानमें औपशमिक या क्षयिक किसी सम्यक्त्ववालेको औपशमिकचारित्र इष्ट नहीं है, किन्तु क्षयोपशमिक । इसका प्रमाण गाथामें 'अपूर्व' शब्दका अलग ग्रहण करना है; क्योंकि यदि आठवें गुणस्थानमें भी औपशमिक-चारित्र इष्ट होता तो 'अपूर्व' शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमक शब्दसे ही नीचे आदि गुणस्थानकी तरह आठवेंका भी सूचन किया जाता । नीचे और दसवें गुणस्थानके क्षपकश्रेणि-गत-जीव-सम्बन्धी भावोंका व चारित्र का उल्लेख टीका या ट्ठामें नहीं है ।

पञ्चसंग्रहकी टीकामें श्रीमत्प्रगिरिने 'उपशमक' 'उपशान्त' पद से आठवें से ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिवाले चार गुणस्थान और 'अपूर्व' तथा 'क्षीण' पदसे आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ, ये क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं । उपशमश्रेणिवाले उक्त चारों गुणस्थान में उन्होंने औपशमिकचारित्र माना है, पर क्षपकश्रेणिवाले चारों गुणस्थानके चारित्रके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख नहीं किया है ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें सम्पूर्ण मोहनीयका उपशम हो जानेके कारण सिर्फ औपशमिकचारित्र है । नीचे और दसवें गुणस्थानमें औपशमिक क्षयोपशमिक दो चारित्र हैं; क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी कुछ प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं, सब नहीं । उपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे औपशमिक

और अनुपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक-चारित्र्य समझना चाहिये । यद्यपि यह बात इस प्रकार स्पष्टतासे नहीं कही गई है परन्तु पञ्च० द्वा० ३की २५वीं गाथा की टीका देखने से इस विषयमें कुछ भी संदेह नहीं रहता, क्योंकि उसमें सूक्ष्मसंपरायचारित्र्यको, जो दसवें गुणस्थान में ही होता है, क्षायोपशमिक कहा है ।

उपशमश्रेणिवाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें चारित्र्यमोहनीयके उपशमका आरम्भ या कुछ प्रकृतियोंका उपशम होनेके कारण औपशमिकचारित्र्य, जैसे पञ्चसंग्रह-टीकामें माना गया है, वैसे ही क्षपकश्रेणिवाले आठवें आदि तीनों गुणस्थानोंमें चारित्र्यमोहनीयके क्षयका आरम्भ या कुछ प्रकृतियोंका क्षय होनेके कारण क्षायिकचारित्र्य माननेमें कोई विरोध नहीं दीख पड़ता ।

शोम्भटसारमें उपशमश्रेणिवाले आठवें आदि चारों गुणस्थानमें चारित्र्य औपशमिक ही माना है और क्षायोपशमिकका स्पष्ट निषेध किया है । इसी तरह क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थानोंमें क्षायिकचारित्र्य ही मानकर क्षायोपशमिकका निषेध किया है । यह बात कर्मकाण्ड की ८४५ और ८४६वीं गाथाओंके देखनेसे स्पष्ट हो जाती है ।

परिशिष्ट "ब" ।

पृष्ठ २०७, पंक्ति ३ के 'भावार्थ' शब्द पर—

यह विचार एक जीवमें किसी विवक्षित समय में पाये जानेवाले भावोंका है।

एक जीवमें भिन्न-भिन्न समयमें पाये जानेवाले भाव और अनेक जीव में एक समयमें या भिन्न भिन्न समयमें पाये जानेवाले भाव प्रसङ्ग-वश लिखे जाते हैं। पहले तीन गुणस्थानोंमें औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये तीन भाव चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें पाँचो भाव बारहवें गुणस्थानमें औपशमिकके सिवाय चार भाव और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें औपशमिक-क्षायोपशमिकके सिवाय तीन भाव होते हैं।

अनेक जीवोंकी अपेक्षासे गुणस्थानोंमें भावों के उत्तर भेद—

आयोपशमिक—पहले दो गुणस्थानोंमें तीन अज्ञान, नशु आदि दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ, ये १०; तीसरेमें तीन ज्ञान, तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ, ये १२; चौथेमें तीसरे गुणस्थान वाले १२ किन्तु मिश्रदृष्टिके स्थानमें सम्यक्त्व; पाँचवेंमें नौके गुणस्थानवाले बारह तथा देशविरति, कुल १३; छठे, सातवेंमें उक्त तेरह में से देश-विरतिको घटाकर उनमें सर्वविरति और मनःपर्यवसान मिलानेसे १४; आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें उक्त चौदहमेंसे सम्यक्त्वके सिवाय शेष १३; ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानमें उक्त तेरह में से चारित्रिको छोड़कर शेष १२ क्षायोपशमिक भाव हैं। तेरहवें और चौदहवेंमें आयोपशमिकभाव नहीं हैं।

औदयिक—पहले गुणस्थानमें अज्ञान आदि २१; दूसरे में मिथ्यात्वके सिवाय २०; तीसरे-चौथेमें अज्ञानको छोड़ १६; पाँचवेंमें देवगति, नारक-गति के सिवाय उक्त उभोसमेंसे शेष १७, छठेमें तिर्यञ्चगति और असंयम घटाकर १५; सातवेंमें कृष्ण आदि तीन लेख्याओंको छोड़कर उक्त पन्द्रहमेंसे शेष १२; आठवें नौवेंमें तेजः और पक्ष-लेख्याके सिवाय १०; दसवेंमें क्रोध मान, माया और तीन वेदके सिवाय उक्त दसमेंसे शेष ४; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें सज्जलनलोभको छोड़ शेष ३ और चौदहवें गुणस्थानमें शुल्कनेश्याके सिवाय तीनमेंसे मनुष्यगति और असिद्धत्व, ये दो औदायिकभाव हैं।

क्षायिक—पहले तीन गुणस्थानोंमें क्षायिकभाव नहीं है। चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व, बारहवेंमें सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें चौदहवें दो गुणस्थानोंमें नौ क्षायिकभाव हैं।

औपशमिक—पहले तीन और बारहवें आदि तीन, इन छह गुणस्थानों में औपशमिकभाव नहीं है। चौथेसे आठवें तक पाँच गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व,

२३२

नौवेंसे ग्यारहवें तक तीन गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो औप-
शमिकभाव हैं ।

पारिणामिक—पहले गुणस्थानमें जीवत्व आदि तीनों; दूसरेसे बार-
हवें तक ग्यारह गुणस्थानोंमें जीवत्व, भव्यत्व, दो और तेरहवें-चौदहवेंमें
जीवत्व ही पारिणामिकभाव है । सम्यक्त्व अनादि-सान्त है । क्योंकि सिद्ध-
अवस्थामें उसका अभाव हो जाता है । वातिकर्मक्षय होनेके बाद सिद्ध-अवस्था
प्राप्त होनेमें बहुत विलम्ब नहीं लगता; इस अपेक्षासे तेरहवें-चौदहवें गुण-
स्थानमें भव्यत्व पूर्वाचार्योंने नहीं माना है ।

गोमूढसार-कर्मकण्ठ की ८२० से ८७५ तककी गाथाओंमें स्थान-
गत तथा पद-गत भङ्गद्वारा भावोंका बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ।

एक-जीवाश्रित भावोंके उत्तर भेदः—

आयोपशमिक—पहले दो गुणस्थानमें मति-श्रुत दो या विमङ्गलसहित
तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ
तीसरेमें दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ;
चौथे में दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त-अवस्थामें अचक्षु एक या अचक्षु
सहित दो दर्शन और पर्याप्त-अवस्थामें दो तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच
लब्धियाँ पाँचवेंमें दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन- सम्यक्त्व- देश-
विरति, पाँच लब्धियाँ; छठे सातवें में दो तीन या मनःपर्याप्तपर्यन्त चार
ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, पाँच लब्धियाँ; आठवें नौवें
और दशवें में सम्यक्त्वको छोड़ छठे और सातवें गुणस्थानवाले सब आयो-
पशमिक भाव । ग्यारहवें-बारहवेंमें चारित्रको छोड़ दसवें गुणस्थानवाले सब
भाव ।

औदयिकः—पहले गुणस्थानमें अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, एक लेख्या
एक कषाय, एक मति, एक वेद और मिथ्यात्व; दूसरेमें मिथ्यात्वको छोड़
पहले गुणस्थानवाले सब औदयिक; तीसरे, चौथे और पाँचवें में अज्ञान को
छोड़ दूसरेवाले, सब छठेसे लेकर नौवें तकम असंयमके सिवाय पाँचवेंवाले सब;
दसवेंमें वेदके सिवाय नौवेंवाले सब; ग्यारहवें-बारहवेंमें कषायके सिवाय
दसवेंवाले सब; तेरहवेंमें असिद्धत्व, लेख्या और मति; चौदहवें में मति
और असिद्धत्व ।

आयिक चौथेमें ग्यारहवें गुणस्थान तक में सम्यक्त्व; और चारित्र
दो और तेरहवें चौदहवें में—नौ आयिकभाव ।

औपशमिक—नौवेंसे आठवें तक सम्यक्त्व; नौवेंसे ग्यारहवें तक
सम्यक्त्व और चारित्र ।

पारिणामिक—पहलेमें तीनों; दूसरेसे बारहवें तक में जीवत्व और
भव्यत्व दो; तेरहवें और चौदहवेंमें एक जीवत्व ।

परिशिष्ट न० १ ।

इवेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय संप्रदाय के [कुछ] समान
तथा असमान मन्तव्य ।

(क)

निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से जीव शब्द की व्याख्या दोनों संप्रदाय में तुल्य है । पृष्ठ-४ । इस सम्बन्ध में जीवकाण्ड का 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है ।

मार्गणास्थान शब्द की व्याख्या दोनों संप्रदाय में समान है । पृष्ठ-४ ।

गुणस्थान शब्द की व्याख्या-शैली कर्मग्रन्थ और जीवकाण्ड में भिन्नसी है, पर उसमें सात्त्विक अर्थ-भेद नहीं है । पृ०-४ ।

उपयोग का स्वरूप दोनों संप्रदायों में समान माना गया है । पृ०-५ ।

कर्मग्रन्थ में अपर्याप्त संज्ञी को तीन गुणस्थान माने हैं, किन्तु गोम्वटसार में पाँच माने हैं । इस प्रकार दोनों का संख्याविषयक मत-भेद है, तथापि वह अपेक्षाकृत है, इसलिये वास्तविक दृष्टि से उसमें समानता ही है । पृ०-१२ ।

केवलज्ञानी के विषय में संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व का व्यवहार दोनों संप्रदाय के शास्त्रों में समान है । पृ०-१३ ।

वायुकाय के वारीर की ध्वजाकारता दोनों संप्रदाय को मान्य है । पृ०-२० ।

छासस्थिक उपयोगों का काल-मान अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण दोनों संप्रदायों को मान्य है । पृ०-२०, नोट ।

भावलेख्या के सम्बन्ध की स्वरूप, दृष्टान्त आदि अनेक बातें दोनों सम्प्रदाय में तुल्य हैं । पृ०-२३ ।

चौदह मार्गशाओं का अर्थ दोनों सम्प्रदाय में समान है तथा उनकी मूल गायार्थ भी एकसी हैं । पृ०-४७, नोट ।

सम्यक्तव की व्याख्या दोनों सम्प्रदाय में तुल्य है । पृ०-५०, नोट ।

व्याख्या कुछ भिन्नसी होने पर भी आहार के स्वरूप में दोनों सम्प्रदाय का तात्त्विक भेद नहीं है । इवेताम्बर-ग्रन्थों में सर्वत्र आहार के तीन भेद हैं और दिगम्बर-ग्रन्थों में कहीं छह भेद भी मिलते हैं । पृ०-५०, नोट ।

परिहारविशुद्धसंयम का अधिकारी कितनी उन्नता होना चाहिये, उसमें कितना ज्ञान आवश्यक है और वह संयम किसके समीप ग्रहण किया जा सकता और उसमें विहार आदि का कालनियम कैसा है, इत्यादि उसके सम्बन्ध की बातें दोनों सम्प्रदाय में बहुत अंशों में समान हैं । पृ०-५१, नोट ।

आधिकसम्यक्तव जिनकालिक मनुष्यों को होता है, यह बात दोनों सम्प्रदाय को दृष्ट है । पृ०-६६, नोट ।

केवली में द्रव्यमय का सम्बन्ध दोनों सम्प्रदायों में दृष्ट है । पृ०-१०१, नोट ।

निश्चसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में मति आदि उपयोगों की ज्ञान-अज्ञान उभयरूपता गोम्मटसार में भी है । पृ०-१०३, नोट ।

गर्भज मनुष्यों की संख्या के सूचक उन्तीस अङ्ग दोनों सम्प्रदाय में तुल्य हैं । पृ०-११७, नोट ।

इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रिय आवि का और कायमार्गणा में तेजः—
काय आवि का विशेषाधिकार्य दोनों सम्प्रदाय में समान दृष्ट है ।
पृ०-१२२, नोट ।

वक्रगति में विग्रहों की संख्या दोनों सम्प्रदाय में समान है । फिर
भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में कहीं-कहीं ओ चार विग्रहों का मतान्तर
पाया जाता है, वह दिगम्बरीय ग्रन्थों में देखने में नहीं आया । तथा
वक्रगति का काल-मान दोनों सम्प्रदाय में तुल्य है । वक्रगति में अना-
हारकत्व का काल-मान, व्यवहार और निश्चय, वो दृष्टियों से विचार
जाता है । इसमें से व्यवहार-दृष्टि के अनुसार श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-
में विचार है और निश्चय-दृष्टि के अनुसार दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ में
विचार है । अत एव इस विषय में भी दोनों सम्प्रदाय का वास्तविक मत-
मेव नहीं है । पृ०-१४३ ।

अवधिवर्शन में गुणस्थानों की संख्या के विषय में सैद्धांतिक एक
और कार्मप्रस्थिक दो, ऐसे जो तीन पक्ष हैं, उनमें से कार्मप्रस्थिक
दोनों ही पक्ष दिगम्बरीय ग्रन्थों में मिलते हैं । पृ०-१४६ ।

केवलज्ञानी में आहारकत्व, आहारका कारण असातवेदनीय का
उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, ये तीनों बातें दोनों सम्प्रदाय
में समान मान्य हैं । पृ०-१४८ ।

गुणस्थान में जीवस्थान का विचार गोम्मटसार में कर्मग्रन्थ की
अपेक्षा कुछ भिन्न जान पड़ता है । पर वह अपेक्षाकृत होने से वस्तुतः
कर्मग्रन्थ के समान ही है । पृ०-१६१, नोट ।

गुणस्थान में उपधोग की संख्या कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार में
तुल्य है । पृ०-१६७, नोट ।

एकेन्द्रिय में सासादनभाव मानने और न मानने वाले, ऐसे जो

दो पक्ष इवेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, विगम्बर-ग्रन्थों में भी हैं । पृ०-१७१, नोट ।

इवेताम्बर-ग्रन्थों में जो कहीं कर्मग्रन्थ के चार हेतु, कहीं दो हेतु और कहीं पाँच हेतु कहे हुए हैं; विगम्बर-ग्रन्थों में जो वे सब वर्णित हैं । पृ०-१७४, नोट ।

बन्ध-हेतुओं के उत्तर मेव आदि दोन संप्रदाय में समान हैं । पृ०-१७५, नोट ।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओं का विचार दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में है । पृ०-१८१, नोट ।

एक संख्या के अर्थ में रूप शब्द दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है । पृ०-२१८, नोट ।

कर्मग्रन्थ में वर्णित घस तथा छह क्षेत्र त्रिलोकसार में भी हैं । पृ०-२२१, नोट ।

उत्तर प्रकृतियों के भूल बन्ध-हेतु का विचार जो सर्वार्थसिद्धि में है, वह पञ्चसंग्रह में किये हुए विचार से कुछ भिन्नता होने पर भी वस्तुतः उसके समान ही है । पृ०-२२७ ।

कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह में एक-जीवाश्रित भावों का जो विचार है, गोमटसार में बहुत अंशों में उसके समान ही वर्णन है । पृ०-२२६ ।

(ख)

इवेताम्बर-ग्रन्थों में तेजःकाय की वैक्रिय शरीर का कथन नहीं है, पर विगम्बर-ग्रन्थों में है । पृ०-१६, नोट ।

इवेताम्बर संप्रदाय की अपेक्षा विगम्बर संप्रदाय में संज्ञि-असंज्ञी का व्यवहार कुछ भिन्न है । तथा इवेताम्बर-ग्रन्थों में हेतुवादीपदेशकी

आदि संज्ञाओं का विस्तृत वर्णन है, पर विगम्बर-ग्रन्थों में नहीं है ।
पृ०—६६ ।

इवेताम्बर-शास्त्र-प्रसिद्ध कारणपर्याप्त शब्द के स्थान में विगम्बर-शास्त्र में निवृत्त्यपर्याप्त शब्द है । ध्याएँ भी दोनों शब्दों की कुछ भिन्न है । पृ०—४१ ।

इवेताम्बर-ग्रन्थों में केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का कर्मावित्त्व, सहभावित्व और अभेद, ये तीन पक्ष हैं, परन्तु दिगम्बर-ग्रन्थों में सहभावित्व का एक ही पक्ष है । पृ०—४३ ।

लेइया तथा आयु के बन्धावन्ध की अपेक्षा से कषाय के जो सौम्य और जोस भेद गोम्मटसार में हैं, वे इवेताम्बर-ग्रन्थों में नहीं देखे गये । पृ०—५५, नोट ।

अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्तत्व पाये जाने और न पाये जाने के सम्बन्ध में दो पक्ष इवेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में उक्त दो में से पहिला पक्ष ही है । पृ०—७०, नोट ।

अज्ञान-त्रिक में गृणस्थानों की संख्या के सम्बन्ध में दो पक्ष कर्म-ग्रन्थ में मिलते हैं, परन्तु गोम्मटसार में एक ही पक्ष है । पृ०—८२, नोट

गोम्मटसार में नारको की संख्या कर्मग्रन्थ-वर्णित संख्या से भिन्न है । पृ०—११६, नोट ।

द्रव्यमन का आकार तथा स्थान दिगम्बर संप्रदाय में इवेताम्बर की अपेक्षा भिन्न प्रकार का माना है और तीन योगों के बाह्यम्यन्तर कारणों का वर्णन राजवातिक में बहुत स्पष्ट किया है । पृ०—१३४ ।

मनःपर्यायज्ञान के योगों की संख्या दोनों सम्प्रदाय में सुलभ नहीं है । पृ०—१५४ ।

इवेताम्बर-ग्रन्थों में जिस अर्थ के लिये आयोजिकाकरण, आश्रित-करण और आश्रयककरण, ऐसी तीन संज्ञाएँ मिलती हैं, दिगम्बर-ग्रन्थों में उस अर्थ के लिये सिर्फ आश्रितकरण, यह एक संज्ञा है । पृ०-१५५ ।

इवेताम्बर-ग्रन्थों में काल को स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपलब्ध भी । किन्तु दिगम्बर-ग्रन्थों में उसको स्वतन्त्र ही माना है । स्वतन्त्र पक्ष में भी काल का स्वरूप दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में एकता नहीं है । पृ०-१५७ ।

किसी-किसी गुणस्थानों में योगों की संख्या गोम्मटसार में कर्म-ग्रन्थ की अपेक्षा भिन्न है । पृ०-१६३, नोट ।

दूसरे गुणस्थान के समय ज्ञान तथा अज्ञान मानने वाले ऐसे दो पक्ष इवेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में सिर्फ दूसरा पक्ष है । पृ०-१६६, नोट ।

गुणस्थानों में लेश्या की संख्या के संबंध में इवेताम्बर-ग्रन्थों में दो पक्ष हैं और दिगम्बर-ग्रन्थों में सिर्फ एक पक्ष है । पृ०-१७२, नोट ।

[जीव सम्यक्त्वसहित मरकर स्वीकृत में वैसा नहीं होता, यह बात दिगम्बर संप्रदाय को मान्य है, परन्तु इवेताम्बर संप्रदाय को यह मन्तव्य दृष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भगवान् महत्त्वनाथ का स्वीकृत तथा सम्यक्त्वसहित उत्पन्न होना माना गया है ।]

परिशिष्ट नं० २ ।

कर्मग्रन्थिकों और सिद्धान्तिकों का मत-भेद ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानों में तीन उपयोगों का कथन कर्मग्रन्थिक मत का फलित है । सिद्धान्तिक मत के अनुसार तो छह जीवस्थानों में ही तीन उपयोग फलित होते हैं और द्वीन्द्रिय आदि शेष चार जीवस्थानों में पाँच उपयोग फलित होते हैं । पृ०-२२, नोट ।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के संबन्ध में कर्मग्रन्थिकों तथा सिद्धान्तिकों का मत-भेद है । कर्मग्रन्थिक उसमें नौ तथा दस गुणस्थान मानते हैं और सिद्धान्तिक उसमें बारह गुणस्थान मानते हैं । पृ०-१४६ ।

सिद्धान्तिक दूसरे गुणस्थान में ज्ञान मानते हैं, पर कर्मग्रन्थिक उसमें अज्ञान मानते हैं । पृ०-१६६, नोट ।

वेक्रिय तथा आहारक-शरीर बनाते और त्यागते समय कील सा योग मानना चाहिये, इस विषय में कर्मग्रन्थिकों का और सिद्धान्तिकों का मत-भेद है । पृ०-१७०, नोट ।

सिद्धान्तिक एकेन्द्रिय में सासादनभाव नहीं मानते, पर कर्मग्रन्थिक मानते हैं । पृ०-१७१, नोट ।

एग्विभेद के अनन्तर धीन सा सम्यक्त्व होता है, इस विषय में सिद्धान्त तथा कर्मग्रन्थ का मत-भेद है । पृ०-१७१ ।



परिशिष्ट नं० ३।

चौथा कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह ।

जीवस्थानों में योग का विचार पञ्चसंग्रह में भी है । पृ०—
१५, नोट ।

अपर्याप्त जीवस्थान के योगों के संबन्ध का भव-भेद जो इस कर्म
ग्रन्थ में है, वह पञ्चसंग्रह की ओर से विस्तारपूर्वक है । पृ०—१६ ।

जीवस्थान में उपयोगों का विचार पञ्चसंग्रह में भी है । पृ०—
२०, नोट ।

कर्मग्रन्थ कारने विमलज्ञान में दो जीवस्थानों का और पञ्चसंग्रह
कारने एक जीवस्थान का उल्लेख किया है । पृ०—६८, नोट ।

अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्तव पाया जा सकता है, यह
बात पञ्चसंग्रह में भी है । पृ०—७० नोट ।

पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक होने का वर्णन पञ्चसंग्रह
में है । पृ०—१२५, नोट ।

पञ्चसंग्रह में भी गुणस्थानों को लेकर लेकर योगों का विचार
है । पृ० १६३, नोट ।

गुणस्थान में उपयोग का वर्णन पञ्चसंग्रह में है । पृ०—१६७, नोट ।

बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद तथा गुणस्थानों में मूल बन्ध-हेतु-
ओंका विचार पञ्चसंग्रह में है । पृ०—१७५, नोट ।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओं का वर्णन पञ्चसंग्रह में
विस्तृत है । पृ०—१८१, नोट ।

गुणस्थानों में बन्ध, उदय आदि का विचार पञ्चसंग्रह में है ।
पृ०-१५७, नोट ।

गुणस्थानों में अल्प-बहुत्व का विचार पञ्चसंग्रह में है। पृ०-१६२, नोट ।

कर्म के भाव पञ्चसंग्रह में हैं । पृ०-२०४, नोट ।

उपर्युक्त बातों से मूल बन्ध-हेतु का विचार कर्मग्रन्थ और
पञ्चसंग्रह में भिन्न-भिन्न शैली का है । पृ०-२२७ ।

एक जीवाश्रित भावों की संख्या मूल कर्मग्रन्थ तथा मूल पञ्च-
संग्रह में भिन्न नहीं है, किन्तु दोनों व्याख्याओं में देने में योग्य
बोड़ा सा विचार-मेव है । पृ०-२२६ ।

परिशिष्ट नं० ४ ।

ध्यान देने योग्य कुछ विशेष-विशेष स्थल ।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर ।

पृ०—४ ।

परभव की आयु बाँधने का समय-विभाग अधिकारी-भेद के अनुसार किस-विधा व्यवस्था का है ? तथा का अनुशासन । पृ०—२४, नोट ।

उद्दीश्या किस प्रकार के कर्म की होती है और वह कब तक हो सकती है ? इस विषय का नियम । पृ०—२६, नोट ।

ब्रह्म-लेश्या के स्वरूप के सम्बन्ध में कितने पक्ष हैं ? उन सबका आशय क्या है ? भावलेश्या क्या वस्तु है और महाभारत में, योग, दर्शन में तथा गोपालक के मत में लेश्या के स्थान में कौसी कल्पना है ? इत्यादि का विचार । पृ०—३३

शास्त्र में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जो इन्द्रिय-सापेक्ष प्राणियों का विभाग है वह किस अपेक्षा से ? तथा इन्द्रिय के कितने भेद-प्रभेद हैं और उनका क्या स्वरूप है ? इत्यादि का विचार । पृ०—३६ ।

संज्ञा का तथा उसके भेद-प्रभेदों का स्वरूप और संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व के व्यवहार का नियामक क्या है ? इत्यादि पर विचार पृ०—३८ ।

अपर्याप्ति तथा पर्याप्ति और उसके भेद आदि का स्वरूप तथा पर्याप्ति का स्वरूप । पृ०—४० ।

केवल ज्ञान तथा केवलवर्णन के क्रमभावित्व, सहजादित्व और अभेद, इन तीन पक्षों की मुख्य-मुख्य बलीयें तथा उक्त तीन पक्ष किस-किस नयकी अपेक्षा से हैं ? इत्यादि का वर्णन । पृ०—४३

बोलने तथा सुनने की शक्ति नहोने पर भी एकेन्द्रिय में भुक्त-उप-योग स्वीकार किया जाता है, तो किस तरह ? इस पर विचार । पृ०—४५ ।

पुरुष व्यक्ति में स्त्री-योग्य और स्त्री व्यक्ति में पुरुष-योग्य भाव पाये जाते हैं और कभी तो किसी एक ही व्यक्ति में स्त्री-पुरुष दोनों के साक्षात्पर्यन्तर लक्षण होते हैं । इसके विश्वस्त सबूत । पृ०—५३, नोट ।

आवर्तों की वस्तु को ज्ञान दिया नहीं जाता है, उसका खुलासा । पृ०—६१, नोट ।

मनःपर्याय-उपयोग को कोई आचार्य वर्णनरूप भी मानते हैं, इसका प्रमाण । पृ०—६२, नोट ।

जातिमध्य किसको कहते हैं ? इसका खुलासा । पृ०—६५, नोट ।

औपशान्तिकसम्बन्धत्व में दो जीवस्थान मानने वाले और एक जीवस्थान मानने वाले आचार्य अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिये अपर्याप्त-अवस्था में औपशान्तिकसम्बन्धत्व पाये जाने और न पाये जाने के विषय में क्या-क्या युक्ति देते हैं ? इसका सविस्तर वर्णन । पृ०—७०, नोट ।

संमुखिष्ठम मनुष्यों की उत्पत्ति के क्षेत्र और स्थान तथा उनकी आयु और योग्यता जानने के लिये आगमिक-प्रमाण । पृ०—७०, नोट ।

स्वर्ग से छुट होकर वेद किन स्थानों में पैदा होते हैं ? इसका कथन । पृ०—७३, नोट ।

ब्रह्मदर्शन में कोई तीन ही जीवस्थान मानते हैं और कोई छह । यह मत-भेद इन्द्रियपर्याप्त की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं पर निर्भर है । इसका सप्रमाण कथन । पृ०—७६, नोट ।

कर्मग्रन्थ में असंज्ञो पञ्चेन्द्रिय को स्त्री और पुरुष, ये दो वेद

माने हैं और सिद्धान्त में एक भुज्जक, सो किस अपेक्षा से ? इसका प्रमाण । पृ०—७८, नोट ।

अज्ञान-विक्रम में दो गुणस्थान मानने वालों का तथा तीन गुणस्थान मानने वालों का आशय क्या है ? इसका खुलासा । पृ० ८२ ।

कृष्ण आदि तीन अष्टम लेश्याओं में छह गुणस्थान इस कर्म-ग्रन्थ में माने हुए और पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थों में उक्त तीन लेश्याओं में चार गुणस्थान माने हैं । सो किस अपेक्षा से ? इसका प्रमाण-पूर्वक खुलासा । पृ०—८८ ।

जब मरण के समय ग्यारह गुणस्थान पाये जाने का कथन है, तब विग्रहगति में तीन ही गुणस्थान कैसे माने गये ? इसका खुलासा । पृ०—८९ ।

स्त्रीवैद्य में तेरह योगों का तथा वैद्य सामान्य में द्वात्रिंश उपयोगों का और नौ गुणस्थानों का जो कथन है, सो ब्रह्म और भाव में से किस-किस प्रकार के वैद्य की लेने से घट सकता है ? इसका खुलासा । पृ०—९७, नोट ।

उपशमसम्पत्तय के योगों में औदारिकमिश्रयोग का परिगणन है, सो किस तरह सम्भव है ? इसका खुलासा । पृ०—९८ ।

मार्गवाओं में श्री अरुणसहस्र का विचार कर्मग्रन्थ में है, वह आगम आदि किन प्राचीन ग्रन्थों में है ? इसकी सूचना । पृ०—११५, नोट ।

काल की अपेक्षा क्षेत्र की की सूक्ष्मता का सप्रमाण कथन । पृ०—१७७ नोट

शुक्ल, पद्म और तेजो-लेश्यावालों के संख्यातगुण अल्प-बहुत्व पर शङ्का-समाधान तथा उस विषय में टकाकार का, मन्तव्य । पृ०—१३०, नोट

तीन योगों का स्वरूप तथा उनके आह्ला-आभ्यन्तर कारणों का स्पष्ट कथन और योगों की संख्या के विषय में शङ्का-समाधान तथा द्रव्यमय, इन्द्रियबन्धन और शरीर का स्वरूप । पृ०—१३४, ।

सम्यक्त्व सहेतुक है या निहेतुक ? आयोपशमिक आवि में
का आधार, औपशमिक और आयोपशमिक-सम्यक्त्व का आपस में अन्तर,
आयिक सम्यक्त्वकी उन दोनों से विशेषता, कुछ शङ्का-समाधान,
विश्वकीदय और प्रवेशादय का स्वरूप, आयोपशम तथा उपशम-शब्द की
व्याख्या, एवं अन्य प्रासङ्गिक विचार । पृ०-१३६ ।

अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्त पूर्ण होने के पहिले चक्षुर्दर्शन
नहीं माने जाने और चक्षुर्दर्शन माने जाने पर प्रमाण पूर्वक विचार ।
पृ०-१४१ ।

वक्रगति के सम्बन्ध में तीन बातों पर सविस्तार:- (१) वक्रगति-
के विग्रहों की संख्या, (२) वक्रगति का काल-मान और (३) वक्रगति
में अनाहारकत्व काल-मान । पृ०-१४३ ।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के विषय में पक्ष-भेद तथा
प्रत्येक पक्ष का तात्पर्य अर्थात् विभक्तज्ञान से अवधिदर्शन का भेदाभेद ।
पृ०-१४६ ।

श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदाय में कवलाहार-वितयक भूत-भेद का
समन्वय । पृ०-१४८ ।

केवल ज्ञान प्राप्त कर सकने वाली स्त्रीजाति के लिये भूतज्ञान-
विशेष का अर्थात् दृष्टिबाध के अध्ययन का निषेध करना, यह एक
प्रकार से विरोध है । इस सम्बन्ध में विचार तथा भय-दृष्टि से
विरोध का परिहार । पृ०-१४९ ।

चक्षुर्दर्शन के योगों में से औदारिकमिश्रयोग का वर्णन किया है,
सो कितना यह सम्भव है ? इस विषय पर विचार । पृ०-१५४ ।

केवलिसमुद्घात सम्बन्धी अनेक विषयों का वर्णन उपनिषदों में
तथा गीता में जो आत्मा की व्यापकता का वर्णन है, उसका ज्ञान-दृष्टि
से मिलान और केवलिसमुद्घात-जैसी क्रिया का वर्णन अन्य किस दर्शन
में है ? इसकी सूचना । पृ०-१५५ ।

जैन वर्णन में तथा जैनेतर-वर्णन में कालका स्वरूप किस-किस प्रकार का माना है ? तथा उसका वास्तविक स्वरूप कैसा मानना चाहिये ? इसका प्रमाण पूर्वक विचार । पृ०—१३७ ।

एह लेश्या का सम्बन्ध चार गुणस्थान तक मानना चाहिये या एह गुणस्थान तक ? इस सम्बन्ध में जो पक्ष हैं, उनका आशय तथा शुभ भाग लेश्या के अशुभ ब्रह्मलेश्या और अशुभ ब्रह्म लेश्या के समय शुभ ज्ञानलेश्या, इस प्रकार लेश्याओं की विषमता किन जीवों में होती है ? इत्यादि विचार । पृ०—१७२- नोट ।

कर्मबन्ध के हेतुओं की भिन्न-भिन्न संख्या तथा उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष उद्घापोह । पृ०—१७४, नोट ।

आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक और आभिनिवेशिक-मिथ्यात्व का शास्त्रीय खुलासा । पृ०—१७६, नोट ।

तीर्थकरनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियों के बन्ध को कहीं कथाय-हेतुक कहा है और कहीं तीर्थकरनामकर्म के बन्ध को सम्यक्त्वहेतुक तथा आहारक-द्विक के बन्ध को संयम-हेतुक, सो किस अपेक्षा से ? इसका खुलासा पृ०—१८१, नोट ।

एह भाव और उनके भेदों का वर्णन अन्यत्र कहा-कहाँ मिलता है ? इसकी सूचना । पृ०—१८६, नोट ।

मति आदि अज्ञानी को कहीं क्षायोपशमिक और कहीं औदयिक कहा है, सो किस अपेक्षा से ? इसका खुलासा । पृ०—१८८, नोट ।

संख्या का विचार अन्यत्र कहा-कहाँ किस-किस प्रकार है ? इसका निर्देश । पृ०—२०८, नोट ।

गुणपद् तथा भिन्न-भिन्न समय में एक या अनेक जीवाश्चित पाये जाने वाले भाव और अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावों के उत्तर भेद । पृ०—२३१ ।

अनुवाद-गत पारिभाषिक शब्दों का कोष ।

अनुवादगत पारिभाषिकशब्दोंका कोष

शब्द ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति ।	शब्द ।	पृ० ।	पङ्क्ति ।
अ			उ ।		
अध्यापस्थिकयथाख्यात	६१	२०	उत्कृष्ट अनन्तानन्त	२२५	११
[अध्यवसाय]	२२३	१३	उत्कृष्ट असंख्याता—		
अनुभवसंज्ञा	३८	२	संख्यात	२२०	७
[अनुभाग]	२२३	१३	उत्कृष्ट परीक्षानन्त	२२०	१५
[अनुभागबन्धस्थान]	११	१६	उत्कृष्ट परीतासंख्यात	२१६	३
अन्तरकरण	१४०	४	उत्कृष्ट धुक्तानन्त	२२०	१६
[अन्तर्भूत]	२८	१	उत्कृष्ट धुक्तासंख्यात	२२०	३
[अपवर्तनाकरण]	६	२	उत्कृष्ट संख्यात	२१७	१६
[अवाधकाल]	६	१	उदयस्थान	२८	१
अभवस्थ-अवोगी	१६४	२५	उवीरणास्याम	२८	३
असत्कल्पना	२१०	१७	उपकरणेन्द्रिय	३७	१२
आ ।			उपशम	१३६	२७
[आदेश]	४	६	उपशमश्रेणिभावोऔ-		
आयोजिकाकरण	१५५	४	पशमिकसम्यक्त्व	६६	३
[आयंविज]	६०	१	ऊ ।		
आवर्जितकरण	१५५	६	[उर्ध्वतासाभान्य]	३	१४
[आवलिका]	३१	१	ऊर्ध्वप्रचय	१५८	२५
आवश्यककरण	१५५	७	ओ ।		
इ ।			[ओष]	४	१६
इत्वरसामायिक	५७	२३	ओषसंज्ञा	३६	१५

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

औ ।

औपपातिकशरीर ६२ १३
औपशमिक १३८ १
औपशमिकचारित्र १६७ १४

क ।

करण ४१ १०
करण-अपर्याप्त ४० ८
करणपर्याप्त ४१ १३
[कषायिक-परिणाम] २२३ १३
आयोपशम १३८ ४
आयोपशमिक १३८ १

ग ।

गन्धिभेदजन्य औपश-
मिकसम्प्रत्यय ६५ १३
गतिव्रत ८१ १०

घ ।

[घन] १२६ १
[घनीकृत लोक] ११८ ४

छ ।

छाद्यस्थिकयथाख्यात ६१ १५

ज ।

जघन्य अमभूतानन्त २२० १८
जघन्य असंख्यात—
संख्यात २२० १

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

जघन्य परीतामभूत २२० ७
जघन्य परीतासंख्यात २१८ ११
जघन्य युक्तानन्त २२० १३
जघन्ययुक्तासंख्यात्र २१८ १५
जघन्य संख्यात २०६ २४
[जाति भन्व] ६५ २
[जीवसमास] { ३ ५
 { ३ १५
ज्ञानसंज्ञा ३८ ५

त ।

तिर्यक्प्रत्यय १५८ २३
[तिर्यक्सामान्य] ३ १६

द ।

धीधंकालोपदेशिकी-
संज्ञा ३८ २२
दृष्टिवादीवपेशिकीसंज्ञा ३८ २६
द्रव्यप्राण ३ ४
द्रव्यभन १३५ १३
द्रव्यलेश्या ३३ ४
द्रव्यवचन १३५ १६
[द्रव्यवेद] ५३ १
[द्रव्यसम्यक्त्व] १७३ १६
द्रव्येन्द्रिय ३६ २०

शब्द । पृष्ठ । पंक्ति ।

न ।

[निगोदशरीर]	२२३	२८
निरतिचारद्वेदोपस्था-		
पनीयसंयम	५८	२१
[निर्जरा]	६	७
[निर्विभाग अंश]	२२२	२२
निर्विशमानकपरिहार-		
विशुद्धसंयम	६०	२०
निर्विष्टकायिकपरिहार		
विशुद्धसंयम	६०	२१
निर्वृत्ति-अपर्याप्ति	४१	२
निर्वृत्तीन्द्रिय	३६	२४
निश्चयमरण	८६	१७
नोकषाय	१७८	१७

न ।

पर्याप्ति	४१	२१
[पल्योपम]	२८	६
[पूर्व]	२६	४
पूर्वप्रतिपन्न	१६३	१३
[प्रतर]	११८	४
प्रतिपद्यमान	१६३	१२
[प्रत्येकशरीर]	२२३	२५
प्रथमोपशमसम्पत्त्व	६६	१

शब्द । पृष्ठ । पंक्ति ।

प्रवेशोदय १३७ १६

ब ।

[बन्धनकरण]	६	४
बन्धस्थान	२७	२४

भ ।

भवप्रत्यय	११४	१७
भवस्थ-अयोगी	१६४	२४
भाव	१६६	११
भावप्राण	३	५
भावलेख्या	३३	१८
[भाववेद]	५३	१
[भावसाम्यकत्व]	१३७	१७
भावेन्द्रिय	३६	२१

म ।

मध्यम अनन्तानन्त २२० २२

मध्यम असंख्याता

संख्यात	२२०	१०
मध्यम परीत्तानन्त	२२०	१५
मध्यम परीत्तासंख्यात	२१६	४
मध्यम युक्तानन्त	२२०	२०
मध्यमयुक्तासंख्यात	२२०	५
मध्यम संख्यात	२१७	२२

य ।

यावत्कथितसामायिक ५८ ६

शब्द । पृष्ठ । पंक्ति ।

र ।

[रज्जु] ११८ ४

ल ।

लब्धि-अपर्याप्त ४० ५

लब्धिप्रस ८१ १०

लब्धिपर्याप्त ४० १०

लब्धिप्रत्ययशरीर ६२ १५

लब्धीन्द्रिय ३७ १४

[लवससम देव] ७१ ११

लिङ्गशरीर ६४ ४

व ।

वक्रगति १४४ १५

[वर्ग] ११७ १

[वर्गमूल] ११८ ६

विग्रह १४३ १०

विषाकोवय १३७ १५

विशुद्ध्यमानसूक्ष्म-

संपरायसंयम ६१ ६

[विशेष] ४ ६

[विशेष बन्ध-हेतु] १८१ १४

[विशेषाधिक] १२२ ६

[विस्तार] ४ ६

[विस्वा] ६२ ३

वैभाविक ७ ५

व्यावहारिकमरण ८६ १५

शब्द ।

पृष्ठ । पंक्ति ।

श ।

शतपृथक्त्व १६३ १६

शरीर १३५ २१

स ।

सत्कल्पना २१० १५

सत्सास्थान २७ २५

[समय] २६ १

सरागसंयम ६४ २४

[सागरोपम] २८ ६

सातिचारद्वेवोपस्थाप-

नीयसंयम ५८ १८

[सामान्य] ४ १६

[सामान्य बन्ध-हेतु] १८१ १३

सूक्ष्मशरीर ६४ ४

[सूचिश्रेणि] ११८ ५

[संक्रम] ६ ८

[संक्रमणकरण] ६ ५

संक्लिश्यमानकसूक्ष्म-

संपरायसंयम ६१ ५

[संक्षेप] ४ १५

संज्ञा ३८ ३

[स्थितकल्पी] ५८ २

[स्थितास्थितकल्पी] ५८ ३

ह ।

हेतुवाचोपदेशिकीसाक्षा ३८ १८

चीथे कर्मग्रन्थ का कोष ।

कर्मग्रन्थ का नाम

अ

गाथाङ्क ।	प्राकृत ।	संस्कृत ।	हिन्दी ।
	७२—अओपर	अतःपर	इससे अगाड़ी ।
	४८—अंतदुग	अन्तद्विक	{ 'संयोगकेवली' और 'अयोग- केवली' नामके अन्तके दो-तेर- हवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान ।
	४७—अंताइम	अन्ताद्विम	अखीरका और शुरूका ।
	२३, २८—अंतिम	अन्तिम	अखीरका ।
	७३—अक्खा	अक्षया	नाम ।
	३६, ३८—अग्नि	अग्नि	अग्निकायिका'-नामक जीव-विशेष
१२, १६, २०, २५, } ३२, ४२ }	—अचक्षु	अचक्षु	['अधभुर्दर्शन'-नामक दर्शन- विशेष [६२-६]]
	४८—अछहास	अषट्हास	छह हास्यादि को खोड़कर ।

मा० ।

प्रा० ।

सं० ।

हि० ।

३, १२, १६, २०, २१, २३ } अजस्र
२६, ३०, ४२, ४६, ४८, ५६ }

४७, ५०, ५४, ५६, } —अजो(यो गिन्)
६२, ६३ }

८२—अजस्रवसाय

७-२, ८-३२, २, ३५, } —अट्ट (ड)
५६, ६०-२, ६१ २ }

६६—अट्टकम्म

६४—अट्टार

५५—अण

७३—अणवद्विध

१८, २३, २४, ३४, ४४—अणहार

१२—अणागार

५१—अणभिगहिय

अजस्र

अयोगिन्

अध्यवसाय

अट्ट

अट्टकर्म

अट्टादश

अन

अनवस्थित

अनाहार

अनाकार

अनाभिग्रहिक

{ 'अयत' -नामक चौथा गुणस्थान
{ तथा उत्तर मार्ग-विशेष । [६२-१]

चौदहवें गुणस्थानवाला जीव ।

परिणामों के दर्जे ।

आठ ।

आठ कर्म ।

अठारह ।

{ 'अनन्तानुबन्धी' -नामक कषाय-
{ विशेष ।

{ 'अनवस्थित' -नामक पत्य-वि-
{ शेष । [२११-४]

{ 'अनाहारक' -नामक उत्तर मार्ग-
{ णा विशेष ।

विशेषता-रहित । [६३-५]

{ 'अनाभिग्रहिक' -नामक मिथ्या-
{ त्व-विशेष । [१७६-६]

शा० ।	प्रा० ।	सं० ।	हि० ।
५१—अणभोग	अणभोग	{ 'अणभोग'-नामक मिथ्यात्व- विशेष । [१७७-२]	
८२—अणुभाग	अनुभाग	'अनुभाग' नामक बन्ध-विशेष ।	
३८, ४२, ४३-२, ४४-२, ६३, ७१, ७६, ८३, ८४ } —अणंत	अनन्त	'अनन्त'-नामक संख्या-विशेष ।	
३७, ३८, ३९-२, ४१-३, ४२ } —अणंतगुण	अनन्तगुण	अन्ततगुणा ।	
८४, ८६ -- अणंताणंत	अनन्तानन्त	{ 'अनन्तानन्त'-नामक संख्या- विशेष ।	
८१—अधम्मदेश	अधर्म-देश	'अधर्म'-नामक द्रव्यके प्रवेश ।	
६, ११, २६, ३०, ६६—अना (न्ता)ण	अज्ञान	मिथ्या ज्ञान ।	
२०, ३२—अनाणतिग	अज्ञान त्रिक	{ 'कुमति', 'कुधृति' और 'विभङ्ग'- नामक तीन अज्ञान ।	
६२—अनियट्ठि	अनिवृत्ति	{ 'अनिवृत्तिबावरसंपराय'-नामक नौवां गुणस्थान ।	
१०, ३८—अनिल	अनिल	{ 'वायुकायिक'-नामक ओष- विशेष । [५२-१६]	

मा० ।

प्रा० ।

सं० ।

हि० ।

२५२

६२—अनुवीरगु

४, ३५, ८०—अन्न

३३—अन्नाणमीस

२, ३, ४—अपजत्त

३, ४, ६, ७, १५—अपज्ज
१८-२, ४५

५७, ६१, ६३—अपमत्त

५६—अपमत्त

५७, ५६, ६२, ७०—अपुव्व

४६—अपुव्वपणग

अमुवीरक

अन्न

अज्ञानमिश्र

अपयत्ति

अपयत्ति

अप्रमत्त

अप्रमत्तान्त

अपूर्व

अपूर्वपञ्चक

‘उवीरणा’न करनेवाला जीव ।

और दूसरे ।

अज्ञान-मिश्रित ज्ञान ।

{ ‘अपयत्ति’-नामक जीव-विशेष ।
[११-२]

”

अप्रमत्त’-नामक सातवाँ गुणस्थान ।

{ ‘अप्रमत्त’-नामक सातवाँ गुणस्थान
तक ।

{ ‘अपूर्वकरण’-नामक आठवाँ गुण-
स्थान ।

{ ‘अपूर्वकरण’-नामक आठवें से
लेकर बारहवें तक पाँच
गुणस्थान

कर्मप्रश्न भगवत् चार

१—अप्यबहु	अल्पबहु	कम और ज्यादा: [७-४] ।
५६—अबन्धग	अबन्धक	बन्धन करनेवाला जीव-विशेष ।
७८, ८३—अभ्यास	अभ्यास	'अभ्यास'-नामक गणितका संकेत-विशेष [२१८-१८] ।
१६, २६, ३२—अभव(व्य)	अभव्य	सिद्ध न होनेवाला जीव-विशेष
४३—अभविधर	अभव्येतर	{ 'अभव्य' और 'भव्य' -नामक { जीव विशेष ।
८३—अभववजिय	अभव्यजीव	'अभव्य'-नामक जीव-विशेष ।
६६—अभव्यत्त	अभव्यत्व	'अभव्यत्व'-नामक मार्गणा विशेष ।
५१—अभिग्रहिय	आभिग्रहिक	{ 'आभिग्रहिक'-नामक मिथ्यात्व- { विशेष [१७६-४] ।
५१—अभितिवेशिय	आभितिवेशिक	{ 'आभितिवेशिक'-नामक मिथ्या- { त्व-विशेष [१७६-७] ।
८४—अलोगनह	अलोकनमस्	अलोकाकाश ।
८५—अलोभ	अलोभ	लोभको छोड़कर ।
५०—अलेसा	अलेख्य	लेख्य-रहित ।

गा० ।

प्रा० ।

सं० ।

हि० ।

२५६

११—अवहि

अवधि

{ 'अवधिज्ञान'-नामक ज्ञान-विशेष ।
[५६-११]

३७, ८३ - अवि

अपि

भो

५७—अविउव्वियाहार

अवेकियाहार

{ 'वेकिय' और 'आहारक'-नामक
काययोग विशेषको छोड़कर ।

५०, ५१, ५६, ५७—अविरइ

अविरति

पापों से विरक्त न होना ।

६३—अविरय

अविरत

चौथे गुणस्थानवाला जीव ।

२४—असच्चमोस

असत्यमृष

{ 'असत्यमृष'-नामक मन्त्र तथा
वचनयोग-विशेष [६१-३] ।

६६—असिद्धत्त

असिद्धत्व

{ 'असिद्धत्व'-नामक औद्यिक
भाव विशेष [१६६-१७] ।

२, ३, १५-२, २३, }
२७, ३२, ३६ } —अस(स्स)न्ति

असंजी

मनरहित जीव [१०-१६] ।

३८, ४०-२, ४२, }
४४, ६३, ७१, ८० } —असंख

असंख्य

'असंख्य'-नामक गणना-विशेष ।

८०—असंखासंख

असंख्यासंख्य

{ 'असंख्यासंख्य'-नामक गणना-
विशेष ।

कर्म, तथ आग चार

पा०	प्रा०	सं०	हि०
३७, ३६, ४२, ४४ — असंख्यगुण	असंख्यगुण	असंख्यगुण	असंख्यात गुणा ।
६६ — असंजम	असंजम	असंजम	'असंजम'-नामक औदयिक भाव विशेष ।
[२००-१]			
६८ — असंभविन्	असंभविन्	असंभविन्	न हो सकनेवाली बात ।
४५ — अह	अथ	अथ	प्रारम्भमें ।
१२, २०, २६, ३३ — अहखाय	यथाख्यात	यथाख्यात	'यथाख्यात'-नामक चरित विशेष ।
३७, ४१ — [६१-१२]			
४६ — अहियाय	अधिकृत	अधिकृत	अधिकार में आया हुआ ।
३८, २, ४०-६२ — अहिय	अधिक	अधिक	ज्यादा ।
	आ	आ	
१, २१-२, ६१, } — आड (ई)	आदि	आदि	प्रथम
६६, ७० }			
८१ — आहमा	आदिम	आदिम	प्राथमिक ।
४८ — आहमदुग	आदिमद्विक	आदिमद्विक	पहिले दो—पहिला और दूसरा गुणस्थान ।
६१ — आउ	आयुष्	आयुष्	'आयुष्'-नामक कर्म-विशेष ।
७८ — आधलिया	आधलिका	आधलिका	'आधलिका'-नामक कालका भाग विशेष ।

६०—आसुहुम

आसूक्ष्म

६. १६ २२ २४. } आहार (ग)
 ७५. ३१. ४६. ५३ } [५०-६, ६२-२५] आहार (-क)
 २६ ४६. ४७ } आहार (-ग)
 ५५. ५६ } दु (-ग)
 ४७—आहारमोस आहारकमिश्र

१४—आहारेयर
 [६८-१३]

आहारेतर

६—इन्द्रिय [४८-१]
 ८०—इक्कसि
 २२, ५७—इक्का (गा) र
 ७४—इक्किकक
 १०, १६, २७. }
 ३२, ५०. } --इग [५२-१]

इन्द्रिय
 सकृत्
 एकादश
 एकैक
 एक

'सूक्ष्मसंपण्य' नामक दसवें

गुणस्थान तक ।

'आहारक' नामक मार्गणा, शरीर तथा कर्म-विशेष ।

'आहारक' और 'आहारक मिश्र' नामक योग-विशेष ।

'आहारक मिश्र' नामक काययोग-विशेष ।

'आहारक' और 'अनाहारक' नामक दो मार्गणा विशेष ।

'इन्द्रिय' नामक मार्गणा-विशेष । एक बार ।

ग्यारह ।

एक-एक ।

एक तथा 'एकेन्द्रिय' नामक जीवजाति विशेष ।

५२—इगुण

एकगुण

पहिला गुणस्थान ।

५२—इगपञ्चम

एकप्रत्ययक

एक कारणसे होनेवाला अन्ध-
विशेष ।

६४—इगबीस

एकविंशति

इक्कीस ।

१८—इत्तो

इत

यहाँ से ।

११, २६, ३६—इत्थि [५३-१५]

स्त्री

'स्त्रीवेद' नामक वेद-विशेष ।

७२—

८१, ८४—

७८—

४—

$$\left\{ \begin{array}{l} \text{इम्} \\ \text{इम} \\ \text{अस्स} \\ \text{एसु} \end{array} \right.$$

इवम्

इमान्

अस्थ

एषु

यह

इनको

इसका

इनमें

२४, ५२, ६८—

७५, ८०, ८६—

४४, ४७, ६३—

२, ४६—

—इय

इति

समाप्त और इस प्रकार ।

इतर

अन्टा-प्रतिपक्षी ।

इह

यहाँ ।

उ

२६, ३६, ४६, ५२, }
५४, ६०, }—उ

तु

तो

शा०

प्रा०

सं०

हि०

६१—उद्धरति^१

उदीरयन्ति

उदित होते हैं ।

७१—उक्कस्स

उत्कृष्ट

सबसे बड़ा ।

५२—उत्तर

उत्तर

अवान्तर विशेष तथा 'औदयिक'-
नामक भाव विशेष ।

७.८.६०-२.६७-२, } उदय (इक)
 ६६, } — { ६-१.१६७-६,
 २०५-२ }

उदय

'उदय' नामक कर्मोंकी अवस्था-
विशेष ।

७.८.८८—उदीरणा [६-५]

उदीरणा

'उदीरणा'- नामक कर्मोंकी अव-
स्था विशेष ।

७५.७७—उद्धरिअ

उद्धरित

निकाल लेना ।

४.५.२४.२६, }
 ४६.४७, } —तरल [६३-८]

औदारिक

'औदारिक' नामक काय योग
विशेष ।

२६.२७.२८—उरलदुग

औदारिक द्विक

'औदारिक'-और 'औदारिकमिथ'-
नामक काययोग विशेष ।

४.२८.२९, } उरलमोस (मिस्स)
 ४६.५६, } — (-जोग)

औदारिकमिथ
(-योग)'औदारिकमिथयोग'-नामक काय
योग-विशेष ।

१.५.३०.३५.६५—उपओग [५-८]

उपयोग

'उपयोग'-नामक मार्गणा-विशेष

१—क्रियापद शब्द विभक्ति-सहित रखे गये हैं ।

भा०

प्रा०

सं०

हि०

५६, ७० — उपरिम

१३, २२, २६, ३४ } उपशम [६५-६,
४६, ६४, ६७, } १६६-२४, २०५-१]

६८ — उपसमसेहो

७० — उपसामग

५८, ६०, ६१, }
६२, ७०, } — उपसंत

२६-२, २७, ३१, ४६, — ऊण
५५, ७७, ७८, ८१,

८, ५६, ७०, ७१, ७५ — एग
८१ — एगजीववेस
७७ — एगरासी

२, १५, ३६, ३८, ४६, — ए(इ)गिदि
१०-११]

६६, ८५ — एव

७१, ७६ — एवं

उपरिम

उपशम

उपशम श्रेणी

उपसमसेहो

उपसामग

ऊ

ऊण

ए

एक

एकजीवदेश

एकराशि

एकेन्द्रिय

एव

एवम्

ऊपर का ।

उपशम-नामक सम्यक्त्व तथा भाव-विशेष ।

'उपशम श्रेणि'-नामक श्रेणि-विशेष । तीर्थों और इसका गुणस्थान ।

'उपशान्त मोह' नामक ग्यारहवां गुणस्थान ।

कम

एक ।

एक जीवके प्रदेश ।

एक समुदाय ।

एक इन्द्रियवाला जीव-विशेष ।

ही ।

इस प्रकार ।

ओ

७३—ओगाढ
१४, २१, २५—ओहिवृण

३४—ओहिदंस
१२, ४०, ४२—ओहो [६३-१]

२, ३५, ७६—कम

{ १४-२, २७, २८-२, }
२६, ४७, ५५, } —कम्म(-ण)
५६-२ }

{ ६, ११, १६, २५, }
३१, ५०, २०, ५७, } —कप्पाय [४६-१२]
५२, ६६ }

१३—काऊ [६४-६]
६, ३५, ३६—काय [४६-३]

अवगाढ
अवधिद्विक

अवधिदर्शन
अवधि
क

कम

कर्मण

कषाय

कापोत

काय

गह्वराई

‘अवधिज्ञान’ और ‘अवधिदर्शन’
नामक को उपमार्गणा-विशेष ।

‘अवधिदर्शन’-नामक दर्शन-विशेष ।
‘अवधिदर्शन’ तथा ‘अवधिज्ञान’ ।

नारी-बारी ।

‘कर्मणशरीर’-नामक योय तथा
शरीर विशेष ।

‘कषाय’-नामक मार्गणा-विशेष तथा
कषाय

‘कापोत’ नामक लक्ष्या-विशेष ।

‘काय’-नामक मार्ग तथा योग ।
विशेष ।

८५—काल

१३—किण्हा [६३-१६]

१—किम्

७६—किर

३६—कीध

काल

कृष्णा

किम्

किल

क्लीब

'काल'-नामक द्रव्य-विशेष ।

'कृष्णा'-नामक लेश्या-विशेष ।

कुछ ।

पादपूर्त्यर्थ ।

'तप्तसक्रवेद'-नामक उपमार्गणा-
विशेष ।'केवलज्ञान'-नामक ज्ञान विशेष—
तथा 'केवलदर्शन'-नामक दर्शन-
विशेष ।

११, ४२—केवल [५६-१६] केवल

६५—केवल जुगल

केवल युगल

६, १७, ११, २८,

३१, ३३, ३७, ४८,

८५

—केवलदु(-ग)

केवलद्विक

१२—केवलदर्शन [६३-३]

केवलदर्शन

४१, ६७—केवलिन्

केवलिन्

११—कोह [५५-२]

क्रोध

४०—कोहिन्

क्रोधिन्

'केवलदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
केवलज्ञानो-भगवान् ।'क्रोध' नामक कषाय विशेष ।
क्रोधवाला जीव ।

ख

१३—खड्ग [६६-१२]
 २२, ३३, ४४, ६७-२, } —ख(-इ)य [१६६-
 ६४, ६८] १६, २०२-२]

७५—खमण

८६—खिल

७५—खिप्पड़

७४—खिबिय

८१, ८४—खिवसु

५८, ६०, ६२२-१ }
 ७०, ७४, ७५, ७६ } —क्षीण

८१, ८४—खे(-कले)ब

६६—खंघ

क्षायिक

क्षायिक

अपण

क्षिप्त

क्षिप्यते

क्षित्वा

क्षिप

क्षीण

क्षेप

स्कन्ध

'क्षायिक'-नामक सम्यक्त्व विशेष ।

'क्षायिक'-नामक सम्यक्त्व तथा
'क्षायिक'-विशेष ।

छातना ।

छाना हुआ ।

छाला जाता है ।

छालकर ।

छालो ।

'क्षीणमोह'-नामक बारहवां गुण-
स्थान तथा नष्ट ।

'क्षेप'-नामक संख्या-विशेष ।

पुत्रगणों का समूह ।

ग

६, ६६—गह [४७-११]

१६—गहतस

गति

गतित्रस

गति'नामक मार्गणा-विशेष ।

'तेजःकाय' और 'वायुकाय'-नामक
स्थावर-विशेष ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३, १८, २३, ३५, ५२—गुण		गुण	गुणस्थान ।
५४, ५६—गुणचत्त		एकोनचत्वारिंशत्	उन्तालीस ।
१, ७०—गुणठा(ठ्ठ)ण(-ग)		गुणस्थान(-क)	गुणस्थान ।
[४७]			
७६—गुणण		गुणन	गुणा करता ।
७२, ७६, ८१—गुह(-अ)		गुह(क)	उत्कृष्ट ।
		च	
२३, ६६, ८४, ८५—च		च	और, फिर ।
२, ५, ७, १०, १५, १८, १९, २०-२, २१, २७, ३०, ३४- २, ३५-३, ३८, ५०, ५२, ६०, ६७-३, ७०-४, ७७, ७९-२	चऊ	चतुर	चार ।
६६—चउगइ		चतुर्गति	'मनुष्यगति', 'देवगति', 'तिर्य- ग्गति' और 'नरकगति'-नामक चार गतियाँ ।

मा०	प्रा०	सं०	हि०
	६६—चङ्घाडन्	चतुर्घातिन्	'ज्ञानवरण', 'दर्शनावरण', 'मोह- नोय' और 'अन्तराय'-नामक चार कर्म ।
	८०—चउत्थत्	चतुर्थक	चौथा ।
	२—चउदस	चतुर्दश	चौदह ।
	५२, ५३—चउपचउअ	चतुःप्रत्ययक	साठ कारणों से होनेवाला बन्ध- विशेष ।
	७२—चऊपल्लपरवणा	चतुष्पल्यप्ररूपणा	चार 'पल्यों' का वर्णन ।
	८, ३६, ६३, ७६—चऊर्	चतुर्	चार ।
	६, ३२—चतुरिदि	चतुरिन्द्रिय	चार इन्द्रियोंवाला जोव-विशेष ।
	५४, ५७—चऊवीस	चतुर्विंशति	चौबीस ।
	६-२, १२, १७, } २०, २८, ३४ }—चकुवु [६२-४]	चक्षुष	'चक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
	६४ ६५—चरण	चरित्र	'चारित्र' ।
	१६ १७, १८, २०, } २१, २२, २७ }—चरम	चरिम	अखीरका ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
	६०—चरिमदुग	चरिमद्विक	अन्तके दो (तेरहवों और चौदहवां गुणस्थान ।)
	७४—चिव	एव	हो ।
		छ	
४, ८-२, १७, १८, २३, २७, ३६, ३७, ४६, ६१, ५०-२, ६१	—छ (क, ग)	षट् (-क)	छह
१०—छक्काय [५१-१]	षट्काय	पाँच 'स्थावर' और एक 'त्रस', इस तरह छह काय ।	
५५—छधत्त	षट्चत्वारिंशत्	छयालीस ।	
५१—छजियवह [१७७-१०]	षड्जीववध.	पाँच 'स्थावर' और एक 'त्रस' इस तरह छह प्रकार के जीवों का वध ।	
७, २४—छलेस	षड्लेश्या	कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल'-नामक छह लेश्याएं ।	
५४-५६—छवीस	षड्विंशति	छब्बीस ।	
५४—छहिअचत्त	षडधिकचत्वारिंशत्	छयालीस ।	

गा०
१२, २१, २८, ४२—छेअ [५८-१२]

सं०
छेद

हि०
'छेदोपस्थानीय'-नामक संयम-
विशेष ।

२१७

ज

४८—जय
१०, ३८—जग [५२-१३]

यत्
लल

छठा गुणस्थान ।
'जलधाय'-नामक स्थावर जीव ।
विशेष ।

१०—जलण [५२-१६]

ज्वलन

अम्निकाय'-नामक स्थावर जीव-
विशेष ।

७१—जहन्न

जघन्य

सबसे छोटा ।

७२, ७६—जा

यावत्

अवतक ।

८४—जायइ

जायते

होता है ।

३५, ७०—जिअ (य)

जीव

जीव ।

१, २, ४५—जिअ(य)ठाण [३-१]

जीवस्थान

'जीवस्थान' ।

३०—जिअलक्षण

जीवलक्षण

जीव का लक्षण ।

८६—जिट्ट

ज्येष्ठ

बड़ा ।

१, ५३—जिण

जित

राज-द्वेष को जीतनेवाला ।

६६—जियत्त[२०० १४] जीवत्व

३, १५, २७, ६७, }
७८, ७९, ८० } —जुअ(य)

७१, ८३—जुत्त

७८ - जुत्तासंखिज्ज
[२१८-२५]

१, ६, २२, २४, ३१, }
३६, ४६, ५०, ५२, } —जोग (अ) (य)
५३, ५८, ६८ } [५-११, ४६-६]

८२—जोगच्छेय

६२ ६३—जोगिन्

७३—जोयणसहस

७२—जम्बूद्वीपप्रमाणय

३७—ठान

८२—ठिइबंध

जु

युक्त

युक्तासंख्यात

योग

योगच्छेय

योगिन्

योचनसहस्र

जम्बूद्वीपप्रमाणक

ठ

स्थान

स्थितिबन्ध

‘जीवत्व’-नामक पारिणामिक ।
भाव विशेष ।

सहित ।

सहित ।

‘युक्तासंख्यात’-नामक संख्या-
विशेष ।

‘योग’-नामक मार्गणा-विशेष ।

योग के निर्विभाग अंश ।

तेरहवें गुणस्थानवाला जीव ।

हजार योजन ।

‘जम्बू’-नामक द्वीपके बराबर ।

गुणस्थान या मार्गणास्थान ।

कम-अन्धकी काल-मर्यादा ।

मा०	प्रा०	सं	हि०
		त	
६५, ७६-२—तद्वय		तृतीय	तोसरा ।
७४, ७५, ८३—तस्मिन्		तस्मिन्	उसमें ।
८३—तस्स		तस्य	उसका ।
१८, २६, २७-२, } —तद् ते		ते	वे
२६, ४७, ४८, ७६ } —तद् ते		तः	उनके द्वारा ।
७६-२—तेहि (हि)		तत्	वह
५, ३३, ८०, ८१, } —तं		ततः	उससे
८४-२ } —तं		तदन्त	उसके आखिर में ।
६१, ७५—तओ			
७४—तदन्त			
१०, १६, २५, —तणु (-जोग)		तनु (-योग)	'काय-योग'-नामक योग-विशेष ।
[५३-४-१६४-१३,]			
४—तणुपञ्ज		तनुपर्याप्त	'पर्याप्त' शरीर ।
८४—तद्वय		तद्वय	उसका वर्ग ।
१०, १६, १६, २५, } —तस [५२-२०]		अस	'अस'-नामक जोग-विशेष
३१, ३८ }			

गा०	श्र०	सं०	हि०
७४, ८४—तह		तथा	उसो प्रकार ।
७४—ता		तावत्	तबतक ।
२, ७, १०, २१, ३०, } ३२, ३३, ३८, ४८, } ५२, ५७, ७०, ७७, } —ति (-ग) ७९, ३४, ३५, ३६, } ३८, ७० }		त्रि (-क)	तीन ।
३२, ३३, ४८, —त्रिअनाण		अज्ञान	'कुमति', 'कुश्रुत' और 'विमञ्ज'- नामक अज्ञान ।
८४—तिषखुत्तो		त्रिकृत्व	तीन बार ।
५५—तिचत्त		त्रिचत्वारिंशत्	तैंतालीस ।
५२, ५३—तिपच्चअ		त्रिप्रत्ययक	तीन कारणों से होनेवाला बन्ध- विशेष ।
१०, १७, ६४—तिय गइ)[५२-६]		त्रिक	तीन, तीन इन्द्रियोंवाला जीव- विशेष ।
५४—तियहिअचत्त		त्रिकाधिकचत्वा रिंशत्	तैंतालीस ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१०, १६, १६, २६/ ३०, ३७)	तिरि (-य) (गई) [५१-१७]	तिर्यञ्च (-गति)	'तिर्यंगति'-नामक गति-विशेष ।
८१, ८५—	तिवगिञ्चं	त्रिर्वागितुम्	तीन बार वग करने के लिये ।
८३—	तिवगिय	त्रिर्वागत	तीन बार वग किया हुआ ।
७१—	तिविह	त्रिविध	तीन प्रकार ।
७१—	तिहा	त्रिधा	तीन प्रकार ।
७२, ८०, ८६—	तु	तु	तो
६६, ७६—	तुरिय	तुरीय	चौथा ।
४१—	तुल	तुल्य	बराबर ।
५०—	तडतिग	तेजस्विक	'तेजः', 'पद्म' और 'शुक्ल' ये तीन लेश्याएँ ।
१३, १५—	तेऊ [६४-१२]	तेजः	'तेजः'-नामक लेश्या-विशेष ।
२६, ३५-२, ७, २२—	तेर (-स)	त्रयोदशन्	तेरह ।
११, ५०—	त्ति	इति	समाप्त तथा इस प्रकार ।
१५, २७, ३२—	यावर	य स्थावर	'स्थावर' नामक जीवों की जाति विशेष
१८—	यो	स्त्री	'स्त्री' वेद-नामक भार्गवा-विशेष ।

मा०	प्रा०	सं०	हि०
३७, ३८-२, ३९- २, ४०, ४१, ४२, ४३-३, ४४-२, ६३	थोव	स्तोक	थोडा
१६, ३६-दश		द	
६, १६, २०, ३१, ५४, ५८, ८१	दस	दक	'जलकाय'-नामक स्थावरजीव- विशेष ।
६५-वाणाहलद्धि		दश	दस
७४, ७७-दीप्दही		दानादिलब्धि	दान आवि पांच लब्धियां ।
६-२, ८, १५-२, १८, १९-२, २०, २१, २३-२, ३५-२, ३७, ३८, ४२, ४४, ४७, ६२-२, ६४, ८२, १६, ३२-कुअनाण	बु(-ग)	द्वीपोदधि	द्वीप और समुद्र ।
		द्वि	दो ।
		व्यज्ञान	'मत्प्रज्ञान' और 'अज्ञान' नामक दो अज्ञान ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
	५२—दुपञ्चअ	द्विप्रत्ययक	दो कारणों से होनेवाला बन्ध- विशेष ।
	३०—दुकेवल	द्विकेवल	'केवलज्ञान' और 'केवलदर्शन'- नामक उपयोग-विशेष ।
५४, ५७—दु(-ग)बीस		द्वाविंशति	बाईस ।
७२—दुन्चिचय		द्वावेव	दो ही ।
५६—दुमिस्स		द्विमिश्र	'औदारिकमिश्र' और 'वैक्लियामिश्र'- नामक योग-विशेष ।
४५—दुनिह		द्विविध	दो तरह से ।
३२, ४८—दुदंस(-ण)		द्विदर्श(न)	'अक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'- नामक दर्शन-विशेष ।
३७—देव		देव	देवगति ।
८६—देविदसूरि		देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि (इस ग्रन्थ के कर्त्ता) ।
१२, १७, २२, २६, ३३, ४२, ४६, ४८, ५६, ६३	—देस(-जय) [६१-२३]	देश	देशविरति' नामक पाँचवाँ गुण- स्थान ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
	४२—नयण	नयन	'चक्षुर्दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष ।
२१, ३५, ४३-२, ६२—दो		द्वि	दो ।
६, ६, ३०, ३४, ४८-२—दस(-ण) [४६-२०]		दर्शन	'दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष ।
३२—दसणवुन		'दर्शनद्विक	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
३३, ४८—दस(-ण)तिग		दर्शनत्रिक	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन' और 'अवधिदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
		घ	
८१—धम्मवेस		धम्मवेश	'धर्म'-नामक द्रव्यके प्रदेश ।
६६—धम्म		धर्मादि	'धर्म'-नामक अजीव द्रव्य-विशेष ।
		न	
४७, ४६-२, ५४, ८४—न		न	नहीं ।
११, १६, २५—नपु (पुं) (-स)		नपुंसक	नपुंसक ।
[५३-१६]			
नमिय		नत्वा	नमस्कार करके ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
	३१—नयणेयर	नयनेतर	‘अक्षुर्दर्शन’ और ‘अवक्षुर्दर्शन’- नामक उपयोग-विशेष ।
११, १५, १८, १९, } २५, ३१, ३७, ६८ }	—नर[५३-१५]	नर	‘पुरुषवेद’ और ‘मनुष्यगति’- नामक भार्गवा-विशेष तथा मनुष्य ।
१०, २५—नरगद्वि[५१-१५]		नरगति	‘मनुष्यगति’-नामक उपभार्गवा- विशेष ।
१४, १६, २६—नरय		नरक	‘नरकगति’ नामक उपभार्गवा- विशेष ।
२०, २१, २६, ३०, } ३३, ५२, ५४-२, } ६४ }	—नव	नव	नौ ।
६, ३०, ३४, } २, ४६ }	—नाण[४६-१६]	ज्ञान	ज्ञान और सम्यग्ज्ञान ,
३३-४८—नाणतिग		ज्ञानयिक	‘सतिज्ञान’, ‘क्षुतज्ञान’ और ‘अववि- ज्ञान’-नामक तीन ज्ञान-विशेष ।
८५—निगोयजीव		निगोदजीव	‘निगोद’-नामक जीव-विशेष ।
७४—निद्रिय		निष्ठित	पूरा हो जाना ।

भा०	मा०	सं०	वि०
	३३—निबलुग	मिजल्लिक	जपने हो ।
	७१—निबपयकुय	निजपयकुय	अपने पदसं कुक ।
१०, ३०, ३६, ३७—	नि(ना)रय(-गइ)	निरयगति	'नरकगति'-नामक गति-विशेष ।
	[५१-१८]		
	१३—नीळा [६४-१]	नीळा	'नीळा'-नामक केश्या-विशेष ।
		प	
	७९—पच्छा	पञ्चात्	फिर ।
	४३—पञ्चापुपुम्भि	पञ्चानुपूर्वी	पीछेके क्रमसे ।
२, ३, ५-९, ६, ८, {	पञ्च(अ)(-त्त)	पर्याप्त	'पर्याप्त'-नामक जीव-विशेष ।
१७-२, ४५ {	[११-३]		
	१७—पक्षियर	पर्याप्तेश्वर	'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त'-नामक जीव-विशेष ।
	७३—पहिसळागा	प्रतिषळाका	'प्रतिषळाका'-नामक पद्व-विशेष ।
	[२१२-१६]		
३, ७, १५, २०, {	पडम	प्रथम	पहिला ।
२३-२, २८, ३६, {			
७४-२, ७६, ७७, {			
७९ {			

ना०

पा०

सं०

दि०

१६, २३—पदमतिकेसा

प्रथमत्रिकेइया

पहिली तीन (कृष्ण, नील और
कापोत) केइयाएँ ।

६४—पदमभाव

प्रथमभाव

पहिला (औपशमिक) भाव ।

१७, १९, ३०, ३१,
३५, ३८, ४५, ५१,
५२, ६१, ६२, ६५-
२, ६८, ७० } —पण

पञ्च

पाँच ।

५३—पणतीस

पञ्चात्रिंशत्

पैंतीस ।

५४, ५५—पणपञ्च

पञ्चपञ्चाशत्

पचपन ।

१०, १८, १९, २५, ३१—पणित्वे [५२-१०]

पञ्चेन्द्रिय

पाँच इन्द्रियोंवाला जीव ।

८२—पक्षेयनिगोयश्च

प्रस्थेकनिगोयक

'प्रस्थेकनिसोद'-नामक जीव-विशेष ।

५२, ६८—पनर

पञ्चदश

पन्द्रह ।

५४—पक्ष

पञ्चाशत्

पचास ।

४७, ५६—पमत्त

प्रमत्त

'प्रमत्त'-नामक छठा गुणस्थान ।

६१—पमत्तंत

प्रमत्तान्त

'प्रमत्त'-नामक छठे गुणस्थान तक ।

८३—पमाण

प्रमाण

प्रमाण ।

१३, १४—पम्हा [६४-१७]

पक्षा

'पक्षा'-नामक केइया-विशेष ।

गा०

मा०

सं०

दि०

कर्मव्यास भाग्य पार

७७—परमसंख्यज

[२१७-१६]

६४, ६६, ६७-२, ६८—परिणाम [१९७-३,
२०५-३]

७१, ८३—परित्तणंत

७१, ७८—परित्तासंख्य

[२१८-११]

१२, २१, २९, ४१—परिहार [५९-७]

८२—पक्षिभाग

७२, ७७-२—पक्ष

२७, ३६—पक्षज

६९—पारिणामियभाव

४९, ७१, ७५—पि

८५—पुगल

५७, ७४, ८३, ८४, ८५—पुज

परमसंख्येय

परिणाम

परित्तानन्त

परित्तासंख्याय

परिहार

परिभाग

पक्ष

पक्षज

पारिणामिकभाव

अपि

पुगल

पुनः

'उत्कृष्टसंख्यात'-नामक संख्या-
विशेष ।

'पारिणामिक'-नामक भाव-विशेष ।

'परित्तानन्त'-नामक संख्या-विशेष ।

'परित्तासंख्य'-नामक संख्या-विशेष ।

'परिहारविशुद्ध'-नामक संवम-
विशेष ।

निर्विभागी अंश ।

'पक्ष'-नामक प्रमाण-विशेष ।

'प्रायुकाय'-नामक जीव-विशेष ।

'पारिणामिक'-नामक भाव-विशेष ।

मी ।

'पुगल'-नामक इव्य-विशेष ।

फिर ।

मा०

मा०

सं०

दि०

॥ ५

मा०

मा०

सं०

दि०

॥

७४—पुन

पूर्ण

पूरा ।

३९—पुरिस

पुरुष

'पुरुषवेद'-नामक उपमार्गजा-विशेष

७५—पुमि

पूर्व

पहिला ।

५८—पुष्पुत

पूर्वोक्त

पहिले कहा हुआ ।

८, २७, ६१—पंच

पञ्च

पाँच ।

७९—पंचम

पञ्चम

पाँचवाँ ।

२—पंचिदि [१०-१७]

पञ्चेन्द्रिय

पाँच इन्द्रियोंवाला जीव ।

फ

७६—फुट

फुट

स्पष्ट ।

ब

२, ३, ९, ७, १५, } --वायर [१०-३]
५८, ५९ }

बाहर

स्थूल और 'अनिवृत्तिबाहर'-नामक
नौवाँ गुणस्थान ।५, १५, २०, ३०, } --वार(-स)
३५, ५१ }

बाह्य

बारह ।

२, १०, ३२, ७९—वि(-य)

द्वि, द्वितीय

दो (द्विन्द्रिय जीव) और दूसरा ।

गा०

मा०

सं०

दि०

५६—विकलाय

द्वितीयकथाय

‘अप्रत्याख्यानावरण’-नामक क-
थाय-विशेष ।

६५, ७५, ७६—जीय(०-य)
१, १८, ५०, ७२, ...-सं५ [५-१६]

द्वितीय

दूसरा ।

वर्ण

कर्मवन्द ।

५९—वैचित्र्य

वर्णादि

कौचता है ।

अ

७६—भरसु

भर

भरो ।

७४—भरिय

भरित

भरा हुआ ।

९, २५, ७४—भव(व्य)
[४९-२४]

भव्य

‘भव्य’-नामक जीर्णोका वर्ग-विशेष ।

१३, १६—भवि(विश्व)भर
[६५-४]

भव्येतर

‘भव्य’ और ‘अभव्य’-नामक जीर्णो-
का वर्ग-विशेष ।

१, ७०—भाष [७-५]

भाष

जीर्णोका परिणाम ।

५—भाष

भाषा

‘असत्यामृत’-नामक वचन-योग-
विशेष ।

मा०	मा०	सं०	दि०
१०, १९, ३६, ३८—भू [५२-१४]		भू	पृथ्वीकाम ।
१४, ६४, ६८—भेद		भेद	प्रकार ।
		म	
११, १४, २१, १—मइ(-नाण)		मति (-ज्ञान)	'मति'-नामक ज्ञान-विशेष ।
२५, ४० । — [५३-३]			
४१—मइजज्ञाण		मत्स्यज्ञान	'मत्स्यज्ञान'-नामक ज्ञान-विशेष ।
१—मगगणठाण [४-३]		मार्गजास्थान	'मार्गजास्थान' ।
२३—मगगणा		मार्गजा	'मार्गजास्थान' ।
७१, ७९, ८०, ८६—मभ्य		मभ्य	मभ्यम ।
७२—मभ्यम		मभ्यम	मभ्यम ।
१०, १७, २४, २८—			
२, २९, ३५, ३९, } —मण(-जोग) [५२-		मनः(-योग)	'मनोयोग'-नामक योग-विशेष ।
४६, ४७ } २४, ५६-१४, १३४-६]			
५१—मणकरणानिधम		मनःकरणानिधम	'मन' और 'इन्द्रियो'को भर्यादाके अन्दर न रखना ।
[१७७-८]			
११, ६, १७, २१, } —मणनाण		मनोज्ञान	'मनःपर्यय'-नामक ज्ञान-विशेष ।
२८, ३०, ४८, ३४ }			

मा०

मा०

सं०

हि०

४०—मणनाणिन्

११, ४९—मय [५५-३]

७३—महासलागा

[२१२-२०]

४०—माइन्

४०—माणिन्

११—माय [५६-१]

३, १६, १६, २६, }
४४, ४५, ५०, ५१, } -- मिच्छ [६७-११]
५५-२, ६३, ६६ }

५३—मिच्छाविरश्चद्वज

१२, ४४—मिच्छदुग

३२—मिच्छसिग

मनोज्ञानिन्

मद, मत

महासलाका

मायिन्

मानिन्

माया

मिथ्यात्व

मिथ्यात्वाविरति-
प्रत्ययक

मिथ्यात्वद्विक

मिथ्यात्वत्रिक

'मनःपर्यवधान'वाक्ये जीव ।

'मानकवाच्य' और मानो हुई बात ।

'महासलाका'-नामक पस्थ-विशेष ।

मायाकवाच्यवाक्ये जीव ।

मानकवाच्यवाक्ये जीव ।

'मायाकवाच्य' ।

'मिथ्यात्व' नामक पहिला गुणस्थान

'मिथ्यात्व' और 'अविरति'से
उत्पन्न होनेवाला बन्ध-विशेष ।

'मिथ्यात्व' और 'सास्वादन'-नामक
पहिला और दूसरा गुणस्थान ।

'मिथ्यात्व' 'सास्वादन' और 'मि-
द्वि'-नामक तीन गुणस्थान ।

मा०	मा०	सं०	हि०
	५३ मिच्छापञ्चइव	मिच्छास्वप्नत्वयक	'मिच्छास्व'-से होनेवाला स्वप्न-विशेष ।
	५५, ५७—मिस्स(मीस)दुग	मिश्राद्विक	'कौषाद्विकमिश्र' और 'वैद्विकमिश्र' नामक योग-विशेष ।
१३, १७, २४-२, २९, ३३, ४४, ४६, ४८-२, ५५, ५९, ६१, ६३, ६४, ६७, ६९	मीस(ग) [६७-८, ९०-२०, ९१-२२, — ९३-१, ९९७-४, ९०५-२]	मिम(-क)	तीसरा गुणस्थान, योग-विशेष, अज्ञान, सम्भक्त्य-विशेष और भाव-विशेष ।
	५६—मुत्तु	मुक्त्वा	छोड़कर ।
	६०, ६९—मोह	मोह	'मोहनीय'-नामक कर्म-विशेष ।
		य	
९, १०, १३, २२, ३४, ७५, ७६, ७७, ८२	—य	य	और ।
		र	
	५७—रक्षि	रक्षि	रक्षित ।

मा०	मा०	सं०	हि०
७८, ८३—राशि		राशि	समूह ।
७७, ७८, ७९-२, } ८०, ८१ } —रुख(प)		रुख	एक ।
	[२१८-१५]		
क			
६५--कड़ी		कनिध	पाँच कनिधियाँ ।
७८-२, ८०, ८३- } २, ८४ } —कहु		कधु	अधन्य ।
७२--कहुसंक्षिप्त		कधुसंक्षेप	'अधन्य संक्षेप' नामक संख्या-
	[२०९-२४]		विक्षेप ।
८६--किहिन		किलित	लिखा ।
१, ९, ३१, ३६, } ४३, ६६ } —केसा		केखा	कह केखाई ।
	[५-१३, ४५-२२]		
८१--लोमागासपदस		लोकाकासप्रदेश	लोक-आकाशके प्रदेश ।
११, २०--लोम		लोम	'लोमकपाय' ।
	[५६-२]		
४०--लोभिन्		लोभिन्	लोमकपायवाले जीव ।

गा०	मा०	सं०	हि०
१७, ६७, ७४, ७५—व(वा)		वा, इव	अथवा और जैसे ।
२४, २७, २८-२, } २५, ४६ } —वइ		वचम्	वचन ।
८४—वचसु		वर्गवस्व	वर्ग करो ।
८०—वर्गिय		वर्गिव	वर्ग किया हुआ ।
३४, ५३, ५७—वज		वर्ज	छोड़कर ।
१०, १५, ३६, ३८—वज [५२-१७]		वन	वनस्पतिकाय ।
८५—वजस्व		वनस्पति	वनस्पतिकाय ।
१०, १७, ३५, ३९, ४०—वज [५३-२, १३४-१०]		वचन	शब्द ।
८६—वजहरइ		व्यवहरति	कहा जाता है ।
१६, ६०, ६९, ७७, ८४—वि		अपि	ही और भी ।
२९, ४६, ४९—विउठव(-ग)		वैक्रिय(-क)	'वैक्रिय'-नामक शरीर तथा योग-विशेष ।
५, २७-२, २९, ४६—विउठव(व)दुग		वैक्रियवदिक	'वैक्रिय' और 'वैक्रियभिन्न'-नामक योग-विशेष है

गा०	भा०	सं०	हि०
	४, ४४—विश्वम्भ(व)मीस [१२-१८]	वैक्रियमिथ	'वैक्रियमिथ'-नामक योग-विशेष ।
	२४—विश्वम्भ	वैक्रिय	'वैक्रिय'-नामक योग विशेष ।
३, १५, १९, २७, ३६—विगल		विगल	दो, तीन और चार इन्द्रियवाले जीव ।
६, १८, ५५, ५८, ६१—विना		विना	सिवाय ।
२८, ३०, ३३, ४७, } ५३, ५५, ६० } —विणु		विना	सिवाय ।
१४, ४०—विभं(वभं)ग		विभङ्ग	मिथ्या अवधिज्ञान ।
३५—विरहदुग		विरतिद्विक	'वैशाविरति' और 'सर्वविरति'- नामक पाँचवें और छठे गुणस्थान ।
६—विदुण		विहीन	रहित ।
६८—वीस		विस्तारि	वीस ।
१, १८—वुच्छं		वक्ष्ये	कहूँगा ।
१, ११, २०, ३१, } ६१, ६३ } —वेज(य) [४९ १०]		वेद	'वेद'-नामक मार्गणा-विशेष ।
७३—वेजसं		वेजसं	

मा०	पा०	सं०	दि०
१३, २२, ३४, ४४--वेयग [६६-१०]		वेदक	अथोपसमसम्यग्दृष्टि जीव ।
५८--वेयति		वेयति	जीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।
		स	
२१, ४५, ५८, ६१--सग		सग	साज ।
५२--सगवज		सप्तपञ्चाशत्	सत्पावन ।
७९--सगासंख		सप्तमासंख्यं	सातवौ असंख्यात ।
२४--सजेयर [९०-१४, १७, ९१-१६, १९]		सत्येतर	सत्य और असत्य ।
२२, ३६--सठाज		स्वस्थान	अथमा-अपना गुणस्थान ।
७, ८-३, २३, ५४, ५९-२, ६०-२, ७९ } --सप्त		सप्तम्	सात ।
२, ३-१, ४, ५, ६, ८, ९, १४, १७, १८, १९, २५, ३१, ४५-२ } --सप्ति [१०-१९, ५०-४]		संक्षिप्त	मनवाका प्राणी ।
७, १४, ४५--सप्तितुग		संक्षिप्तिक	पर्याप्त और अपर्याप्तसंज्ञी ।

गा०	भा०	सं०	हि०
१३, ४५—सन्निवर [६७-१६]		संज्ञीवर	मनवाला और बे-मन प्राणी ।
६४, ६८—सन्निवाह्य [१९७-५]		सन्निपातिक	'सन्निपातिक'-नामक एक भाव-विशेष ।
४०, ६२, ६९, ८२—सम		सम	बराबर ।
२४, २८, ४२—समइ(ई)य		सामायिक	'सामायिक'-नामक संयम-विशेष ।
८२—समय		समय	कालका निर्विभागी अंश ।
७८—समयपरिमाण		समयपरिमाण	समयोंकी मिकदर ।
९, ४५, ६४, ६५-२, ७०—सम्भ [४९-२५]		सम्यग्	'सम्यग्दर्शन' ।
१४—सम्भत्तविग		सम्यक्त्वत्रिक	'औपक्षमिक', 'क्षायिक' और 'क्षायोपक्षमिक'-नामक तीन सम्यक्त्व विशेष ।
२५—सम्भदुग		सम्यक्त्वद्विक	'क्षायिक' और 'क्षायोपक्षमिक' ।
४७, ५८—सयो(जो)गि		सयोगिन्	'सयोगी'-नामक तेरहवों गुणस्थान ।
७४, ७५, ७७—सरिसव		सर्वप	सरसों ।
७३, ७५, ७६—सलाग [२१२-१२]		सलाका	'सलाका'-नामक पत्त-विशेष ।
७५—सलागपल्ल		सलाकापल्ल	सलाकापल्ल ।

गा०	मा०	सं०	दि०
३, ५, १६, १९, २५, ४५, ५०, ७१, ७७, ८५	} -- सञ्च	सञ्च	सञ्च ।
७३--ससिहभरिय		ससिहभृत	सिखा--ऊपर तक भरा हुआ ।
११--सागार [५७-८]	साकार	आकारवाले-विशेष उपयोग ।	
१२--सामाहय [५७-२०]	सामायिक	'सामायिक'-नामक संयम-विशेष ।	
५१--साय	सात	सातवेदनीय कर्म ।	
१३, १८, २६, ४३, ४५, ४९, ५५, ६३	} -- सासा(स)ण [६७-१]	सासादन	'सासादन'-नामक दूसरा गुणस्थान ।
४९--सासणभाव		सासादनभाव	'सासादन'की अवस्था ।
६८, ८५--सिद्ध	सिद्ध	मुक्त जीव ।	
११-२, १४, २१, २५, ४०, ४९	} -- सुख(व) [५६-६]	श्रुत	शास्त्र ।
१३, १४, २२, ३१, ३७, ५०		} -- सुखा [६४-२५]	शुका
८०--सुत्त	सुत्रोक		सूत्रोंमें कहा हुआ ।

४१--सुयश्मज्ज

श्रुताज्ञान

'श्रुताज्ञान'-नामक मिथ्याज्ञान-विशेष ।

१०, १४, १८, २६, ३०--सुरगति

सुरगति

देवगति ।

२, ५, १२, १८, २२, }
३९, ४७, ४९, ५८, } --सुहृम [९-१८,
५९, ६१, ६२ } ६०-२३]

सूक्ष्म

'सूक्ष्म'-नामक धनस्पतिकार्यके आश-विशेष ।

८६--सुहृमत्प्रविचार

सूक्ष्माश्रयविचार

'सूक्ष्माश्रयविचार' अपर-नामक यह मन्थ ।

३, ७, ३७, ४५, ५३, }
६२, ६९, ७० } --संज्ञ

शेष

बाकी ।

५२, ५३, ५४, ५८--सोल(-स)

षोडश

सोलह ।

४१, ४२, ४३-२, ४४--संख

संख्य

संख्यातगुणा ।

३९, ४१, ६२, ६३--संख्यगुण

संख्यगुण

संख्यातगुणा ।

१, ५१--संखिज्ज

संख्येय

संख्या ।

९, ३४--संजम [४९-१८]

संयम

'संयम' ।

५८--संजलणति

संज्वलनप्रिक

संज्वलन क्रोध, मान और माया ।

गा०

प्रा०

सं०

हि०

७, ८, ६०—संत [६८]

६०—संतुष्ट

५१—संसद् [१७६-५]

सत्ता

सत्ताद्वय

सांक्षयिक

'सत्ता' ।

'सत्ता' और 'उद्दय' ।

'सांक्षयिक'-नामक मिथ्यात्व-
विशेष ।

८६--हंइ

५०, ५४--हेतु

८०, ८४--होइ

भवति

हेतु

भवति

होता है ।

सबब ।

होता है ।

* समाप्त *

२३